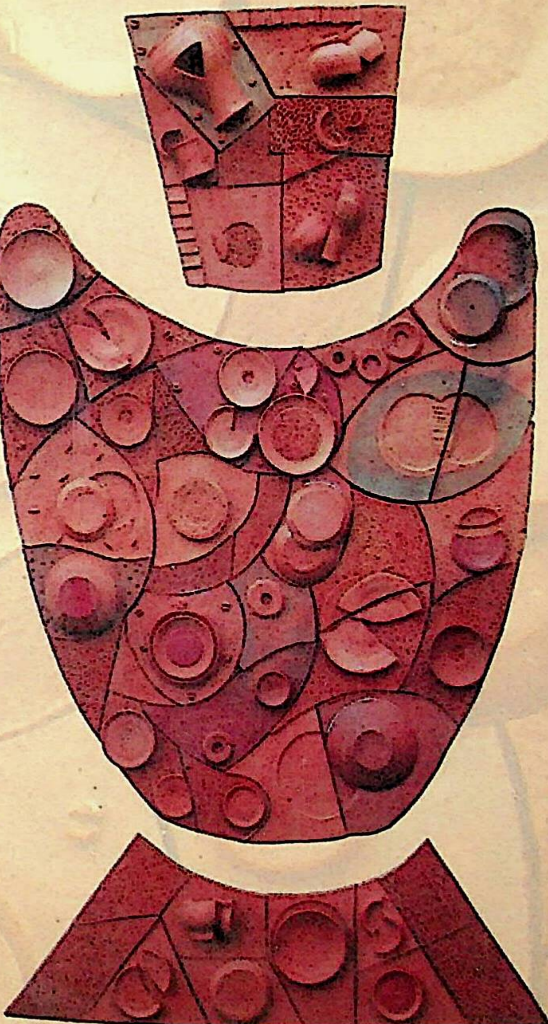
समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

मई-जून, 2007

131

मूल्य 25 रुपए





कमलेश्वर-प्रसंग :

धनंजय वर्मा, डॉ. हरदयाल

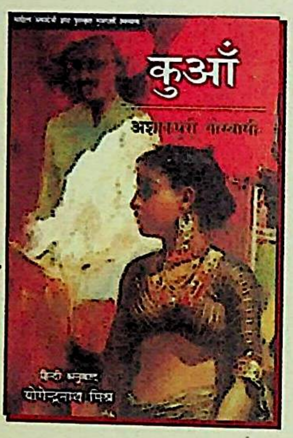
पद्मा सचदेव

विशेष

पंजाबी कहानी

प्रकाशन का 27वाँ वर्ष

साहित्य अकादेमी के नए प्रकाशन



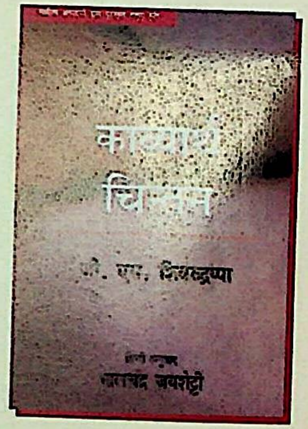
कुआँ (पुरस्कृत, गुजराती 'कूवो') अशोकपुरी गोस्वामी
अनुवाद : योगेन्द्रनाथ मिश्र

मूल्य 150 रुपए

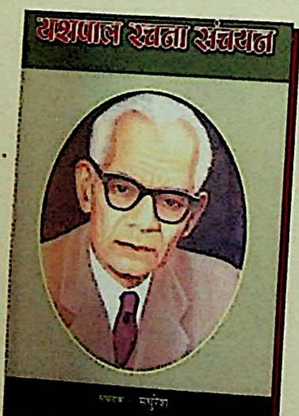
प्रस्तुत कृति साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत गुजराती उपन्यास कूवो का हिंदी अनुवाद है। यह गुजराती की क्षेत्रीय बोली चरोतरी में लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस उपन्यास में 'कुआँ' गाँव के एक साधारण परिवार के व्यक्तिगत अधिकारों के लिए संघर्ष का प्रतीक ही नहीं, बल्कि उनका सामाजिक सरोकार भी है—सत्य के लिए किया जानेवाला अनिवार्य और प्रासंगिक संघर्ष। इसके सहज गार्हस्थ्य प्रेम की उदार चेतना है, जो सुख-दुख के आरोह-अवरोहों के बीच जीवन-राग शनैः-शनैः सम पर ले जाती है।

काव्यार्थ चिन्तन (पुरस्कृत, कन्नड) जी.एस. शिवरुद्रप्पा
अनुवाद : भालचंद्र जयशेट्टी

मूल्य 125 रुपए



प्रस्तुत पुस्तक में लेखक का ध्येय कुछ काव्य-तत्त्वों तथा उनकी परिकल्पना एवं अन्य विषयों से तुलनात्मक विवेचन रहा है। इस क्रम में जिन विचारों का समर्थ विवेचन पहले ही हो चुका है, उनकी पुनरावृत्ति न कर विषय प्रतिपादन के लिए उनका सहारा मात्र लिया गया है। यह कृति आलोचना के साहित्यिक और सैद्धांतिक मूल्यों पर बहस करते हुए कला के आधारभूत प्रश्नों को भी उठाती है।



यशपाल रचना संचयन, चयन एवं संपादन : मधुरेश

मूल्य 150 रुपए

यशपाल के लेखन की प्रमुख विधा उपन्यास है, लेकिन अपने लेखन की शुरुआत उन्होंने कहानियों से ही की। उनकी कहानियाँ अपने समय की राजनीति से उस रूप में आक्रांत नहीं हैं, जैसे उनके उपन्यास। नई कहानी के दौर में स्त्री के देह और मन के कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध एक संपूर्ण स्त्री की जिस छवि पर ज़ोर दिया गया, उसकी वास्तविक शुरुआत यशपाल से ही होती है।

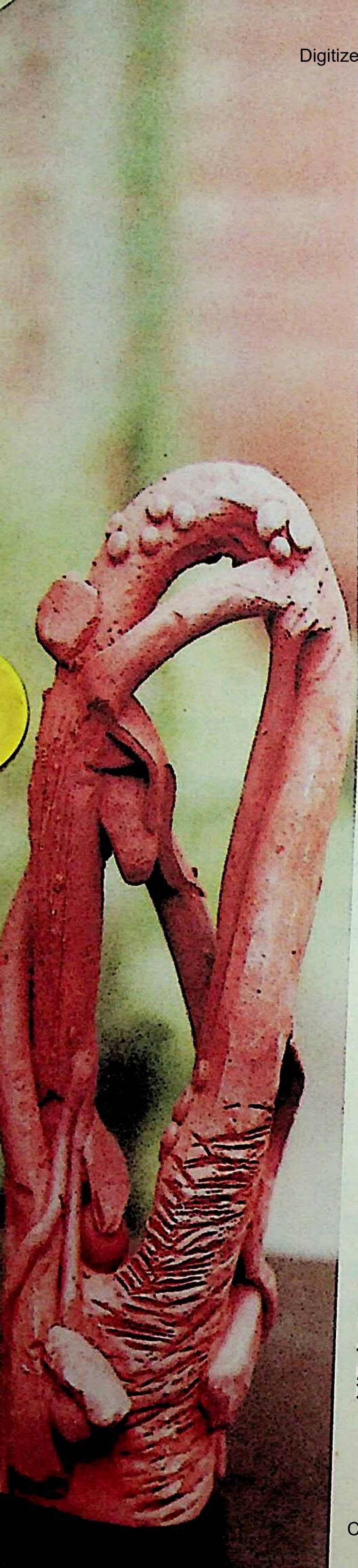
समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 27 अंक 131 : मई–जून 2007

संपादक

अरुण प्रकाश



उप-संपादक : मधुमालती जैन

आवरण चित्र एवं रेखांकन : सुदीप्ता अद्या का जन्म 1981 में हुआ। मूर्तिकला एवं चित्रकला में रुचि। दिल्ली में रहती हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 44 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 27 अंक 131 : मई-जून 2007

संपादकीय कार्यालय :
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255
तार : साहित्यकार; फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.gov.in

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

मूल्य : 25 रुपए

शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :

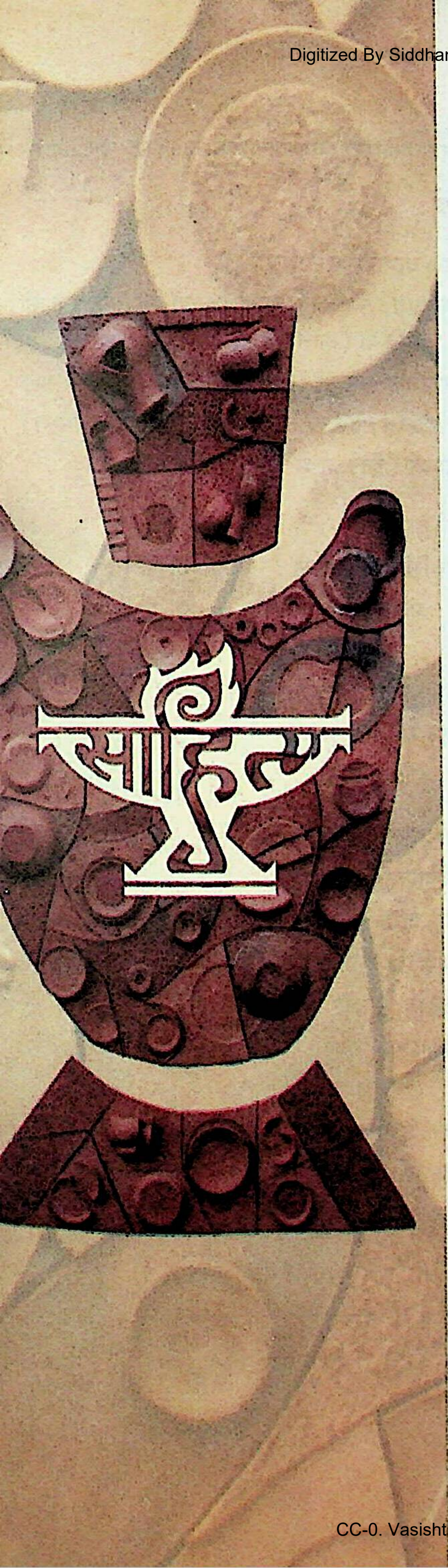
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम पर भेजें :
(मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट, नक़द, चैक (दिल्ली से बाहर के ग्राहक चैक से शुल्क 25 रुपए अतिरिक्त भेजें।))

वितरण : उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
फ़ोन : 011-23364207, 23745297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India



समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका



समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 131 (मई–जून 2007)





आमुख

आकाशवाणी के शुरुआती दौर में प्रख्यात हिंदी साहित्यकार अज्ञेय वहाँ काम करते थे। उन दिनों हिंदी की समाचार एजेंसी प्रारंभिक अवस्था में थी। लिहाज़ा अंग्रेज़ी एजेंसी से मिली ख़बरों का हिंदी में अनुवाद किया जाता था। हिंदी के साथ पारिभाषिक शब्दावली की भी समस्या थी।

रेडियो जैसे जन-माध्यम में अभिव्यक्ति सरल रखने, देशज रखने पर बल होता है क्योंकि श्रोता यदि किसी शब्द के अर्थ के बारे में सोचने लग गया तो इस बीच दो-तीन समाचार आगे निकल जाएँगे। इसके लिए समाचार डेस्क पर रोज़ नए-नए शब्द गढ़े जाने लगे। अज्ञेय ने एक रजिस्टर रखवा दिया जिसमें गढ़े गए शब्द अंग्रेज़ी पर्याय के साथ लिख दिया जाता था। यह परंपरा वर्षों चलती रही। फिर इसी रजिस्टर को संपादित कर *ए.आई.आर. लेक्सिकों* के नाम से पुस्तक का प्रकाशन भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने किया। काफ़ी समय तक यह अनुपलब्ध रही। तीन साल पहले पता चला कि 'संशोधन में है'। पता नहीं छपी या नहीं!

साहित्य से पहले भाषा है। भाषा की समृद्धि नहीं तो साहित्य कैसे समृद्ध होगा?

जब व्यवहार करने वाले कोश बनाएँ तो उसकी सफलता स्वयंसिद्ध ही नहीं, पूर्वसिद्ध भी होती है। *ए.आई.आर. लेक्सिकों* ऐसा ही कोश था जो भाषा के अर्थ-व्यवहार, मंजाव व प्रयोग से निकला था।

अनुवाद की समस्या से लंबे अरसे तक जूझने वाले प्रख्यात पत्रकार अरविंद कुमार के *समांतर कोश* और *सहज समांतर कोश* का हिंदी में कैसा भव्य स्वागत हुआ है, इसे अलग से चिह्नित करने की ज़रूरत नहीं है।

हिंदीभाषी प्रांतों की लोक भाषाओं से हिंदी में कोश चाहिए। स्वयं हिंदी के कोश के साथ प्रमुख लोक भाषाओं के संक्षिप्त कोश जोड़ दें तभी हिंदी का मुकम्मल कोश बन पाएगा। इसके अभाव में फणीश्वरनाथ रेणु के *मैला आंचल* या रुद्र कोशिकेय की *बहती गंगा* को केरल में कैसे पढ़ाया जाएगा?

कोश निर्माण की समस्या को जनता पर छोड़कर भी देख लिया गया है। कोश निर्माण व्यय-साध्य कार्य है, कौन इसमें पैसा लगाएगा? अरविंद कुमार जैसे समर्पित हिंदी सेवी कितने हैं? भाषा कोश, विषय कोश और विश्वकोश के निर्माण के लिए शासन को समुचित कोश के साथ, उचित कार्य एजेंसी का चयन कर लक्ष्य तय कर आगे बढ़ने की ज़रूरत है। हाँ, इस दिशा में आगे बढ़ने के पहले तकनीकी शब्दावली और कोश निर्माण के पूर्व अनुभवों को ध्यान में ज़रूर रखना चाहिए।

साठ करोड़ हिंदीभाषी हैं। दस राज्यों में हिंदी राजभाषा है पर हिंदी के पास क़ायदे का एक भी विश्वकोश नहीं है। आठवें दशक में भारत सरकार के अनुदान से बारह खंडों वाला एक विश्वकोश बना, लेकिन उसे अद्यतन नहीं किया गया।

हिंदी को बोडो से लेकर मलयालम तक 23 कोश चाहिए। अंग्रेज़ी, अमरीकी अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, स्पेनिश, इतालवी, जर्मन, स्वीडिश, मंडारिन, जापानी, नेपाली, अरबी आदि भाषाओं के हिंदी में कोश चाहिए। कोश की अनुपस्थिति के चलते क्यों मलयालम का असमिया में अनुवाद अंग्रेज़ी या हिंदी के माध्यम से हो? यदि भारतीय भाषाओं का ही पारस्परिक कोश बनाया जाए तो उसकी संख्या 529 बैठेगी। यह स्थिति सिर्फ़

भाषा कोशों की है, थेसारस, विषय कोश आदि की बातें छोड़ रहा हूँ।

अनुवादक कार्य करने वाले जानते हैं कि बग़ैर विश्वकोश या संस्कृति कोश के अनुवाद में अनर्थ होने से बचा नहीं जा सकता। यदि बाङ्ला पाठ में बोऊ भात पद आता है तो हिंदी पाठकों को इसकी व्याख्या चाहिए होगी क्योंकि वहाँ 'बोऊभात' जैसी कोई परंपरा नहीं है। इसलिए सिर्फ़ हिंदी-बाङ्ला या बाङ्ला-हिंदी कोश बनाने से बात बनेगी नहीं, संस्कृति कोश भी चाहिए।

कोशकारों को सहयोग देना और सम्मान करना हम भूलते जा रहे हैं। अठारहवीं सदी के अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कोशकार सैमुअल जॉनसन ने कोशकारों के बारे में लिखा, "कोशों का लेखक एक बेचारा अनपकारी चाकर होता है, शब्दों के मूल और अर्थ की खोज में डूबा रहता है।" लेकिन चाकर को भी वेतन चाहिए। उसके काम के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

अरविंद कुमार और कुसुम कुमार ने बड़ी तकलीफ़ के साथ लिखा है : "हमारे पास न कंप्यूटर ख़रीदने के पैसे थे, न उस पर काम के लिए पेशेवर प्रोग्रामरों से प्रोग्राम लिखवा पाने के। हमारे बेटे सुमीत की कल्पनाशीलता और हमारे उद्देश्य के प्रति निष्ठा ने उसे धन की तलाश में ईरान ही नहीं भेजा, बल्कि पेशे से शल्य चिकित्सक होते हुए भी हमारे लिए कंप्यूटर प्रोग्रामिंग सीखने के लिए प्रेरित किया। ऐसी ही तकलीफ़ का ज़िक्र *जदीद उर्दू हिंदी कोश* के कोशकार विनय कुमार अवस्थी ने किया है : "किसी सुयोग्य तकनीकी सहायक के अभाव में स्वयं मेरे पुत्र चि. प्रदीप कुमार अवस्थी ने अपने सभी कार्य छोड़कर इतना श्रमशील दायित्व कंधों पर लिया।"

कोश हमारी संस्कृति के संरक्षण के साधन हैं तो कोशकार हमारे संस्कृति संरक्षक। अनुवाद की ओर शासन, विशेष रूप से, ज्ञान आयोग का ध्यान गया है, यह अच्छी बात है। कोश निर्माण को हमें पुरानी संस्थाओं, पुराने तरीकों से मुक्त करना होगा। कोश निर्माण कर हम कोशकार को ही नहीं, स्वयं को भी बचा पाएँगे। जो शब्द गुम हो जाते हैं, वे फिर नहीं मिलते।

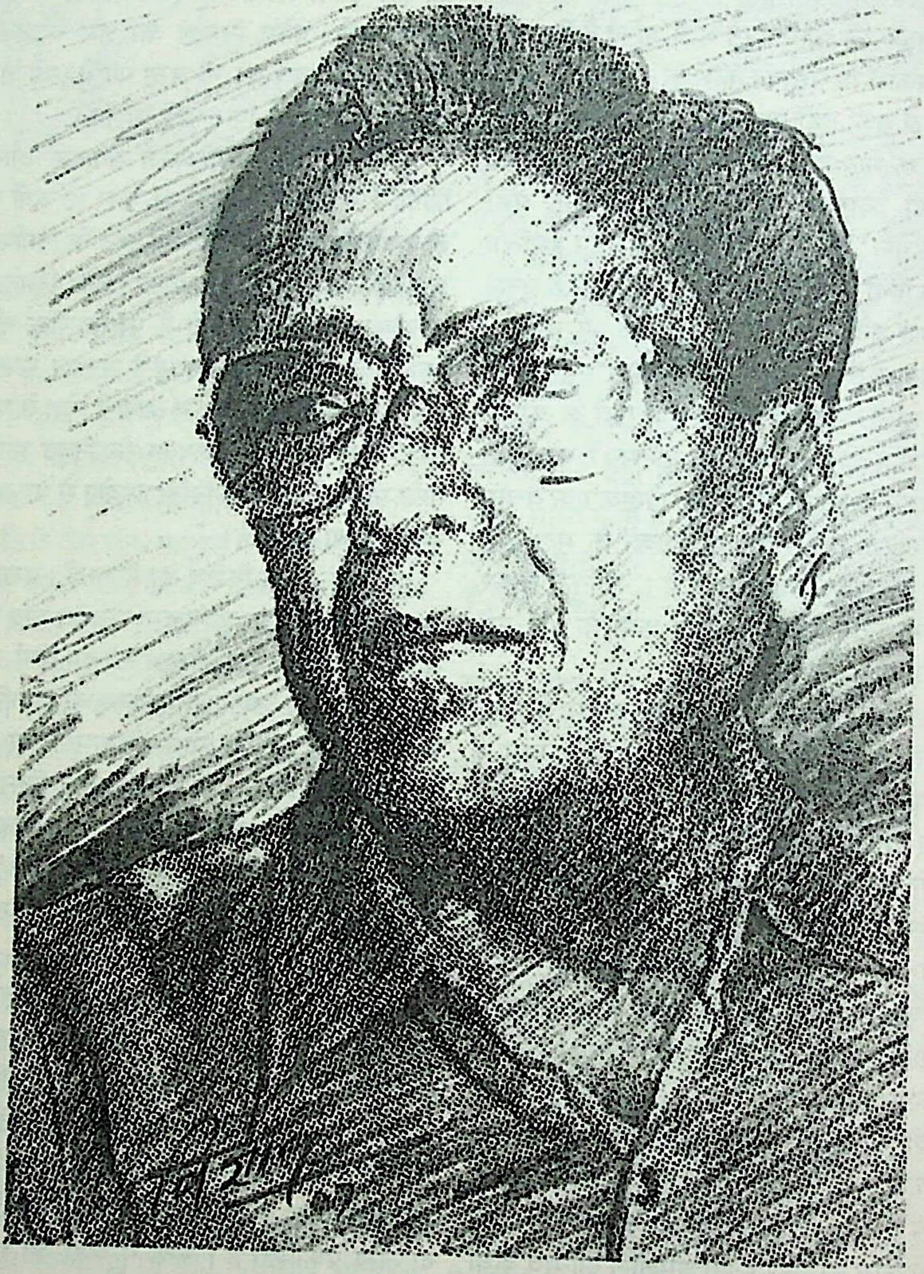
गांधी को जिस विश्वकोश संपादक आनंद हिंगोरानी ने लिखा : "कम-से-कम 10 वर्षों की कठोर मेहनत और धैर्य इस बड़ी कृति के निर्माण में लगे हैं।" यह सही है कि कंप्यूटर ने कोश निर्माण में तकनीकी आसानी पैदा की है पर तकनीक कोश निर्माण का एक पक्ष है। असली समस्या संपादन और चयन शब्द/अर्थ चयन में आती है। देश के पास इतना मानव संसाधन विशेषकर सेवानिवृत्त भाषा-मर्मज्ञ मौजूद हैं कि उनके निरंतर उपयोग से यह काम पूरा किया जा सकता है।

इस अंक में दो विशेष आयोजन हैं। प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर को पद्मा सचदेव याद कर रही हैं और प्रखर समालोचक धनंजय वर्मा और डॉ. हरदयाल के आलेख कमलेश्वर की कहानियों पर केंद्रित हैं। इसके साथ ही कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' प्रकाशित है जिस पर लोगों का ध्यान कम गया है। पर यह कहानी हड्डियों को कँपकँपा देने वाली है। 'भूख' पर केंद्रित यह कहानी हमारे विमर्शवादी कथा लेखकों के लिए चुनौती भी है।

पंजाबी कहानी पर हमारे विशेष आयोजन में छह कहानियाँ हैं जो कल, आज और कल— तीनों दौर को नापती हैं। इसी तरह उर्दू, सिंधी और हिंदी की ग़ज़लें इस विधा की लोकप्रियता की ओर संकेत करती हैं। इस बार खासी साहित्य और मिनिकॉय द्वीप की भाषा पर समकालीन में दो लेख प्रकाशित हैं। कथा में ब्योरे का महत्त्व निर्विवाद है और जब ब्योरों के बारे में सत्यजित राय कुछ बताएँ तो कहना ही क्या!

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश



कमलेश्वर (1932–2007)

धनंजय वर्मा

कमलेश्वर की कहानियाँ : आधुनिकता की प्रक्रिया

मैंने कमलेश्वर की कहानियों को बदली हुई और बदलती हुई मन:स्थिति की कहानियाँ कहा है। यह बदलना जहाँ निरंतर विकास का प्रतीक है, वहाँ बदलाव, एक रूपांतरण का। और कमलेश्वर की कहानियाँ विकास और रूपांतरण दोनों को साथ-साथ समेटते चलने की कोशिशें हैं। शुरू से लेकर अब तक उनकी कहानियों का जायज़ा लिया जाए तो यह बात साफ़ हो सकती है कि उनका कथ्य और उनकी अभिव्यक्ति कभी यकसाँ नहीं रही। उनमें लगातार परिवर्तन होता चला है। यह निरंतर गतिशीलता एक ओर जहाँ लेखक की रचनात्मक जीवंतता का सबूत है वहीं आधुनिकता के संतरण की शर्त भी है। अपने नज़रिए और अंदाज़ेबयाँ दोनों में लगातार रद्दोबदल करते रहने से हो सकता है कि कुछ लोग कहें, कि उनसे लेखक का कोई स्थिर व्यक्तित्व नहीं बन पाता। मगर यदि आप कहानी को अनुभव का रूपांतरण मानते हैं तो स्थिर व्यक्तित्व की अपनी माँग को दरकिनार रखना होगा। फिर सच तो यह है कि व्यक्तित्व की स्थिरता कहीं उसकी जड़ता और रूढ़ि भी है। और रचनात्मक विकास का मतलब है कि लेखक की अपनी भी कोई रूढ़ि न बन पाए। वह कोई पद्धति अख़्तियार न कर ले। फिर व्यक्तित्व भी तो विकासशील होता है—विकास जो ज़िंदगी और अनुभव से प्रेरित होता है। और कमलेश्वर की कहानियाँ अनुभव के दायरे में क्रमशः आती हुई ज़िंदगी से बदलती और विकसित होती रही हैं। उन्हें पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया की कहानियाँ कहा जाए तो बेजा न होगा।

आपको उनके माध्यम से हिंदुस्तानी समाज की एक विकास-यात्रा की रूपरेखा उभरती मिलेगी। 'थानेदार साहब' और 'गाय की चोरी' से 'क़सबे का आदमी' या 'राजा निरबंसिया' और 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' से 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दिल्ली में एक मौत' और 'जोखम' की यात्रा—गाँव से क़सबा और क़सबे से नगर-महानगर की यात्रा है। ये गाँव, क़सबा और नगर-महानगर ज़िंदगी के 'स्थल' और 'साँचे' ही नहीं हैं, वे बोध और संस्कार

प्रख्यात आलोचक धनंजय वर्मा का जन्म 1935 में हुआ। 15 आलोचना पुस्तकें तथा 14 संपादित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 'करुणालय', एम-433/ई-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462016
फ़ोन : 0755-2464212

और मानसिकता के प्रतीक भी हैं। यों इन कहानियों को आधुनिकता की यात्रा से भी जोड़ा जा सकता है। यह यात्रा जितनी ऊपरी है, उतनी ही भीतरी भी है यानी जीवन के रहन-सहन, तौर-तरीक़ों और वातावरण और परिवेश की जितनी है, उतनी ही, बल्कि उससे ज़्यादा ही संस्कारों, मानसिकता और वृत्तियों की भी है। इसी से लगे-लिपटे वे सवाल हैं जो आम आदमी की जद्दोजहद, व्यवस्था और परिवेश के टकराव से पैदा होते हैं और हमारी मूल्य पद्धति और दृष्टि पर असर डालते हैं।

बेहतर हो कि बातों को ठेठ ज़िंदगी के संदर्भ में देखा जाए; क्योंकि कहानी की अपनी प्रकृति भी यही है। वह हवा में उड़ने की बजाय ज़िंदगी में पैठना ज़्यादा पसंद करती है। इससे परवाज़ में कोताही आती हो तो आए, ज़िंदगी की पकड़ मज़बूत होती है। वह अमूर्त अनुभव को मूर्त करना चाहती है इसीलिए उसकी प्रकृति आत्माभिव्यक्ति नहीं, संबोधन और संप्रेषण है। अनुभव को रूप देने की कोशिश में ही कहानी चरित्रों और पात्रों की रचना करती है और अपने समय के आदमी को उकेरती है। इसलिए देखना यह है कि कहानियों में से उभरने वाले आदमी की शक्ल क्या और कैसी है? वह कितनी प्रामाणिक और वास्तविक है?

आधुनिकता की प्रक्रिया, जिसे हम पूर्ण होते चलने की प्रक्रिया भी कह सकते हैं, बड़ी जटिल और संश्लिष्ट है। उसमें जितना जुड़ता है, उतना छूटता भी है। जो छूटता या जुड़ता है वह कम निर्णायक नहीं होता इसीलिए यह आधुनिकता की प्रक्रिया जितनी अनिवार्य है, उतनी ही जानलेवा भी है। हमारे यहाँ आधुनिकता की यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो गई है। हम उसमें से गुज़र रहे हैं और इस गुज़रने के दौरान हमारे भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व में जो जुड़ और छूट रहा है, उसका कुछ जायज़ा ये कहानियाँ दे देती हैं।

आप एक ऐसे आदमी की कल्पना कीजिए जो गाँव से क़सबे और फिर क़सबे से नगर या महानगर में पहुँचता है, तो आपको उसके भीतर और बाहर होनेवाले विकास और रूपांतरण का कुछ अक्स अपने ज़ेहन में उभरता मिलेगा। इस यात्रा में उसकी मानसिकता बदलती है, रुचियाँ और वृत्तियाँ बदलती हैं और साथ ही मूल्य और दृष्टि में भी परिवर्तन आता है। यह बदलाव ऊपरी स्तर पर नए परिवेश और उसके टकराव से तो होता ही है, इस टकराव से कुछ अंदरूनी समस्याएँ भी जन्म लेती हैं जो जितनी आजीविका और रोज़मर्रा की ज़िंदगी की होती हैं, उतनी ही अस्तित्व या वजूद की भी।

एक नए परिवेश या नगर-महानगर की औद्योगीकृत दुनिया में पहुँचकर ये समस्याएँ और भी जटिल हो जाती हैं। इनमें रहते हुए उस आदमी को रह-रहकर उस गाँव या क़सबे की याद आती है—जहाँ बिना रिश्तों के रिश्ते थे, महरी उसकी चाची कहलाती थी, पोस्टमैन उसका ताऊ हो जाता था या सारे गाँव और क़सबे में उसे हर चेहरे पर परिचय और आत्मीयता की इबारत मिलती थी—जहाँ लोग एक-दूसरे के दुख-दर्द, हारी-बीमारी के साथी होते थे और शादी-ब्याह, जश्न-जलसे में शरीक। इससे उसके आचरण और व्यवहार ही नहीं मूल्य और दृष्टि भी निर्धारित होते थे। लेकिन नए परिवेश में आकर रिश्ते भी रिश्ते नहीं रह जाते, एक औपचारिकता उनकी जगह ले लेती है। सारे इंसानी रिश्तों में एक ठंडापन आ जाता है। 'क़सबे का आदमी', 'दिल्ली में एक मौत' झेलता है। 'इंसान और हैवान' का फ़र्क़ नज़र नहीं आता। 'भटके हुए लोग', 'सीखचों में क़ैद', हो जाते हैं या 'मुरदों की दुनियाँ' में 'फ़ालतू आदमी' की तरह 'खोई हुई दिशाओं' में भटकते हुए 'दुखों के रास्ते' चले जाते हैं। फिर 'कोई नहीं, कुछ नहीं'। यहाँ तक तो फिर भी ग़नीमत थी।

अब तक जद्दोजहद करता हुआ भी उसका मानवीय अहसास मर नहीं गया था लेकिन बंबई जैसी महानगरी में पहुँचकर तो उसका जैसे कोई वजूद ही नहीं रहा। एक ओर ऊपर और 'ऊपर उठता हुआ मकान' और दूसरी ओर फ़ुटपाथ की ज़िंदगी।

यों तो अज्ञेय जी कह चुके हैं कि दुख का ठेका कोई ग़रीबों ने ही थोड़े ले रखा है, मगर दुखों और दुखों में फ़र्क़ होता है। यह दूसरी बात है कि अपनी कार पर निकलते हुए आपको झुग्गियों के दुख न दिखें लेकिन प्रिवी पर्स छिनने का भी एक दुख है और चूल्हे न जलने का भी एक दुख है। गुज़र-बसर न कर पाने का दुख और अमानवीयकरण की बृहत्तर प्रक्रिया : 'बदनाम बस्ती' और 'मांस का दरिया'। आदमी हर ओर से लुटा हुआ। बदहवास भागता हुआ। व्यवस्था की मार और भीतर-बाहर से रीतता हुआ। सवालों के सलीब और उत्तर की दिशाएँ मौन। आजीविका की यातना और भीतरी टूटन का त्रास। निरर्थकता का अहसास और चारों ओर फैली विसंगतियाँ। भीड़ में होते हुए भी अकेलेपन से छटपटाता हुआ यह आदमी अपनी सार्थकता की तलाश में कभी व्यवस्था पर ग़ुस्से से थूकता है और कोई भी 'जोखिम' उठाने के लिए तैयार है। कभी वह 'अपना एकांत' ढूँढ़कर अपने ख़िलाफ़ होने वाले षड्यंत्रों का पर्दाफ़ाश करता हुआ अपना 'बयान' देता है और एक व्यापक छद्म 'लड़ाई', लड़ रहा है। लेकिन युद्ध है कि ख़त्म होने पर ही नहीं आता। जितना ही वह इन जटिलताओं और हास्यास्पदताओं से जूझता है, उतना ही वह उनमें और-और घिरता जाता है। वह समझ ही नहीं पाता कि यह सब क्यों है ? क्या है ? नारकीय पूँजीवादी अर्थतंत्र ? राजनीतिक अवसरवादिता ? सड़ी हुई समाज व्यवस्था ? 'या कुछ और'।

यह जो कुछ भी और जैसा कुछ भी हो, ट्रैजिडि यही है कि वह अपनी छोड़ी हुई दुनिया को चाहे जितना याद करे, वह लौटकर वहाँ जा नहीं सकता—न 'एक सड़क सत्तावन गलियों' में जहाँ 'धूल उड़ जाती' है, न 'देवा की माँ' की गोद में। 'आत्मा की आवाज़' और 'सुबह का सपना' अब सपना ही है और नॉस्टेल्ज़िया के बावजूद अब न उसे 'नीली झील' दिख सकती है और न सवन हंसों का वह झुंड जो कभी उसे आबाद किए हुए था। आधुनिकता की प्रक्रिया ही ऐसी है। इसके चक्र को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। जो छूट गया सो छूट गया। लेकिन नया क्या जुड़ा है ? कैसा जुड़ा है ? यही तो सवाल है और कोई भी सवाल शायद अकेला नहीं है।

कमलेश्वर की इधर की कहानियों का 'घटना स्थल' बंबई है और यदि 'स्थान' बदला भी है तो भी कथ्य वही है जो बंबई की ज़िंदगी पर छाया की तरह मँडरा रहा है। आलोचक प्रवर चाहें तो इन्हें 'मेड इन दिल्ली' की तर्ज़ पर 'मेड इन बंबई' कह सकते हैं लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि उन्होंने अपने बदले हुए संदर्भ को तिरस्कृत नहीं किया है। संदर्भ का यह बदलाव केवल औपचारिक और ऊपरी बदलाव नहीं है और न केवल यह जगह का परिवर्तन है। इस परिवर्तन को ऐतिहासिक और समय के संदर्भ में भी समझा जाना चाहिए और इसी संदर्भ में आप पाएँगे कि जीवन दृष्टि के भेद के बावजूद इनकी बुनियादी संवेदनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता। परिवेश की सारी बारीकियों के साथ एक जीते जागते संघर्षरत आदमी और जीवन अनुभव को इन्होंने मूर्त करने की कोशिश की है।

बात अधूरी ही रहेगी, यदि कहानियों का ज़िक्र किए बिना बात की जाए। फ़तवेबाज़ी आसान है। वह मेरा रास्ता नहीं है। मैं तो ठोस मिसाल देकर बात करने का आदी हूँ। इसके चलते आप मुझ पर चाहे जो तोहमत लगाएँ, मैं

समझता हूँ, बात उसी से खुलती है। हवाई बातें और बातों का तिलस्म कौन बड़ी बात है। यों मिसाल देना थोड़े जोखम का काम हो सकता है लेकिन अब जोखम से डरना क्या?

तो पहले 'जोखम' ही लीजिए। यह कहानी किसकी है? आर्थिक कष्टों से जूझते, कहीं पनाह पाने की नाकाम कोशिश की! या अरूप इच्छाओं और शब्दहीन कामनाओं की! या ऐसी स्थिति की जो सिर्फ़ न कुछ की है; न दुख की, न सुख की; सिर्फ़ एक ठहराव की! दोगली अर्थव्यवस्था के कसते शिकंजे की! या बेकारी से परेशान उस युवक की जिसके आगे अँधेरा है, नाराज़ी है, ठहराव है और आशंका है—या इन सबकी।...सच तो यह है कि आज किसी भी सार्थक कहानी का आप उसके कथ्य और विषय के आधार पर इस तरह वर्गीकरण नहीं कर सकते। कोई भी कथ्य और विषय अलग-थलग कटा हुआ नहीं है। आज की कोई भी स्थिति अपने आप में स्वतः संपूर्ण नहीं है। वह केवल अंग या अंश है, एक बृहत्तर प्रक्रिया का। कई-कई बारीक रेशों से वह एक संश्लिष्ट जटिल संघर्ष से जुड़ी हुई है।...

कहानी एक अकुलाहट से शुरू होती है—जैसे दूर तक फैला समुद्र अपनी लहरों में अकुलाता है। यह अकुलाता सागर कहानी की पृष्ठभूमि में है जो आदमी की अकुलाहट को ज़ुबान दे रहा है। यह अकुलाहट निरंतर छले जाने से पैदा हुई है और जो छला गया है वह मामूली आदमी है—और और आदमियों की तरह जो 'सागर की निचली सतह की तरह ठहरे हुए और काँपते' होते हैं। जो कुछ होता है, सब—'लहरों का शोर, गति और उनका टूटना बिखरना—ऊपर ही होता है'। इस आदमी के सामने 'सागर पर एक चमकती हुई सड़क शुरू होती थी और अनंत तक जाती थी', लेकिन 'इस सड़क को वह कभी पकड़ नहीं सका'। यानी उसके सपने और आकांक्षाएँ परवान चढ़ें, इसके पहले ही उसका स्वप्न-भंग हो गया। वह तो शहर की चटखती सड़कों पर बेकार घूमने को मजबूर है। वह किसी भी तरह की राहत चाहता है। चाहता है—इज़्ज़त, सुविधा और मानसिक तृप्ति। या शायद वह भी नहीं, 'केवल कुछ ऐसा कि क़ायदे से जिया जा सके'। लेकिन जब आर्थिक कष्टों से ही निजात न मिले तब?

लगातार ऊपर उठती इमारतों की रोशनी में वह सोचता है : 'इनके दुख कहाँ हैं?' और विषमताओं का अहसास तीखा हो जाता है। यह अहसास उसे ऊपर और ऊपर उठती इमारतों के ही अनुपात में और और छोटा, हकीर और हीन बनाने लगता है। वह रोमांटिक नहीं हो सकता क्योंकि 'उसकी सचाइयों से उसका मेल नहीं।' उसकी इस क़िस्म की (किसी पुनीता की) चाहना उसकी ज़िंदगी में फिट नहीं बैठती। फिर बेघर और बेकार, कुछ यादों और 'एक लहूलुहान नाकाम और सीमित-सी ज़िंदगी' में उसे हर ओर निरर्थकता और विसंगति नज़र आती है। 'तस्कर व्यापार से अरबों रुपयों का माल रोज़ाना आता है', लेकिन उसे न तो कहीं लगकर काम मिलता है, न कहीं पनाह। वह जहाँ भी जाता है वहीं या तो दरवाज़े बंद हैं, या ख़ुद उनकी दिक़्क़तों के सींखचे लगे हुए हैं और इंतज़ार या आश्वासन का झुनझुना बजाकर उसे भरमाने की लगातार कोशिश हो रही है। वह कुछ भी करने को तैयार है लेकिन क्या करे, इसका उसे पता ही नहीं चल पाता और बदहवास भागता हुआ वह कुछ देर के लिए अपनी पुरानी दुनिया में लौटना चाहता है लेकिन पुरानी दुनिया भी तो अब बदल गई है। वहाँ भी तो 'ज़रूरतें और भूख घट रही है, पर पता नहीं बाज़ार को क्या हो रहा है कि ख़र्चा बढ़ता जा रहा है।' वह नहीं जानता कि वह इस जानलेवा अर्थतंत्र में कब तक भटकता रहेगा; कि ऊपरी सतह के लोगों की दिक़्क़तें कब ख़तम

होंगी और कब उसे क़ायदे की ज़िंदगी जी सकने का अवसर मिल पाएगा।

कहानी यहाँ तक तो सीधी-सादी है, लेकिन माँ का संदर्भ, घर की ओर लौटना, माँ के शरीर का तिल-तिलकर पथराना, वित्तमंत्री की उपस्थिति और अंततः माँ के पथराए शरीर का बुत की तरह शहर के चौराहे पर लगा दिया जाना, कहानी को एक फ़ैंटेसी की-सी शक्ल देते हैं। लेकिन यह चालू क़िस्म की फ़ैंटेसी नहीं है, वह 'पुराकथा' और अन्योक्ति से घुलीमिली है। यथार्थ का फैलाव अवास्तविकता की सीमा रेखा छूने लगता है लेकिन यह विधान ऐसा है कि वास्तविकता को उसकी पूरी भयावहता और शिद्दत से उभारता है। कहानी का यही मोड़ उसे व्यापक संदर्भों में उठाता है—पूरे देश के संदर्भ में। अँधेरे, नाराज़ी, ठहराव और आशंका को अर्थव्यवस्था से जोड़ने की कोशिश में ही वित्तमंत्री का ज़िक्र आया है। वे 'कफ़न की तरह सफ़ेद खादी पहने हुए' देवदूत की तरह आते हैं, लेकिन उसके लिए उनके पास कोई हल नहीं है। उनकी ख़ुद की बड़ी-बड़ी दिक़्क़तें हैं। और आज के युवक के पास सिर्फ़ शिकायतें ही शिकायतें हैं। जबकि देश के हर नेता और मंत्री के अपने-अपने अहम् सवाल हैं। जाने वे कौन-से मसले हैं। और माँ, जो अपने बेटे की ख़ुशी में अपनी ख़ुशी देखती है, पल-पल पथरा रही है। यह माँ क्या केवल माँ है? क्या वह पूरा देश नहीं है, जो बाज़ार की मार से निरंतर पथराता जा रहा है, जो अब माँ के बुत की तरह न हिलता है, न डुलता है या जिसे दुहाई देने के लिए शहर के चौराहों पर बुत की तरह लगा दिया गया है और नारे बुलंद किए जा रहे हैं। वित्तमंत्री का ज़िक्र और अर्थव्यवस्था का संदर्भ एक नज़र में आरोपित लग सकता है लेकिन मुझे लगता है कि यही वह नुक़्ता है जिसे आँखों में उँगली डालकर दिखाने की कोशिश यह कहानी करती है। यह कोशिश ख़ुद एक जोखम है जो धीरे-धीरे दारुण समझौतों पर पहुँचते हुए देश को संबोधित है—कि बिना इस व्यवस्था को बदले न राहत मिल सकती है, न पनाह।

इसी व्यवस्था का एक चेहरा वह, जो प्रजातंत्र और जनसेवा का मुखौटा लगाए सीधे-सीधे राजनीति अवसरवादिता का है। 'लड़ाई' की दुनिया यही है। सीमा पर लड़ाई होती है। आदमी की क़ीमत वहाँ कुछ गोलियों से अधिक नहीं है। औसतन तीस हज़ार गोलियाँ। यानी कि वह सिर्फ़ आँकड़ा होकर रह गया है। उसकी मौत से दुनिया समझदार तो ख़ैर क्या होगी, वह ज़रूर छोटा, बेकार और 'कुछ नहीं' होकर रह जाता है। एक भाई तो लड़ाई में बदहवास है लेकिन बड़ा और छोटा ज़िम्मेदारी ओढ़े जनता का काम करने का दम भरते हैं। उनमें से बड़ा तो मंत्री है : निर्माण मंत्री और इसीलिए छोटा ठेकेदार है। उनकी ज़िम्मेदारी और जनसेवा की भंगिमा से उसे घबराहट होती है क्योंकि वह 'बीच' का आदमी है और उनके भ्रष्टाचार का सारा ख़मियाज़ा उसे ही भुगतना पड़ता है। बीच के इस आदमी को आप मध्यवर्ग का भी समझ सकते हैं। उसने एक लड़ाई लड़ी थी लेकिन उसके बाद उसने देखा कि सब कुछ बदल गया है। अब वह जो लड़ाई लड़ रहा है वह अघोषित है और कहीं अपने ही भाइयों से है, इसीलिए वह अधिक निर्णायक और जानलेवा है। सरकारी ख़ज़ाने को पुख़्ता करने की योजना में मंत्री और ठेकेदार मिलकर षड्यंत्र करते हैं और ख़ज़ाना ख़ाली होता जाता है। लुटेरे पहचाने नहीं जाते। उन्होंने ज़िम्मेदारी और जनसेवा का मुखौटा जो लगा लिया है और चारों ओर सैकड़ों की तादाद में उनसे मिलते-जुलते लोग पैदा हो रहे हैं। आप किसे पकड़ेंगे? किसकी शिनाख़्त करेंगे? कौन कह सकता है कि सरकारी ख़ज़ाना लूटने वाला कौन है? आप किसे भाई कहेंगे और किसे दुश्मन?

आप ग़ौर करें तो यह 'लड़ाई' फिर व्यवस्था से है। उलझन भरी है। इसकी तुलना में युद्ध के मैदान का ख़तरा कहीं कम है। युद्ध में दुश्मन आमने-सामने होता है पर यहाँ तो सब कुछ गड्मड् और अनिर्णीत है। कहानी गल्प और अन्योक्ति की तरह है। चेहरे, चीज़ें और स्थितियाँ सब पिघलकर अस्पष्ट हो गई हैं या परदे के पीछे अमूर्त और अनिर्णीत, लेकिन बुनियादी लड़ाई और उसकी भयावहता और यातना को उजागर करने में यह सफल हुई है। स्थितियों के पूरे सहज बोध में इससे आसानी होती है।

इस लड़ाई का एक रूप व्यक्ति की सार्थकता से जुड़ा है। एक का आशय सामाजिक है तो दूसरे का निजी। लेकिन ऐसा नहीं कि व्यक्ति की यह निजी दुनिया कोई अलग-थलग और कटी हुई दुनिया है। सामाजिक और बाहरी दुनिया भी उस पर असर डालती है और आज रोना तो यही है कि व्यक्ति का कुछ भी निजी नहीं रह गया है। इतिहास, परिस्थिति, यातना और मुक्ति का अर्थ शब्द-कोशों में नहीं व्यक्ति और समाज के संदर्भ में ही खुलता है—जहाँ निजी और सामाजिक में कोई द्वंद्व नहीं होता और यदि रहता है तो वह आदमी के अस्तित्व और वजूद को ही निरर्थक कर देता है। तब उसे उसके लिए भी ज़िम्मेदार ठहराया जाता है जिसके लिए वह क़तई ज़िम्मेदार नहीं होता। जब क़ानून आदमी की ज़िंदगी के भीतरी और अपने क़ानून से अलग और उलटा जा पड़ता है या उसके दबावों के अहसास और अंदरूनी मजबूरियों को नज़रंदाज़ करने लगता है, तब वह मानवीय व्यक्तित्व और उसकी समग्रता की उपेक्षा करता है। उसके ख़िलाफ़ फ़ैसला देता है। यह फ़ैसला व्यक्ति के ख़िलाफ़ होता है लेकिन आज का समाज क्या ऐसे ही अकेले व्यक्तियों का समाज नहीं है?

'बयान' निजी और बाहरी दुनिया के ऐसे ही दारुण रिश्ते की कहानी है। देश यहाँ भी है : आज़ादी के बाद का देश, जिसमें लहलहाती खेती, बाँध, बिजली घर, फ़ैक्टरियाँ, मिलों, वनमहोत्सवों और नई रेलवे लाइनों के उद्घाटनों की ख़ालिस तसवीरें ही तसवीरें हैं। शायद यही आज़ादी का सुख है! लेकिन सच्चाई का कहीं भान नहीं। वह केवल नारों और विज्ञापनों की वस्तु होकर रह गई है। आज भी यदि कोई उसमें निष्ठा रखता है तो फिर उसका जीना मुहाल हो जाता है। आदमी को उसकी ज़िंदगी की सच्चाई से काट देने का क्या हश्र हो सकता है? यही कि या तो वह आत्महत्या कर ले या फिर ख़ुद को नकारता हुआ, ख़ुद से कटकर जिए। अपने प्रति ईमानदार आदमी की नियति शायद यही है कि 'आँखों से ख़ून की धार रिसने लगे और जब तक ज़िंदा रहे तब तक लगातार ख़ून टपकता रहे।' इस मायने में 'बयान' एक तसवीर है, एक आईना है : ऐसे ईमानदार आदमी के निजत्व और उसके अस्तित्व की सार्थकता की मौत का।

सवाल आदमी के वजूद का है : निजत्व की तलाश अपने अस्तित्व की सार्थकता की खोज और ख़ुद होकर जीने की मामूली-सी कामना, जहाँ जीने की शर्तें न हों, सिर्फ़ जीना हो। 'या कुछ और' इसी कामना और खोज की कहानी है। जहाँ सब कुछ हो : परिवार, पत्नी, बच्चे, ज़िंदा रहने का सारा सरंजाम लेकिन जीवन न हो, वहाँ एक निचाट सूनापन होता है। सूनापन या भीतरी ख़ालीपन, एक निरर्थकता का अहसास! तब आदमी कुछ चाहता है। यह चाह अमूर्त और अरूप तो होती ही है, शब्दहीन भी होती है। यों कि कई बार 'वह सब मिल जाता है, जो वह चाहता है, लेकिन उस तरह नहीं, जिस तरह वह चाहता है' यानी पूर्णकाम होने का अहसास नहीं हो पाता। ज़ाहिर है कि आदमी की ज़िंदगी का भराव सिर्फ़ एक ओर से नहीं होता। जीवन की सार्थकता और पूर्णता, ग़लत या सही, अच्छे या बुरे की परिभाषा में नहीं बँधती, वह सिर्फ़

'होने' और उसके 'सार' से जुड़ती है। रामनाथ एक रुके हुए शहर में ठहरा और थिर ज़िंदगी बिता रहा है। उसकी ज़िंदगी के आसमान में कोई रोशनी नहीं। जब आसमान सुरमई से काला होता है और जब उसमें न चिड़ियों का शोर होता है और न कोई दूसरी हलचल तब धूरी शाम के वक़्त अँधेरे के मरने के साथ रामनाथ कुछ ऐसा चाहता है जो बिना किसी मतलब या मसरफ़ का हो, जो बेवजह, बेज़रूरत और बेशर्त हो। शायद यही उसकी आंतरिक सार्थकता और होने के अहसास को भरता है। एक मामूली-सा मोह (जिसमें न कोई तमन्ना है, न सपना, न हक़ है, न दिखावा, न तिरस्कार है, न इच्छा, कामना, डर या घबराहट कुछ नहीं, और यही) उसे पूर्णता का अहसास देता है। सिर्फ़ 'होना' और उसका 'सार'। निर्विकल्प और निष्काम 'होना'। ऊपर-ऊपर से कहानी उसकी ज़िद या शकुंतला के प्रति मोह की कहानी लगती है और शायद रामनाथ किसी हद तक स्वार्थी भी लग सकता है लेकिन जहाँ 'जीना और जीते चले जाना हो', 'दूसरों की शर्तों पर', वहाँ देखना होगा कि 'स्व' का अर्थ क्या है? इस 'स्व' के दायरे में क्या और कैसा समाया है? उसकी प्रकृति क्या है। और दूसरों की शर्त पर जीने की बेबसी को तोड़ने की कोशिश यदि ज़िद ही है तो वह क्या बेजा ज़िद है? रामनाथ को एक व्यापक ख़ालीपन के बावजूद अपनी ज़िंदगी में एक बार पूर्णता का अहसास होता है : एक आंतरिक पूर्णता जिसे जाना शायद उतना नहीं जा सकता मगर जिसका सिर्फ़ अहसास होता है : नामहीन और अरूप। जहाँ 'अस्तित्व' और 'सार' दोनों साथ-साथ होते हैं।

निजत्व की सार्थकता की खोज में आज के आदमी की भटकन की ऐसी ही एक कहानी 'अपना एकांत' है, जिसमें 'अपने भीतर ही भीतर पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया' में निरंतर अकेले होते आदमी की यातना गूँजती है। 'घटना स्थल' इसका बंबई है—जहाँ सागर जितना फैला और चौपाटी की शाम जितनी सुहागन है, आम आदमी की ज़िंदगी में उतना ही संकोच, अँधेरा और दुर्भाग्य है। कहानी ख़ासे रूमानी ढंग से शुरू होती है। सोम और हंसा के 'मधुर, उत्तेजनारहित पर उत्तप्त' संबंधों से। कुछ-कुछ परिकथाओं के रहस्यमय वातावरण की गंध लिए। लेकिन यह रूमान और माधुर्य ज़्यादा देर तक टिक नहीं पाता क्योंकि ज़िंदगी इतनी ग़ैररूमानी और ठस है कि उससे इनका तालमेल नहीं बैठता यहाँ बिलकुल 'अपना हो पाने' की हर कोशिश कहीं बेकार जाती है। चीज़ों को चीज़ों की तरह लेने का या उनके 'अपने पूरे वजूद' का हमें अहसास ही नहीं हो पाता। यों कि भावना और संवेदना की मौत हो गई हो। इस मौत के लिए कौन ज़िम्मेदार है? क्या कहीं ऊपरी सतह की भागमभाग और रोज़मर्रा की जद्दोजहद ने हमारे भीतरी मानवीय अहसास का गला नहीं घोंट दिया है? सोम क्यों अपरिचित की तरह जीना चाहता है? एक औसत आदमी की तरह सीधी और मामूली ज़िंदगी में राहत पाना चाहता है? क्यों 'जी लेना' उसके लिए सबसे बड़ा काम लगता है? हंसा से उसके संबंधों में 'कुछ भी तो घटित नहीं होता, न यादों के लिए कोई करकते टुकड़े, न ज़िंदगी के कोई वायदे', फिर भी वह उसका एकांत क्यों है? फिर एक छोटे-से हादसे से सब कुछ ख़त्म हो जाता है। यहाँ तक यह कहानी भी ख़ासी मामूली लगती है लेकिन फिर अंतिम मोड़ में सोम की लाश की शिनाख़्त में भटकता कहानी का 'मैं', जिन-जिन स्थितियों से गुज़रता है वे फिर एक भयावह फ़ैंटेसी की तरह लगती है—शव को उठाकर चलना, उसका दफ़्तर में आना, अपना नाम बताना, सारी ख़ानापुरी करना और आग्रह करना—यह सब फ़ैंटेसी नहीं तो और क्या है? उन सारी स्थितियों में सोम की

खोज, एक आदमी की खोज लगती है, जो उस शहर में खो गया लगता है लेकिन वह आदमी कहाँ है ? वहाँ उस 'आदमी' और 'व्यक्ति' को कोई नहीं पहचानता, उसका नाम चाहे सोम हो या कुछ और। वह सबके लिए लावारिस लाश की मानिंद है। शव है। उस 'मैं' को 'हर चलता हुआ आदमी शव लगता है।' 'सोम की तरह अकेला।' और अपने भीतर ही भीतर पूर्ण होते रहने की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। कहानी में बाहरी और भीतरी, सामाजिक और वैयक्तिक दुनिया में ख़ासा अंतर्विरोध है और वह बाहर से भीतर की ओर एक तेज़ और तल्ख़ मोड़ लेती है और आदमी के बुनियादी वजूद के सवाल को उभारती लगती है।

ये कहानियाँ बाहर से घबराकर भीतर की ओर और भीतर से कतराकर बाहर की ओर लौटने की कहानियाँ हैं। उनका स्वर भी यथार्थ का कुछ उपहास करता हुआ-सा है, लेकिन उसका तिरस्कार करता हुआ नहीं। यह क्रूर वास्तविकताओं पर व्यंग्य करता हुआ भी है और इस उपहास और व्यंग्य के माध्यम से उसकी विद्रूपताओं को उजागर करता हुआ भी। 'फ़ैंटेसी' और 'पुराकथा' या अन्योक्ति नुमा विधान उन्हें व्यापक संदर्भों में उठाने और यथार्थ के अधिक तीखे बोध के संप्रेषण की कोशिश भी है। इसके पहले तक कमलेश्वर की कहानियों में आधुनिक व्यक्ति की निजी और व्यक्तिगत दुनिया के साक्षात्कारों की कमी खटकती थी। उनकी कहानियों में सामाजिकता के बाहरीपन की शिकायत भी कुछ लोगों ने की थी। इधर उनकी कहानियों में वे निजी समस्याएँ, संकट और अंतर्विरोध उभरे हैं जिनका सामना आधुनिक व्यक्ति कर रहा है। इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी इधर की कहानियों में बुनियादी सामाजिकता खोई है, या सामाजिक सत्यों का साक्षात्कार कम हो गया है : उन्हें अधिक निजी संदर्भ मिले हैं। उनमें एक संतुलन आया है।

ऐसा नहीं कि कमलेश्वर ने इस बीच सभी कहानियाँ उम्दा ही लिखी हैं। लेखक जब अपनी ही लीक से हटता है तो नई दिशाओं में जाने के लिए वह कुछ प्रयोग करता है, (हालाँकि कमलेश्वर न तो प्रयोगवादी अर्थ में प्रयोगधर्मी है और न राजेंद्र यादव की तरह वहाँ विशिष्टता के आग्रह में चौंकाने की वैसी भंगिमाएँ हैं, मगर) नए मोड़ लेती रचनात्मकता में कुछ अपवाद आ जाना स्वाभाविक है। *धर्मयुग*, (16 अगस्त, 70) की कहानी 'उस रात वह मुझे ब्रीच कैंडी पर मिली थी और ताज्जुब की बात कि दूसरी सुबह सूरज पश्चिम से निकला था', एक प्रयोग के रूप में तो शायद उल्लेखनीय हो लेकिन किसी नई दिशा की उपलब्धि और सूचना उससे नहीं मिलती।

डॉ. हरदयाल

अधूरी ज़िंदगियों की पूरी कहानी

अपनी *समग्र कहानियाँ* (2002) के प्रारंभिक अंश में कमलेश्वर ने अपने पाठकों को सूचित किया है कि "मोटे तौर पर मेरी कथा यात्रा के तीन पड़ाव हैं—1. मैनपुरी से इलाहाबाद, 2. इलाहाबाद से दिल्ली और 3. दिल्ली से बंबई। 1950 तक की सारी कहानियाँ मैनपुरी में लिखी गईं। कुछेक इलाहाबाद में भी; क्योंकि तब तक मेरा प्रगाढ़ संबंध अपने क़सबे के साथ था। इलाहाबाद (1946–1959) का दौर मेरे लेखन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण समय है। 'नई कहानी' आंदोलन का भी यही समय है, जो श्रीपतराय की पत्रिका 'कहानी' के वार्षिक विशेषांकों से शुरू हुआ था। इसके बाद दिल्ली का समय है 1959–1966। यह कहानी के वैचारिक और कलात्मक उत्कर्ष का समय था; 'नई कहानी' की प्रतिष्ठा से प्रभावित तरह-तरह के यशकामी आंदोलनों का भी यही समय था। तीसरा दौर बंबई महानगर का है। दिल्ली लौटकर आने को मेरी रचना का चौथा दौर कहा जा सकता है।" (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 17–18) यानी कमलेश्वर की कथा यात्रा क़सबे से महानगर तक की है।

कमलेश्वर ने जिस ईमानदारी और वस्तुपरकता से अपनी कथा यात्रा का विकास-क्रम दिया है उतनी ईमानदारी और वस्तुपरकता से कम ही रचनाकार अपनी विकास यात्रा प्रस्तुत कर पाते हैं—वे भी नहीं, जो ईमानदारी और वस्तुपरकता की कसमें खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कमलेश्वर निर्मल वर्मा जैसे अनेक समकालीनों की तरह अंतर्मुखी प्रवृत्ति के आत्मग्रस्त और आत्मकेंद्रित कहानीकार नहीं थे। वे बहिर्मुखी प्रवृत्ति के समाजोन्मुख कहानीकार थे। यही कारण है कि वे जहाँ-जहाँ रहे वहाँ-वहाँ के जीवन के अनुभव और यथार्थ को अपनी कहानियों में पूरी ईमानदारी, वस्तुपरकता और कलात्मकता के साथ उन्होंने चित्रित किया। अपनी प्रगतिशीलता के बावजूद वे किसी विचारधारा विशेष के साथ बँधे नहीं। यही कारण है कि वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर उनकी कहानियों में बड़ी विविधता है। उन्होंने अपनी विकास यात्रा के प्रत्येक दौर में ऐसी अनेक कहानियाँ दीं जो अपना वैशिष्ट्य रखती हैं; जो अत्यधिक चर्चित रही हैं; और

आलोचक एवं कवि डॉ. हरदयाल का जन्म 1939 में हुआ था। इनकी लगभग 30 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110094। फोन : 011-22570146

जो अपने देशकाल-निरपेक्ष महत्त्व के बावजूद उसी दौर में लिखी जा सकती थीं।

उनकी एक प्रसिद्ध कहानी है 'एक थी विमला', जो 1962 में दिल्ली में लिखी गई। इस कहानी में उस समय की दिल्ली की पूरी रंगत है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह कहानी दिल्ली में ही लिखी जा सकती थी, मैनपुरी, इलाहाबाद या मुंबई में नहीं; और यह कि इस कहानी को कमलेश्वर ही लिख सकते थे; उनका और कोई समकालीन कहानीकार नहीं। इसलिए यह कहानी कमलेश्वर की दिल्ली दौर की प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी का कथ्य और शिल्प दोनों हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और दोनों इतने अभिन्न हैं कि न तो इसके अकेले कथ्य को महत्त्वपूर्ण घोषित किया जा सकता है और न ही अकेले शिल्प को। इसीलिए यह 'नई कहानी' और कमलेश्वर की एक ऐसी उपलब्धि है, जिसे आसानी से एक कालजयी रचना घोषित किया जा सकता है।

'एक थी विमला' एक स्तर पर चार स्त्रियों की कहानी है; दूसरे स्तर पर एक ही स्त्री के विकास की चार अवस्थाओं की कहानी है; तीसरे स्तर पर परिस्थितियों से विवश होकर स्त्री के अपने प्रति बदलते उपागम की कहानी है; चौथे स्तर पर दिल्ली जैसे महानगर में बदलते नैतिक मूल्यों की कहानी है; पाँचवें स्तर पर यह इस सत्य को उजागर करने वाली कहानी है कि मनुष्य के जीवन, आचरण और सोच का मूलाधार उसकी आर्थिक स्थिति है। इन विभिन्न स्तरों के अतिरिक्त इस कहानी में और भी अनेक स्तर अंतर्निहित हैं। इसकी बहुस्तरीयता इसे पाठक के लिए आकर्षक भी बनाती है और चुनौतीपूर्ण भी।

इस कहानी में चार स्त्रियों की अधूरी ज़िंदगियों के चित्र कहानीकार ने प्रस्तुत किए हैं। पहली स्त्री है विमला। करोलबाग में रोहतक रोड पर सत्ताईस नंबर की बस के स्टॉप के पास उसका घर है। उम्र लगभग बीस वर्ष है। वह सुंदर है और गर्ल्स पब्लिक कॉलेज में पढ़ने जाती है। वह लगभग दो बजे कॉलेज से लौटकर आती है। उसके साथ बस से नौजवानों की एक हुजूम उतरता है; लेकिन वह किसी की परवाह किए बिना सीधी अपने घर चली जाती है। नौजवान उससे बात करने की कोशिश करते हैं, लेकिन वह किसी से बात नहीं करती। उसके पिता दीवानचंद बहुत पैसे वाले नहीं हैं। वे एक प्राइवेट फर्म में काम करते हैं, जिससे घर चलता है। विमला अपने घर के आर्थिक संघर्ष, पिता की समझदारी और परिश्रमशीलता को जानती है; साथ ही वह यह भी जानती है कि जब तक उसके पिता हैं तब तक उसे कोई दुख नहीं हो सकता। उसकी आकांक्षा है कि वह पढ़ाई ख़त्म करने के बाद कहीं नौकरी कर लेगी; छोटे भाइयों को पढ़ाएगी और यदि कोई अच्छा-सा नौजवान मिल गया तो बाद में शादी कर लेगी। उसके पड़ोसियों की उसके विषय में राय है कि वह निहायत सुशील और सुसंस्कृत है। उसके पिता उसके बी.ए. कर लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उसके बी.ए. पास करते ही वे किसी अच्छे नौजवान से उसकी शादी कर देंगे। और यदि वह स्वयं शादी करना चाहेगी तो भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी, बशर्ते उसकी पसंद का लड़का अच्छे घराने का हो; अच्छी नौकरी या कारोबार में लगा हो।

विमला की यह और इतनी कहानी कहने के बाद कहानीकार की टिप्पणी है, "विमला के घर की तरह शायद हज़ारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ भी हैं—उतनी ही सुंदर, सुशील और समझदार। हर लड़की पढ़ रही है और अपने घर की खस्ता हालत से परिचित है; अपने बाप-भाइयों के संघर्ष की जानकारी उसे है। हर लड़की अपने घर को और अच्छा बनाना चाहती है। हर लड़की यह भी चाहती है

कि कोई उसकी तरफ़ उँगली न उठा सके। सब लोग उसके बारे में बहुत अच्छी-अच्छी बातें सोचें। उसकी ख़ूबसूरती को सराहें और गुणों की प्रशंसा करें। वह अपने घर की इज़्ज़त का जीता-जागता नमूना बने और बाप-भाइयों की नाक उसकी वजह से ऊँची रहे।''

''शादी के बाद सब जानने वालों को यह संतोष हो कि उसका पति बहुत इज़्ज़तदार, ओहदेदार और शानदार आदमी है। और वह शादी के बाद अपने भाई-बहनों की प्यारी बनी रहे; उनकी मदद कर सके और घर में गौरव प्राप्त करे।''

''पहले मकान में रहने वाली विमला भी यही चाहती थी; और जो वह चाहती थी, वह सब उसके सामने पूरा भी होता जा रहा था। उम्मीद भी यही है कि उसके सब सपने साकार हो जाएँगे; क्योंकि जो कुछ वह चाहती है, वह पा लेना बहुत मुश्किल भी नहीं है।'' (समग्र कहानियाँ; पृ. 311)

कहानीकार की इस टिप्पणी के बाद विमला और उसकी कहानी एक व्यक्ति और उसकी कहानी नहीं रह जाती, बल्कि एक प्रतीक बन जाती है। वह प्रतीक बन जाती है स्वाधीनता के बाद के प्रारंभिक वर्षों के निम्न मध्यवर्गीय परंपरागत जीवन-मूल्यों में आस्था रखने वाली युवती की। उसकी, उसके पिता की, उसके अड़ोस-पड़ोस के लोगों की आकांक्षाएँ सामान्य मध्यवर्गीय आकांक्षाएँ हैं, जिनका पूरा हो पाना कतई दुष्कर नहीं है। युवकों का उसकी तरफ़ आकर्षित होना, लेकिन अपनी सीमा में बने रहना; कोई दुस्साहस न करना भी उस देशकाल और वर्गीय दृष्टि से सामान्य है; किसी तरह का कोई अपवाद नहीं है। इस सबके पीछे जो प्रेरक तत्त्व हैं, वे हैं निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति और 'इज़्ज़त' की भावना। इस सबके पीछे सामाजिक स्थिरता भी प्रेरक के रूप में कार्य कर रही है। उस समय दिल्ली का समाज भी बहुत गतिशील नहीं हुआ था। इसीलिए कहानीकार और दुनिया की यह आकांक्षा अत्यंत सहज और स्वाभाविक लगती है, ''परमात्मा करे, सबको विमला जैसी सुशील और समझदार लड़की मिले और किसी की नाक नीची न हो! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 311)

विमला के बाद लेखक कुंती की कहानी कहता है। उसका घर विमला के घर से 'काफ़ी दूर' है, लेकिन संयोगवश है उसी सड़क पर, जिस पर विमला का घर है। कुंती का बाप किराए के मकान में रहता है। पहले पूरा मकान उसके पास था; अब केवल एक कमरा है। अब उस मकान में अनेक किराएदार रहने लगे हैं; क्योंकि कुंती के बाप मनोहरलाल की आर्थिक हालत बराबर तंग होती गई है और उसका सम्मान सानुपातिक रूप में कम होता गया है। उस पर क़र्ज़ा चढ़ता गया है। कुंती का बड़ा भाई शादी के बाद पिता और अपने भाई-बहनों से सारे संबंध तोड़कर अलग रहने लगा है। अब घर के पाँच बच्चों में कुंती सबसे बड़ी है। दिल का दौरा पड़ने से उसके पिता की मृत्यु हो गई और घर की देखभाल तथा ख़र्च का पूरा भार कुंती पर आ पड़ा। उसने पिता के नाम की तख़्ती की तरह पिता की स्मृति दिलाने वाली सारी चीज़ों को बक्से में बंद करके रख दिया है। विमला के पिता की तरह कुंती के पिता भी चाहते थे कि उसके बी.ए. पास करते ही उसकी शादी किसी ऊँचे ख़ानदान के किसी ऊँचे पद वाले नौजवान से कर देंगे। और कुंती ने अपने लिए कोई लड़का पसंद कर लिया तो भी उन्हें कोई आपत्ति न होगी, 'उन्हें सिर्फ़ कुंती की ख़ुशी चाहिए थी।' लेकिन न वे अपनी आकांक्षा पूरी कर सके और न ही कुंती की।

कुंती सौ रुपए महीने के वेतन पर एक नर्सरी स्कूल में मास्टरनी हो गई। वह स्कूल से लौटकर किसी जगह ट्यूशन भी पढ़ाने जाती है; लेकिन

घर का ख़र्च पूरा नहीं पड़ता। वह घर की इज़्ज़त बचाए रखने के लिए संघर्षरत है। संघर्ष करते-करते पाँच वर्ष बीत चुके हैं, लेकिन उसने किसी को घर की यथार्थ स्थिति का पता नहीं लगने दिया है। वह भी सुंदर है। उसके घर के पास बलवंतराय की सर्राफ़ की दुकान है; साथ ही उसके और भी धंधे हैं। वह उसे आते-जाते देखता है और चाहता है कि वह उसे एक नज़र देख ले; लेकिन वह थोड़ी-सी जान-पहचान के बावजूद न उधर देखती है और न ही उसका ख़्याल करती है। घर चलाने के लिए घर की एक-एक चीज़ क्रमशः बिकती गई है। बलवंतराय की दुकान और कारख़ाने में उसके घर की तमाम चीज़ें पहुँच गई हैं। वह उसकी कृतज्ञ है, लेकिन उससे मुस्कुराकर कभी बात नहीं करती। घर की बिकने लायक़ सारी चीज़ों के ख़त्म हो जाने और माँ की बीमारी ने उसे बलवंतराय से बीस रुपए उधार माँगने और मुस्कुराने के लिए विवश कर दिया।

कुंती की यह और इतनी कहानी कहने के बाद वाचक/कथाकार की टिप्पणी है—''कुंती के घर की तरह हज़ारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ हैं, जो अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ बनना चाहती हैं और अपने घर की ख़ुशियाँ वापस लाना चाहती हैं; पर लड़की किसी ख़ूबसूरत दिन के लिए अपनी मुस्कुराहटें सँजोकर रखना चाहती है।''

''दूसरे मकान में रहने वाली कुंती भी यही चाहती थी और जो वह चाहती थी, उसके मिलने का विश्वास उसे शायद अभी तक है—आज शाम तक था...।'' (समग्र कहानियाँ, पृष्ठ 314)

कहानीकार या वाचक की यह टिप्पणी विमला की तरह कुंती को भी एक व्यक्ति नहीं रहने देती, एक प्रतीक बना देती है। वह प्रतीक बन जाती है निम्न मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों में स्वातंत्र्योत्तर काल में हल्की-सी दरार पड़ने का। उसकी भी उन जीवन-मूल्यों में आस्था है जिनमें विमला की आस्था है; लेकिन विमला की तुलना में उसकी स्थिति में थोड़ी-सी भिन्नता है। यह भिन्नता आर्थिक स्तर पर है। विमला की तुलना में कुंती की आर्थिक स्थिति कमज़ोर है और परिवार का बोझ उसके ऊपर आ पड़ा है। इसलिए उसे बलवंतराय के सामने मुस्कुराना पड़ता है; उसे आर्थिक कारणों से अपने जीवन-मूल्यों और यथार्थ के बीच हल्का-सा समझौता करना पड़ता है। यह समझौता यहीं तक रहेगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है। संकेत तो यह है कि इस समझौते का दायरा और बढ़ेगा। यह संकेत टिप्पणी के अंतिम वाक्य में प्रयुक्त 'शायद' शब्द में तथा 'आज शाम तक था' के भूतकालिक प्रयोग में निहित है।

दरअसल कुंती विमला का ही विकासक्रम में या जीवन-मूल्यों के ह्रासक्रम में अगला चरण है। इसका संकेत कहानीकार ने बड़ी कुशलता के साथ यह कहकर दे दिया है, ''यों देखने पर विमला और कुंती का कोई संबंध भी नहीं है; पर न जाने क्यों उसमें विमला की झलक-सी दिखाई पड़ती है।'' (वही; पृष्ठ 311) कहानीकार और दुनिया की विमला के संबंध में जो आकांक्षा है, वह सहज और गंभीर है; लेकिन कुंती के संबंध में जो आकांक्षा है, उसमें हल्का-सा कटाक्ष या व्यंग्य है, जो दुनिया के सामने उसकी विवशता को रेखांकित करता है। विमला के प्रसंग में जो दुनिया है वह कुंती के प्रसंग में बदल गई है, ''परमात्मा करे, ऐसा ख़ुशनुमा दिन कभी न आए और किसी को मुस्कुराना न पड़े; क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 315) इस कथन में प्रयुक्त 'ख़ुशनुमा दिन' का प्रयोग भी अंतर्विरोध से परिपूर्ण व्यंजनात्मक है। कुंती जब मुस्कुराने के लिए विवश होती है तब दिन तो बहुत ख़ुशनुमा है; लेकिन कुंती रो रही थी, ''मौसम बहुत सुहावना था। हर तरफ़ से जैसे ख़ुशियाँ फूट पड़

रही थीं...पेड़ों पर अजीब-सी ताज़गी छाई हुई थी। और ऐसे ख़ुशनुमा वक़्त में कुंती की आँखें रह-रहकर भर आती थीं। दिल में अजीब-सी हूक उठती थी। भाई-बहनों के मासूम चेहरों की तरफ़ जब वह देखती थी तो मन बैठने लगता था और आँसू नहीं थमते थे।'' (वही; 314)

कुंती की पूरी कथा पाठक को अवसन्न करती है।

कुंती की कथा के बाद लेखक ने लज्जा की कथा कही है। लज्जा का घर ठीक चौराहे पर है, जहाँ से बाग के लिए रास्ता कटता है। यह परंपरागत घर नहीं, फ़्लैट है। यह फ़्लैट शानदार है। लज्जा ख़ूबसूरत है और उसके रहन-सहन ने उसे और ख़ूबसूरत बना दिया है। उसके साथ रहने वाले, लगता है, एकाएक मालदार हो गए हैं। उसे लोगों ने हमेशा मुस्कुराते हुए ही देखा है। यद्यपि उसके पास अपनी कार नहीं है, लेकिन वह हमेशा किसी कार या टैक्सी से जाती है। निश्चित तो नहीं, लेकिन सुना है कि वह किसी बड़े होटल में रिसेप्शनिस्ट है। कभी-कभी होटल का सामान लाने-ले जाने वाला वैगन भी उसे काफ़ी रात गए घर छोड़ जाता है। उसने बड़े दुखदायी दिन देखे हैं, लेकिन संघर्ष करके उसने उन दिनों को जीत लिया है। लोग उसे शक की निगाह से देखते हैं और उसके संबंध में मज़ा ले-लेकर कहानियाँ सुनाते हैं। वह नशे में धुत्त देर रात घर लौटती है; चीखती-चिल्लाती है, घर वालों को बहुत डाँटती है। उसके संबंध में लोग जो कहानियाँ सुनाते हैं, वे अजीबो-ग़रीब, बेहद मज़ेदार और गंदी होती हैं। उसकी मुस्कुराहट में अजीब जादू है; शरीर में मोहक कमनीयता है; चाल में एक बनावटी खम है। हर रोज़ उसके बालों का स्टाइल और अंदाज़ नया होता है। वह जीवन के रास्ते पर बहुत तेज़ दौड़ रही है। उसके कारण उसके अड़ोसी-पड़ोसी अपनी लड़कियों को लेकर बहुत चिंतित रहते हैं। उसके साथ वाले फ़्लैट में कोई गृहस्थ ज़्यादा दिन टिकता नहीं है, फलतः उसमें चिटफ़ंड का दफ़्तर खुल गया है। उस दफ़्तर में काम करने वाले उसे 'चीज़' कहते हैं और अपनी पहुँच से बाहर मानते हैं। लज्जा के घर वाले संपन्नता से ख़ुश हैं, लेकिन वे अड़ोस-पड़ोस और नातेदारों से कटे हुए हैं और अकेले हैं। लज्जा अधिकतर तीन आदमियों के साथ दिखाई देती है, जिनमें से एक दिलीप है। एक दिन वह धूल-भरी आँधी में दिलीप की कार में आती है और ऊपर एक कमरे में उसे ले जाती है। कमरे को सब तरफ़ से बंद करके वह जानना चाहती है कि दिलीप उससे शादी क्यों नहीं करना चाहता। ज़्यादा कुरेदने पर उसका स्पष्ट उत्तर है, ''इस बात को उठाना ही बेकार है लज्जा! इस पर बहस नहीं की जा सकती। शादी का सवाल नहीं उठता।'' (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 316) दिलीप के इस उत्तर से कमरे में बड़ी मनहूस ख़ामोशी छा गई। कुछ देर बाद दिलीप उठकर चला गया। लज्जा उसे नीचे छोड़ने नहीं आई।

लज्जा की यह कहानी कहकर वाचक/कहानीकार टिप्पणी करता है, ''लज्जा के फ़्लैट की तरह हज़ारों फ़्लैट हैं और उसकी तरह ही हज़ारों लड़कियाँ भी हैं। उतनी ही सुंदर कोमल और हर वक़्त मुस्कुराने वाली। हर लड़की अपने हाल से परिचित है और अपनी ज़िंदगी को बदलना चाहती है। हर लड़की यही चाहती है कि सब लोग उसे चाहें, लेकिन उनमें कोई एक ऐसा हो, जो सिर्फ़ उसे चाह सके, ताकि उसे यह संतोष हो कि वह ज़िंदगी में हारी बाजी जीत गई है।''

''तीसरे मकान में रहने वाली लज्जा भी यही चाहती है और जो वह चाहती है, उस ओर जाने वाला रास्ता पहले ही कट चुका है।'' (वही; पृष्ठ 316-17)

वाचक/कहानीकार की यह टिप्पणी विमला और कुंती की तरह लज्जा को भी व्यक्ति नहीं रहने

देती; उसे प्रतीक बना देती है। वह प्रतीक बन जाती है उन महत्त्वाकांक्षी सुंदर मध्यवर्गीय युवतियों की, जो अपनी यथार्थ आर्थिक स्थिति से संतुष्ट न रहकर आर्थिक संपन्नता का, शान-शौकत का जीवन जीना चाहती हैं। वे आर्थिक संपन्नता परंपरागत ढंग से प्राप्त करना नहीं चाहतीं, शायद इसलिए कि वे परंपरागत ढंग से मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों की सीमा में रहकर मनोवांछित आर्थिक संपन्नता और शान-शौकत प्राप्त नहीं कर सकतीं। इसलिए वे उसे जिस ढंग से प्राप्त करती हैं, लीक से हटकर जिस नए रास्ते पर चलती हैं, उसके लिए उन्हें बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है। वे जब अपनी अस्मिता बेचने का नया रास्ता चुनती हैं तो उनके लिए परंपरागत रास्ता बंद हो जाता है, यद्यपि उस रास्ते से जुड़ी उनकी आकांक्षाएँ जीवित रहती हैं। किसी एक व्यक्ति को पति के रूप में पाने की आकांक्षा परंपरागत रास्ते से जुड़ी आकांक्षाओं का ही प्रतीक है।

वाचक/कहानीकार ने विमला और कुंती को लेकर जो आकांक्षा व्यक्त की है, लज्जा को लेकर वह बिलकुल बदल गई है, ''परमात्मा करे, लज्जा जैसी ख़ूबसूरत और दिल रखने वाली लड़कियों को ऐसे रास्ते पर न जाना पड़े, जिससे फिर लौटा न जा सके! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 317) दिलीप के साथ लज्जा जब अपने घर आती है तो मौसम, उस मौसम से भिन्न है जिसमें कुंती को मुस्कुराने के लिए विवश होना पड़ता है। लज्जा तो हर समय मुस्कुराती ही रहती है। दिलीप के विवाह से इनकार करने पर जो मनहूस ख़ामोशी कमरे में छा गई वह वस्तुतः कमरे में उतनी नहीं छाई जितनी लज्जा के मन पर छाई। दिलीप की कार से रात में उतरते समय मौसम का जो चित्रण है, वह मानो लज्जा के भविष्य का प्रतीकात्मक चित्रण है, ''मौसम बहुत ख़राब था; आसमान रुँधा-रुँधा था और धूल-भरी आँधी चल रही थी।'' (वही; पृष्ठ 316) हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे मौसम में, अपने भावी जीवन में क्या लज्जा अपनी मुस्कान बनाए रख सकेगी?

ऊपरी तौर पर लज्जा का विमला या कुंती से कोई संबंध नहीं है, लेकिन आंतरिक स्तर पर वह उनसे संबद्ध है। वह उन्हीं के विकास की अगली सीढ़ी है, जो अपनी आकांक्षाओं की प्रकृति से प्रेरित होकर उस त्रासदी की ओर बढ़ रही है, जो सुनीता के जीवन में चरितार्थ होती है। वह बदले हुए जीवन-मूल्यों की प्रतीक बन गई है।

सुनीता मध्यवर्गीय स्त्री के विकास या ह्रास का चौथा चरण है। प्रतीकात्मक स्तर पर सुनीता विमला, कुंती और लज्जा का ही एक और रूप है। कहानीकार ने यह कहकर इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है, ''चौथा मकान यानी सुनीता का घर।...विमला, कुंती या लज्जा में से कोई सुनीता को नहीं जानती। सुनीता भी उन्हें नहीं जानती।...पर सुनीता को देखने से न जाने क्यों विमला की धुँधली-सी आकृति सामने आकर खो जाती है।'' (वही, पृष्ठ 317)

इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों में सबसे अधिक त्रासद कहानी सुनीता की है। अन्य तीन स्त्री पात्रों की तरह सुनीता का कोई परिवार नहीं है। वह एक नौकरानी के साथ रहती है। अकेली स्त्री होने के कारण उसे किराए का मकान मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। बड़ी मुश्किल से उसे मकान मिलता है, जिसमें वह बड़ी घुटी-घुटी-सी, उजड़ी-उजड़ी-सी रहती है। उसकी उम्र भी ज़्यादा नहीं है। विमला से थोड़ी बड़ी या लज्जा की उम्र की होगी, लेकिन अकेलेपन ने उसे बिलकुल बदल दिया है। पहले वह किसी अच्छी नौकरी पर थी, लेकिन अब नर्सिंग की ट्रेनिंग लेकर एक नर्सिंग होम में काम करती है। उसने बड़ी शिद्दत से जीवन-साथी खोजने की कोशिश की थी; लेकिन सब जगह निराशा ही

हाथ लगी। सब जगह से हारकर उसने विनय मोहन से कहा था और वह राजी हो गया था। तब उसने राहत की साँस ली थी और उसमें जीवन का नया संचार हुआ था; लेकिन यह साथ तीन साल भी नहीं चला था। उसे निरानंद वैवाहिक जीवन निरर्थक लगा था और उसने तलाक़ ले लिया था। वह ऊब से भरी हुई अकेली ज़िंदगी से मुक्ति पाने के लिए कभी बिल्ली पालती है, कभी कुत्ता पालेती है, कभी धर्म-परिवर्तन की बात सोचती है लेकिन इनसे होता कुछ नहीं। सुबह डबल रोटी देने के लिए आने वाला लंगड़ा साग्रह उसी से बात करता है और बाहर उसके संबंध में गंदी-गंदी बातें करता है। नौकरानी से उसकी बातें सुनकर वह हँस पड़ती है और सोचती है कि, ''एक लँगड़ा आदमी, डबल रोटी और मज़ाक़ के सिवा और है ही क्या ज़िंदगी में।'' (समग्र कहानियाँ; पृष्ठ 319)

वाचक/कहानीकार की यह टिप्पणी विमला, कुंती और लज्जा की तरह सुनीता को भी व्यक्ति नहीं रहने देती, उसे एक प्रतीक बना देती है। सुनीता ऐसी स्त्री की प्रतीक बन जाती है, जो सुंदर है, समझदार है, शिक्षित है, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है; लेकिन अकेली है। वह बहुत भटकती है; अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए विवाह करती है; लेकिन विवाह करने से भी उसकी समस्या का समाधान नहीं होता और वह तलाक़ लेकर फिर अकेली ज़िंदगी जीने लगती है और लोगों के अश्लील मज़ाक़ का विषय बनती है। वह अपने अतीत से मुक्त होकर चैन से जीना चाहती है, लेकिन यह संभव नहीं हो पाता।

अन्य तीन स्त्री पात्रों की तरह सुनीता को लेकर वाचक/कहानीकार आकांक्षा व्यक्त करता है, ''परमात्मा करे, यह लँगड़ी ज़िंदगी किसी को न मिले और यह मज़ाक़ किसी को न सहना पड़े! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।'' (वही; पृष्ठ 319)

इस प्रकार कमलेश्वर ने अपनी इस कहानी में चार लड़कियों/स्त्रियों की कहानियाँ कही हैं; जो ऊपरी स्तर पर चार हैं, लेकिन आंतरिक स्तर पर एक ही मध्यवर्गीय युवती के विकास की चार अवस्थाएँ हैं। हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि एक तो इस कहानी के शीर्षक से होती है—'एक थी विमला'। दूसरे, विमला के बाद की तीनों युवतियों में 'विमला की झलक-सी' दिखाई देती है। इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों में अनेक समानताएँ हैं—चारों लगभग समवयस्क हैं, चारों का संबंध मध्यवर्ग से है; चारों सुंदर और शिक्षित हैं; चारों के सामने आर्थिक समस्याएँ आती हैं; चारों उन्हें अपने-अपने ढंग से हल करती हैं; चारों के प्रति समाज का एक वर्ग ललचायी दृष्टि से देखता है और चारों उससे अपने-अपने ढंग से निपटती हैं। इसलिए चारों एक ही विमला के परस्पर किंचित् भिन्न रूपांतर हैं।

लेकिन चारों में भिन्नताएँ भी हैं। विमला का पिता जीवित है; उसके पिता का अपना मकान है; वह पढ़ रही है; पढ़ने के बाद नौकरी करके अपने भाई-बहनों को पढ़ाना चाहती है और उसके बाद किसी अच्छे-से युवक से शादी करना चाहती है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने की विवशता उसके सामने नहीं है। वह बाहर वालों के सामने कभी मुस्कुराती नहीं है। उसके संबंध में बाहर वाले अश्लील कहानियाँ नहीं गढ़ते हैं; भद्दे मज़ाक़ नहीं करते हैं। कुंती के पिता किराए के मकान में रहते हैं; उनकी आर्थिक स्थिति क्रमशः ख़राब होती जाती है; रहने के लिए किराए का एक कमरा-भर है; वह भी पढ़ रही है; अपने भाई-बहनों और अपने विवाह के लिए उसकी आकांक्षाएँ भी लगभग विमला जैसी हैं; लेकिन पिता की मृत्यु और बड़े भाई के अलग रहने के कारण परिवार के सारे दायित्व उसके ऊपर आ पड़ते हैं; जिन्हें वह अपनी सामर्थ्य-भर निभाती है; अंततः क़र्ज़ लेने के

लिए और बाहर वालों के सामने मुस्कुराने के लिए विवश होती है। लज्जा के साथ भी उसका परिवार है, माँ है, लेकिन पिता शायद नहीं हैं। परिवार का सारा आर्थिक दायित्व उसके ऊपर है। उसके जीवन के चार-पाँच वर्ष बड़े दुखदायी और संघर्षमय रहे हैं; लेकिन उसने आर्थिक संपन्नता प्राप्त कर ली है। वह और उसका परिवार एक फ़्लैट में शानदार ढंग से रहते हैं और वह हमेशा मुस्कुराती रहती है। उसने आर्थिक संपन्नता ऐसे ढंग से प्राप्त की है कि सब उसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं; उसके चरित्र को लांछित समझते हैं; उसके संबंध में अश्लील कहानियाँ गढ़ते हैं और भद्दे मज़ाक़ करते हैं। उसका परिवार उस पर पूर्णतया निर्भर है; उसके कारण लज्जित और विवश है और उसकी डाँट-फटकार चुपचाप सुनता है। लज्जा स्वयं भी अपने जीवन से पूर्णता संतुष्ट नहीं है। अनेक पुरुषों से उसके संबंध हैं; लेकिन कोई भी उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं है। सुनीता का कोई परिवार नहीं है। वह अकेली है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है। अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए वह विवाह करती है; तलाक़ लेती है और फिर अकेली रह जाती है। वह भी भद्दे मज़ाक़ का विषय बनती है; लेकिन वह भद्दे मज़ाक़ पर हँसती है।

विमला के न मुस्कुराने; कुंती के विवश होकर मुस्कुराने; लज्जा के हमेशा मुस्कुराते रहने और सुनीता के हँसने में मध्यवर्गीय युवती के व्यक्तित्व-विकास और नैतिक बोध के परिवर्तन की सूक्ष्म व्यंजनाएँ अंतर्निहित हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में दिल्ली जैसे विकसित होते, बदलते महानगर में मध्यवर्गीय युवतियों के जीवन के प्रति, नैतिक मूल्यों के प्रति, परिवार के प्रति तथा इसी प्रकार की अन्य चीज़ों के प्रति बदलते उपागम को कमलेश्वर ने बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया है। इस बदलाव का मूलाधार आर्थिक है। आर्थिक बदलाव केवल व्यक्ति को ही नहीं, पूरे समाज और व्यक्ति तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को भी बदल रहा है। इसलिए बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की दृष्टि प्रगतिशील है; और यदि दक़ियानूसी दृष्टि न अपनाई जाए तो उसे प्रगतिवादी दृष्टि कहने में भी हमें संकोच न होगा।

इस कहानी के चारों स्त्री पात्रों की ज़िंदगियाँ अधूरी हैं। विमला न आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है और न ही सुयोग्य युवक से विवाह की उसकी आकांक्षा पूरी हुई है। वह अपनी भावी ज़िंदगी की पूर्णता के प्रति आश्वस्त अवश्य है, लेकिन प्रतीक्षारत है। कुंती के जीवन की पूर्णता का नक़्शा भी लगभग वही है जो विमला का है; लेकिन पिता की मृत्यु ने और परिवार की विपन्नता ने उसमें व्यवधान डाल दिया है। भविष्य में उसकी ज़िंदगी पूर्णता प्राप्त कर पाएगी, इसके संबंध में संदेह उत्पन्न कर दिया है। लज्जा की ज़िंदगी भी अधूरी है। वह भी संदेहास्पद ढंग से ही आर्थिक संपन्नता प्राप्त करने के बाद दिलीप से विवाह का प्रस्ताव कर उसे पूर्णता प्रदान करना चाहती है; लेकिन उसके साफ़ इनकार से उसकी संभावना ही समाप्त हो जाती है। सुनीता भी विवाह करके अपनी ज़िंदगी को पूर्णता प्रदान करना चाहती है; तलाक़ उसकी पूर्णता को खंडित कर देता है और वह 'लँगड़ी ज़िंदगी' जीने के लिए विवश हो जाती है। इन चारों की ज़िंदगियों के अधूरेपन को हर एक की कहानी कहने के बाद इस प्रकार कथनों से स्पष्टतः सूचित कर दिया है, "विमला के घर की कहानी यहीं ख़त्म हो जाती है; क्योंकि अभी इससे आगे कुछ हुआ नहीं है। इस तारीख़ तक घटनाएँ यहीं तक पहुँची हैं।" (वही; पृष्ठ 311) ये वाक्य प्रत्येक कहानी के बाद पुनरावृत्त हुए हैं। बस, विमला की जगह क्रमशः कुंती, लज्जा और सुनीता नाम रख दिए गए हैं।

प्रत्येक कहानी के अंत में इन वाक्यों की तरह ही 'क्योंकि दुनिया यही चाहती है' को भी पुनरावृत्त किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि 'व्यक्ति' की आकांक्षा और 'दुनिया' की आकांक्षा में परस्पर विरोध है। दुनिया और व्यक्ति के द्वंद्व में पराजय व्यक्ति की ही होती है। क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि कमलेश्वर निराशावादी हैं? ऊपरी तौर पर तो यही लगता है। संभवतः स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रारंभिक वर्षों में होने वाले मोहभंग और निराशावाद से कमलेश्वर और 'नई कहानी' के कई अन्य कहानीकार प्रभावित हैं। यह मोहभंग और निराशावाद साठोत्तर कहानी और कविता में और प्रखर रूप धारण कर लेता है। लेकिन एक व्यंजना यह भी हो सकती है कि यदि हमें व्यक्ति की सामान्य आकांक्षाओं को भी पूरा करना होता तो दुनिया को बदलना होगा; एक ऐसी नई दुनिया रचनी होगी, जिसमें हर व्यक्ति की आकांक्षाएँ पूरी हों और दुनिया यही चाहे कि हर व्यक्ति के सपने पूरे हों; हर व्यक्ति पूरी ज़िंदगी जिये; किसी को लँगड़ी ज़िंदगी न जीनी पड़े।

कमलेश्वर की इस कहानी को पढ़ते समय हमारे मन में यह प्रश्न भी उठता है कि स्त्री की पूर्ण ज़िंदगी या लँगड़ेपन का अनुभव न होने दें, जिनके कारण उसका आचरण गरिमापूर्ण हो? कहानी से हमें लगता है कि कमलेश्वर की दृष्टि में स्त्री-जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है कि वह भरे-पूरे परिवार की सदस्य हो, आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो, उसका संतुलित, संतुष्ट और सुखमय दांपत्य जीवन हो; समाज में स्नेह और सम्मान मिले। स्त्री के जीवन की पूर्णता की यह अवधारणा मध्यवर्गीय पारंपरिक भारतीय अवधारणा है। कमलेश्वर के लिए और तमाम मध्यवर्गीय भारतीयों के लिए इस अवधारणा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी; लेकिन उत्तर-पूँजीवाद से प्रभावित स्त्री-विमर्शवादियों में से अनेकों को यह स्वीकार्य नहीं होगी; क्योंकि वे स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता के भी पक्षधर हैं। उसकी व्यक्तिगत स्वाधीनता में यौन स्वच्छंदता भी शामिल है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री के लिए पति के रूप में पुरुष कोई अनिवार्यता नहीं है; आवश्यकता भी नहीं है। यौन शुचिता से संबद्ध नैतिक मूल्य भी उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। कमलेश्वर की इस कहानी से मुझे लगता है कि वे इतने 'आधुनिक' नहीं थे, जितने स्त्री-विमर्शवादियों को स्वीकार्य हैं।

कमलेश्वर की इस कहानी का शिल्प अत्यंत प्रौढ़ है। उन्होंने इस कहानी में जो वस्तु प्रस्तुत की है, वह यथार्थ जीवनानुभव से ली गई है, लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्होंने जीवन का एक टुकड़ा उठाया हो और उसे ज्यों-का-त्यों हमारे सामने रख दिया हो। निःसंदेह उन्होंने जीवन का एक टुकड़ा उठाया है; लेकिन उसे ख़ूब तराशकर हीरे की तरह चमकाकर प्रस्तुत किया है। यह तराश घटनाविन्यास, चरित्र-सृष्टि और भाषिक-स्तर पर इतनी अधिक है कि कभी-कभी उसमें से कहानीकार की सजगता...कलात्मक सचेतनता स्पष्ट झलकने लगती है; लेकिन उसमें सजीवता ऐसी और इतनी है कि हमें कृत्रिमता का आभास नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे वे एक-एक घटना को बहुत सोच-विचार, काट-छाँटकर प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके कारण इस कहानी का घटना-विन्यास अत्यंत व्यंजक और बहुआयामी बन गया है। भाषिक स्तर पर एक-एक शब्द बहुत व्यंजकता से भरकर प्रस्तुत किया है।

इसीलिए इस कहानी में प्रस्तुत स्त्री-पात्रों की ज़िंदगियाँ तो अधूरी हैं, लेकिन कहानी पूर्ण है। उसे आसानी से एक क्लासिक रचना की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार के पाठकों के लिए पठनीय और कलात्मक कहानी है।

पद्मा सचदेव

हम जहाँ पहुँचे कामयाब आए

उत्तर प्रदेश में आगरा के पास एक क़सबा है मैनपुरी। अंग्रेज़ों की गुलामी के दिनों में ये स्थान क्रांतिकारियों की कार्यभूमि हुआ करती थी। चंद्रशेखर आज़ाद व रामप्रसाद बिस्मिल जैसे नामी लोग भी यहाँ आकर सावित्री धर्मशाला में ठहरा करते थे। एक तरह से यह स्थान देश पर मर मिटने वाले बाँकुरों की कार्यस्थली थी। इसकी जानकारी इस क़सबे के कई लोगों को थी पर चूँकि यहाँ के बहुत लोग देश की आज़ादी के संग जुड़े थे इसलिए जहाँ तक भी हो सकता, ये बात सिर्फ़ लोगों के मन में ही रहती थी।

भारत के किसी भी क़सबे की तरह था मैनपुरी। यहीं एक गली में ज़मींदारों का बड़ा-सा घर था। जहाँ लक्ष्मी व सरस्वती मिलकर रहती थीं। घर के सामने ही राजा का बाग़ भी था। ये बाग़ बच्चों के लिए भाग जाने की वजह भी हुआ करती थी। इसी घर में अपनी माँ के पीछे-पीछे जाता एक छोटा बच्चा मानो माँ का बेटा नहीं बेटी थी। कुर्ता पहने माँ का आँचल थामे उनकी हर गतिविधि पर उसकी नज़र रहती। माँ चूल्हा कैसे सुलगाती है, दाल में छौंक कैसे लगाती है। मठरी कैसे तलती है, दूध कैसे औटाती है, लस्सी में से मक्खन कैसे निकाल लेती है, अचार कैसे डालती है, कैसे-कैसे पान में कत्था-चूना लगाकर उसे लपेटती है, चौके में राजरानी-सी बैठी कैसे अपने सबसे छोटे बेटे को गोद में छुपाए लाड़ लड़ाती है, सूई में धागा डालते समय कैसे सूई के नक्के में आँख जमाए मानो ख़ुद ही घुस जाती है, कितने तरह-तरह के कपड़े सी लेती है माँ। माँ से अधिक बुद्धिमान, होशियार और निपुण क्या कोई और भी है! सिलाई की मशीन भी कैसे धड़ल्ले से चला लेती है माँ, नहीं, माँ से निपुण कोई नहीं हो सकता, न ही माँ जैसा कोई होता है तभी तो अस्सी बरस का बूढ़ा भी पीड़ा होने पर बुख़ार चढ़ने पर सिर्फ़ 'हाय माँ' कहता है, 'हाय बाप' कहते तो कभी भी नहीं सुना।

ये नन्हे मियाँ जो बेटा होते हुए भी अपनी माँ की बेटी जैसे हैं, हर फन में उस्ताद क़लम से साहित्य को, अक्षरों की हर विधा परोस देने में माहिर हमारे कमलेश्वर जी ही तो हैं। तीसेक बरस तो उन्हें जानते हुए हो गए हैं। उनके कई रूप आँखों में घूमते हैं।

साहित्य अकादेमी, हिंदी अकादमी, जम्मू कश्मीर कल्चरल अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित पद्मा सचदेव का जन्म 1940 में हुआ। इनकी कविता, साक्षात्कार, कथा-साहित्य, संस्मरण की हिंदी और डोगरी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित।
संपर्क : बी-242, चित्तरंजन पार्क, प्रथम मंज़िल, नई दिल्ली 110019
मो. 9811147654

सारिका दफ़्तर में पाइप के धुएँ से भरे कमरे में बिंदास हाथ में क़लम लिए काग़ज़ों पर झुके कमलेश्वर, बसंत पंचमी के दिन डॉ. धर्मवीर भारती के साहित्य सहवास वाले घर के प्रांगण में होली के दिन ठहाके लगाते, चुस्त जुमले गुलाल की तरह उड़ाते कमलेश्वर, अपनी बेटी मानू पर कितना-कितना स्नेह लुटाते कमलेश्वर, बंबई के टेलीविज़न पर 'परिक्रमा' कार्यक्रम में पूरी बंबई को बाँधकर रखते कमलेश्वर, बड़े स्नेह, बड़े अधिकार और विश्वास से अपनी पत्नी को गायत्री गायत्री करते कमलेश्वर।

याद आ रहा है। बांद्रा में प्रसिद्ध दर्ज़ी ओमप्रकाश। स्त्रियों से घिरा, स्त्रियों से उकताया, स्त्रियों की डाँट-फटकार सुनता, स्त्रियों के माप-तोल लेता ओमप्रकाश। कई बार मैं उसकी दुकान की भीड़ में कोने पर पड़े स्टूल पर बैठी उसका धीरज तोलती रहती। स्त्रियों के संग उसका झूठ का भीषण युद्ध देखती। हर बार सहनशक्ति से झेलता ओमप्रकाश। कैंची हाथ में पकड़े-पकड़े कुछ न सुनता ओमप्रकाश। कमलेश्वर जी के प्रोग्राम 'परिक्रमा' में हर आम-ख़ास व्यक्ति आता था। कमलेश्वर जी को पता नहीं क्या सूझी उन्होंने ओमप्रकाश को बुला लिया।

हामी तो उसने भर ली पर गया नहीं। मैंने उसे पूछा, "मास्टर जी इतने लोकप्रिय शानदार प्रोग्राम 'परिक्रमा', जिसमें हर कोई जाने को लालायित रहता है, आप गए ही नहीं, कमाल के आदमी हैं आप।" उसने कहा, "मैं आदमी नहीं दर्ज़ी हूँ। वो भी औरतों का दर्ज़ी। कमलेश्वर जी को कहिए एक दिन आकर मेरी दुकान पर दो घंटे बैठकर दिखाएँ फिर इनको पता चलेगा।" मैंने कमलेश्वर जी को बताया तो उन्होंने मान लिया कि हाँ ये काम कठिन है।

तो बचपन में कमलेश्वर जी अपनी माँ के पीछे जाते-जाते बहुत कुछ जान गए। आज पूछने पर वो अचार में डालने वाले सभी मसालों के नाम बता सकते हैं। मैनपुरी का वो घर उन्हें वैसे ही याद है जैसे अभी-अभी उठकर सीधे वहीं से चले आ रहे हों।

कहने लगे, "घर के पास मिडिल स्कूल था। इमली के घने पेड़ थे। पेड़ों पर बंदर छिलके समेत इमलियाँ खा रहे होते। असल में बंदर भी हमारे दोस्त थे। हमें उनसे डर नहीं लगता था। कई बार तो हम मिलकर इमली तोड़ते थे। नई कोंपले आती रहती थीं। माँ ने कहा था, 'इमली को ढेला नहीं मारना।' वहीं कैत्था भी होता था, बेहद खट्टा, ख़ूब खाते, दाँत खट्टे ऐसे भी होते हैं। हमारे स्कूल के रास्ते में एक जंगल पड़ता था वहाँ भी बेरा, कैत्था, कमरख की बेल जिसके फल हल्का चूना लगाने से मीठे हो जाते थे। इन फलों के साथ ही याद आते हैं मक़सूद, रमेश और बिबन। एक शाम था, एक बड़दंता, बड़दंता के दाँत ख़ूब ऊँचे थे। बाज़ार की तरफ़ जाते तो इमली के पेड़ के नीचे लारियों का अड्डा आता। मैनपुरी से लारी पर चलो तो एटा, इटावा, कुरावली तक बसें जाती थीं। वहीं एक स्थान संकिसा, जहाँ कहते हैं महानिर्वाण के बाद बौद्ध यहीं जन्मे थे।"

कमलेश्वर जी ने सिगरेट का धुआँ मुँह में घुमाया तो होलियाँ याद आ गईं।

हाँ होलियाँ याद आती हैं ख़ूब। रंग खेलने का चाव, हुड़दंग करने के मौक़े, टेसू के फूलों का हल्का पुखराजी रंग, भाभियों को मलने का सुख, ढोलक पर तगड़े सुंदर हाथों की थाप के बीच छोटे देवर को पड़ती मीठी गालियाँ खाने का उल्लास, कहीं हवा में बेगम अख़्तर के सुर महक उठते :

छोटे देवर तोरी मुशकें बधैंसैं
जब घर अइहें
हो जब घर अइहें साँवरिया रे
निहुरे निहुरे
निहुरे निहुरे बुहारें अँगनवा निहुरे निहुरे

नाइन के चौड़े तगड़े उबटन से महकते पीठ मलते हाथ जब ढोलक पर थाप देते तो उसकी मोटी बुलंद आवाज़ से पैय्याँ पैय्याँ चलते सैय्याँ सैय्याँ होते देवरों को समय नहीं लगता। मुँह में दुपट्टा देकर अपनी हँसी दबाती जवान मुटियारें शरमाकर भाग जातीं। क्या दिन थे रसीले, रंगीले और जवान।

कमलेश्वर जी को होली के संग कई कुछ याद आ रहा था। सबसे ज़्यादा याद आता है मैनपुरी। बोले, "मैनपुरी पहले अजमेर राज्य के चौहानों का राज्य था। बहुत पुराना मज़बूत क़िला था यहाँ, जिस पर अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर रखा था। हम सात भाई थे। मैं सबसे छोटा, सबसे बड़े महेश्वर भैया। काल ने जब हमारे बीच के पाँच भाई छीन लिए तो हम दो ही बचे। माँ मुझे आँखों से ओझल न करती थी, पर जब क्रांतिकारी योगेश चटर्जी ने माँ को आकर कहा कि ये बच्चा हमें दे दो तब माँ से न करते न बना। उस वक़्त मैं आठवीं में पढ़ता था।

हमारा परिवार क्रांतिकारियों का समर्थक था। क्रांतिकारियों का अड्डा था मैनपुरी में। इस अड्डे पर चंद्रशेखर आज़ाद व बिस्मिल जैसे नामी क्रांतिकारी आए थे। मैनपुरी के गेंदालाल दीक्षित भी क्रांतिकारी थे, बाद में मैंने उन्हें दिल्ली में लोगों को पानी पिलाते देखा तो बड़ा दुख हुआ। मैनपुरी षड्यंत्र केस में वो शामिल थे।

ईसाइयों के आने के बाद मैनपुरी को ज़िला बना दिया गया था। चर्च बन गए पर लोगों के मन में प्रतिशोध की भावना बढ़ती ही चली जाती थी। क्रांतिकारियों की चिट्ठी लाने ले जाने के लिए हमारी उम्र के बच्चों को ढूँढ़ा जाता था। तभी तो हमें योगेश चटर्जी ने अम्मा से माँग लिया था।

बचपन में मुझे रेल देखने का बड़ा चाव था। ऐसे ही एक दिन रेल देखने गया था तो योगेश चटर्जी मिले थे। उन्हीं के कहने पर मैं क्रांतिकारियों को पत्र पहुँचाने का काम करने लगा था। पत्र पहुँचाने वाले संवादी कहलाते थे। 1946-47 के आंदोलन में हम पकड़ लिए गए। 19 दिन जेल में रहे। ये इलाहाबाद की बात है। उन दिनों यह सब करना बड़ा अच्छा लगता था। यूँ लगता जैसे स्वतंत्रता के लिए इस महान यज्ञ में हम भी आहुति दे रहे हैं।

हमारी एक बड़ी बुआ थीं उनकी शादी फ़र्रुख़ाबाद में हुई थी। उनकी ससुराल के एक बुज़ुर्ग ने गाज़ीपुर में अंग्रेज़ों का ख़ज़ाना लुटने से बचाया था। ग़दर के दौर में अंग्रेज़ों को भी बचाया था। वो अंग्रेज़ परस्त थे। हम अंग्रेज़ विरोधी थे। बुआ की ससुराल वालों को बिना तिलक के महाराज कहा जाता था। उनकी बड़ी हवेली में फूफा जी व उनके बुज़ुर्गों के चित्र लगे हुए थे।

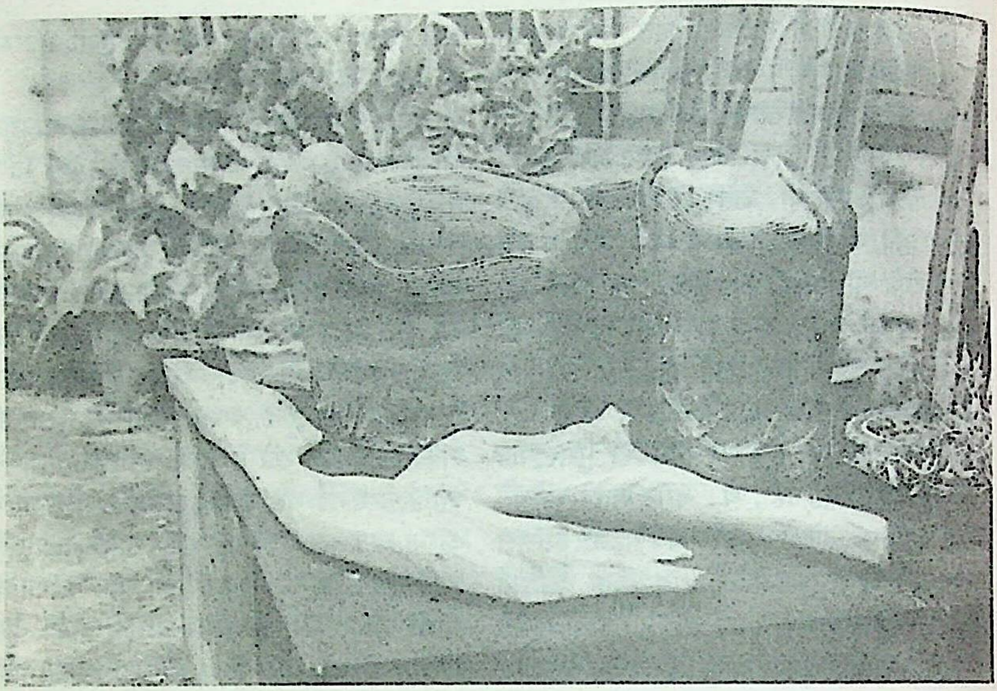
याद आता है। हमें अम्मा के साथ ट्रेन में कहीं जाना था। अम्मा आँगन में थी। तभी हमारी चाची के हाथ से पता नहीं कैसे फूल की थाली गिरी और टूट गई। अम्मा ने कहा, ये अपशगुन है हमारे ऊपर विपत्ति आनेवाली है। मैं तब पाँच-छह बरस का था। थाली टूट जाने से ट्रेन में जाने का उत्साह भी ठंडा पड़ गया। मन खट्टा हो गया। मैं और अम्मा, मुझसे बड़े भाई से मिलने इटावा जा रहे थे। भाई वहाँ पढ़ता था। हमारा कपड़े का थोक काम भी था। देसावर का कपड़ा आता था। गोदाम में गठरियाँ पड़ी रहती थीं। हमारे दो गाँव थे पर हमारे पिता इतने भले थे कि जिन किसानों को गाँव दिए थे, उन्हें कहते थे सिर्फ़ इतना पैसा दो कि मैं मालगुज़ारी दे सकूँ। लगान भी देना होता था। मुझे याद है खेतों में फ़सल होती तो आम आ जाते, हरे चने, शकरकंद, गन्ने का रस। पूरा घर भर जाता, गन्ने का रस दूध में डालकर खाया जाता था। गन्ने का रस उबालकर उसके ऊपर की कत्थई झाग फेंक दी जाती और दूध मिलाकर खाया जाता। आम के

टोकरे ठंडे पानी में रख दिए जाते, जितने चाहो चूसो, फेंको। घर में दो गाएँ, तीन भैंसें थीं। हमारे घर में गोश्त खाया जाता था पर पिता जी ज़्यादा सब्ज़ियाँ खानी पसंद करते थे। घर में रोज़ गोश्त आता था। बाहर दो गोश्त की दुकानें थीं। पिता जी उनसे किराया नहीं लेते थे। वे दोनों रोज़ बारी-बारी से गोश्त भिजवा देते थे। इन्हें चिकवे कहा जाता था। तीज-त्योहार में सभी एक-दूसरे से मिलते थे। हमारे घर के पिछवाड़े में सैय्यदों की कोठी थी। उनके साथ उठना-बैठना था। हमारे हकीम भी मुसलमान ही थे। पर जर्राह हिंदू थे। जर्राह फोड़े खींचते और नाख़ून काटते थे। उन्हें अजब महारत हासिल थी। उन दिनों यूनानी व आयुर्वेदिक दवाइयाँ चलती थीं। ज़ुक़ाम होता तो आँगन में फूली तुलसी का काढ़ा पिया जाता। हमारे घर के बाहर ही नीम का पेड़ था। पास में कुआँ था। कुएँ में रस्सी डालकर पानी खींचने में बड़ा आनंद आता। सर्दियों की ठिठुरती सुबह कुएँ का पानी गुनगुना रहता और गर्मियों में ठंडा।

हमारा अपना मंदिर था। शिवरात्रि हमारे यहाँ ख़ूब मनाई जाती थी। इस उत्सव में घर का एक बड़ा घंटा मंदिर में लगाया जाता था। वहाँ देवी-देवताओं की कितनी ही मूर्तियाँ थीं। शिवरात्रि से तीन-चार दिन पहले पार्वती मैय्या का ख़ूब श्रृंगार होता था। हमारी माँ मशीन पर पार्वती के रंग-बिरंगे कपड़े सिलतीं तो हमारी क़मीज़ भी सिल देतीं। उन दिनों त्योहार पर ही नया कपड़ा सिलता था नहीं तो बड़े भाइयों का छोटा पड़ जाता कपड़ा ही पहनते थे। हमारे कपड़े अम्मा ही काटती थीं। दसवीं क्लास तक अम्मा की धोतियों के किनारों को मिलाकर हमारा किताबों का झोला सिया जाता था। मैं पुराने क़िले के पास राजा के बाग़ से फूल तोड़कर लाता था। कुछ कर सक पाने का सुख मिलता। अम्मा रोज़ रामायण पढ़ती थीं। अम्मा पढ़ी-लिखी थीं। पिता जी तो अरबी-फ़ारसी के विद्वान थे।

हमारे यहाँ मैनपुरी में जनमेजय के नागयज्ञ का इलाक़ा है। वहाँ साँप बहुत होते हैं। साँपों को पकड़वाया जाता है, मारा नहीं जाता। हमारे घर के आँगन में पहुँचने के लिए गली की तरफ़ खुलता मोटा दरवाज़ा याद आता है। दीवारें ईंट की, छतें मिट्टी की लकड़ी के शहतीरों पर टिकी रहतीं। शहतीर के ऊपर चुनाई की जाती थी। हमारे यहाँ रसोई के चार दरवाज़े थे, घुसते ही लकड़ियाँ, कंडे रखे मिलते। वहीं पर अम्मा ने ओखली बनाई थी, चक्की भी थी। ओखली में अम्मा धान और न जाने क्या कुछ कुटवाती थीं। दालें दलने के लिए चक्की भी थी। चक्की के बीचों-बीच कील के ऊपर बारीक-मोटी दाल पीसने या दलने के लिए कपड़ा लगाती थीं। कौन-सी दाल दलने के लिए या कौन-सा अनाज पीसने के लिए चक्की की कितनी ऊँचाई हो ये उन्हें बख़ूबी मालूम रहता था। मैं ये सब देखकर चमत्कृत होता रहता। फिर सोचता, अम्मा से गुणी भला कौन हो सकता है।

हमारी अम्मा का सबसे बड़ा हुनर जच्चागीरी था। मुहल्ले की बहुएँ बेटियाँ जब भी पेट से होतीं, अम्मा ही को दिखाया जाता। दाइयाँ होतीं, लेडी डॉक्टरनियाँ होतीं पर बच्चा अम्मा ही पैदा करवाती थीं। उनको अंदाज़ रहता था बच्चा कब हो जाएगा। सिर्फ़ वही एक समय होता जब मैं अम्मा के आँचल से बँधा न रहता, नहीं तो अम्मा का आँचल मैं कभी न छोड़ता था। पर जच्चाघर के बाहर डटा रहता था। माँ के जच्चाघर में जाने के बाद कितनी ही आवाज़ें भीतर से आतीं। पहले बच्चा पैदा करने वाली माँ की कुरलाहटें, औरतों की फुसफुसाहटें, फिर हड़बड़ी में इधर-उधर होते क़दमों की आवाज़ें और अंत में वो आवाज़ जिसकी सब प्रतीक्षा करते थे। ऊआँ-ऊआँ। अगर बेटा होता तो थाली बजाने की



आवाज़ें आतीं। बाहर निकलते ही औरतें कहतीं, 'कानी लड़की हुई है।' बस बेटा होने का सुख पूरे घर पर छा जाता।

सावन के झूले पड़ते ही आम के, नीम के दरख़्त चमत्कृत हो उठते। गाँव-घर की सभी बेटियाँ झूला झूलने इकट्ठी हो जातीं। सभी लड़कियों को माँ विदाई देती थीं। एक चुनरी एक लहँगा। अम्मा ही कपड़ा लातीं, अम्मा ही सिलतीं।

उधर आज़ादी की लड़ाई सघन होती जा रही थी। अंग्रेज़ कलक्टर की हम पर निगाह रहती थी। हम हमेशा शक के दायरे में थे। घर में सारी हमदर्दी सुराजियों के साथ थी। उस ज़माने में लिखत-पढ़त नहीं होती थी। किसका कितना बकाया है, ये अम्मा को ज़बानी याद रहता था। बाग़ ज़मीन अब उठा देने की बात आई तो गाँव वालों ने सही दाम देकर सब ख़रीद लिया। उन्होंने अम्मा के साथ रिश्ता निभाया। होली-दिवाली पर सब आकर अम्मा के पाँव छूते थे। मैं सबसे छोटा था। मुझे ऊपर से लेकर नीचे तक सबके पाँव छूने पड़ते थे। अम्मा किसी की भौजी, किसी की ताई, किसी की चाची, किसी की मौसी थीं। उसी तरह हमें भी रिश्ता निभाना होता था। गाँव के लोग पाँच-छह मील दूर चलकर मैनपुरी आते। बैलगाड़ियों पर लादकर फ़सल बेची और आ गए। मैं छोटा बेटा था, सब चाहते थे मैं वहीं रहूँ। सब सोचते, दस तक यहाँ पढ़ूँ फिर बारहवीं कहीं से करके यहीं तहसीलदार लग जाऊँ। पुलिस का उन दिनों उतना रौब न था जितना, तहसीलदार का था। फिर ज़मींदारी ख़त्म हो गई पर इसका हम पर कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ा। हमारा तो पहले से ही सब रामभरोसे था। मैंने कभी नहीं देखा कि काश्तकार आए और कुछ पैसे भी लाएँ। खेत अधबँटाई पर दिए जाते थे। और हमारा घर अनाज, फल, आमों के भरे बोरों, गन्ने और गन्ने के रस से भरा रहता था। अम्मा एक घड़ा गन्ने के रस में एक टुकड़ा लोहे का डाल देती थीं। उस घड़े का मुँह बंद करके

वह पड़छत्ती पर रख दिया जाता था। उसमें से कई तरह की आवाज़ें आतीं। घूँ घड़म्म घं...। उस पर मलाई-सी आती थी जिसे अम्मा निकाल फेंकती थीं, फिर नीचे से पका हुआ सिरका निकल आता था।''

मैं कमलेश्वर जी की बात सुनकर सोच रही थी कौन होगा जिसने सिरका बनाने का आविष्कार किया होगा। कमलेश्वर जी भी कुछ तो सोच ही रहे थे। अपनी सिगरेट बुझाकर फिर अतीत में खो गए। कहने लगे, ''हमारे सात मकान थे। बारह-चौदह दुकानें थीं। मक्खन, घी, मट्ठा आदि की दुकानें। इनका किराया महीने में दो या तीन रुपए होता था। हमारी अम्मा पिता जी की दूसरी पत्नी थीं। पहली की मृत्यु हो गई थी। उनसे हमारे एक भाई थे। वो दस क्लास पास थे। बड़े सुंदर थे। पटापट अंग्रेज़ी बोलते थे। वे राजस्थान में कहीं स्टेशन मास्टर थे। उनका चरित्र अद्‌भुत था। अचकन व चूड़ीदार पायजामा पहने उनकी धज निराली होती थी। वो नंबरी मुक़दमेबाज़ भी थे। पिता जी के रहते ही उन्होंने कुछ मकान, दुकानें व ज़मीन अपने नाम करवा ली थीं। अदालत से उनका लगाव बड़ा रोमांटिक था। वहाँ आते-जाते रहना उनके लिए बड़ा ज़रूरी था और फिर वो वहाँ न जाते तो कहाँ जाते। अंत में एक मुक़दमा लड़ते-लड़ते, किसी के ख़िलाफ़ गवाही देते-देते उन्हें दिल का दौरा पड़ा और वहीं ख़त्म हो गए।

मुझे याद है अम्मा के पास कभी-कभी आते थे। पर पिता जी की मृत्यु के बाद आना शुरू किया। उनकी शादी उस वक़्त के रायबहादुर की बेटी के साथ हुई थी। रायबहादुर इत्र के बड़े व्यापारी थे। दद्दा इत्र के शौक़ीन। कलफ़ लगा इत्र में महकता कुर्ता पहनते। नीचे पंप शू होता।

एक बार वो धोती पहने नंगे बदन तिलक वग़ैरह लगाए वृंदावन चले गए। राधास्वामी हो गए। वहाँ से वो हमारे लिए रबड़ी की कुल्लियाँ लाते थे। उनकी खड़ाऊँ की आवाज़ आती तो बहुएँ भीतर चली जातीं। हमारे घर में मनिहार चूड़ी पहनाने आते थे। दद्दा को पता चला तो नाराज़ होकर कहने लगे, 'मनिहार मेरे घर की बहुओं को चूड़ी क्यूँ पहिनाए?' उन्होंने सारी चूड़ियाँ फोड़ दीं और रोने लगे। एक रोज़ आए तो कोने में खड़े हो गए। मेरा घर का नाम कैलाश है। मैं इलाहाबाद से इंटरमीडिएट करके लौटा था। देखा, आँगन के कोने में दद्दा खड़े हैं। उन्होंने गले की कंठी तोड़ दी। कृष्ण का झूला तोड़ दिया, पूजा का समान फेंक दिया, फिर गोश्त पकाने लगे। उन्होंने ये कहा कि हमारे घर में गोश्त न पके। कैलाश ऐसा कैसे हो सकता है। तुम्हें गोश्त ही खाने को न मिले।

हमारी शादी तय हो गई तो उन्हें पूछा गया। वे नाराज़ हो गए फिर शादी में आए ही नहीं। शादी से पहले कभी सामने से आ रहे होते तो दूसरी पटरी पर चले जाते। उन्होंने माँ को कहा था, 'इसे मत पढ़ाइए' पर माँ ने कहा, 'ये जहाँ तक भी पढ़ना चाहेगा हम इसे पढ़ाएँगे'।

ये बताते हुए कमलेश्वर जी ख़ूब हँसे जैसे अतीत लम्हों को पकड़ने का यत्न कर रहे हों। वैसे भी वो ख़ूब ख़ुशमिज़ाज हैं। अगर कोई बात उन्हें अच्छी न लगे तो चेहरे पर उसकी परछाईं भी नहीं आने देते। अदना से अदना व्यक्ति हो या कोई राजा, सबसे उनका व्यवहार एक-सा रहता है।

कमलेश्वर जी ने अपनी चिर-परिचित सिगरेट से राख झाड़ी फिर कहने लगे, ''हमारे सौतेले भाई अंग्रेज़परस्त थे। हम सब आज़ादी के दीवाने। उन्हें हम दद्दा कहते थे। दद्दा ने एक बहुत अच्छी परंपरा घर में डाली थी। होली के दिन घर में मीट, शराब सब चलती थी। सबसे बड़े को पूरा गिलास भर के शराब मिलती थी। फिर छोटों के लिए उसकी मिकदार कम होती जाती थी। हम सबसे छोटे थे, जब हमारी बारी आती तो चम्मच

भर दारू मिलती। इसके बाद हमें सबके पैर छूने पड़ते थे। पैर छूने के बाद ही वो चम्मच भर हलक से नीचे उतार सकते थे। अपनी भाभी के सामने आज भी हम लोग पैर छूकर पीते हैं। बेटियों को नमस्ते करते हैं।

दूसरे महायुद्ध के समय कानपुर की बड़ी छावनी में यूरोपियन इंस्टीट्यूट था। क्लब था। वहाँ सब अंग्रेज़ आते थे, इनमें से अधिकतर फ़ौजी अफ़सर होते। दद्दा इस क्लब में मैनेजर थे। हम पढ़ रहे थे। कभी वहाँ जाते तो दद्दा बढ़िया नाश्ता बनवाकर खिलाते। दद्दा सावन में सभी को कपड़े देते थे। महायुद्ध में चिंता के साथ सभी का ध्यान करते थे। मेरी शादी तक मैनेजर थे। घर में ख़ूब नौकर-चाकर रहते। उनके छह बच्चे थे।

मेरी शादी का क़िस्सा यूँ हुआ कि माँ और मेरी भाभी गायत्री को देखने फतहगढ़ गईं। देखने जाने का मतलब उन दिनों होता था। उन दिनों लड़की का अनादर नहीं होता था। माँ और भाभी ने इनको देखा तो चेन पहना दी, साड़ी दे दी, बस लड़की अपनी हो गई।''

गायत्री भाभी वहीं बैठी थीं। कहने लगीं, ''ये पट्टी पूजन के लिए आए थे। हमारे घर के लोगों ने इन्हें वहीं देखा था।'' मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि पट्टी पूजने का अर्थ है बच्चे को अक्षरबोध करवाना। ''हमारी बुआ के पोते का पट्टी पूजन था। इसमें पंडित, मौलवी दोनों आते थे। तब ओम और अलिफ़ बच्चे को सिखाया जाता था। इनकी कहानी 'राजा निरबंसिया' तब कहानी पत्रिका में छपी थी हमने वहीं इनका फ़ोटो देखा था।''

कमलेश्वर जी हँसने लगे। शायद सोच रहे होंगे कि देखने पर ही कौन-सा मना कर देती। फिर वे कहने लगे, ''हमारी बारात मैनपुरी से चली। दो घंटे का रास्ता था। हमारी बारात में एक आदमी की आँख ख़राब थी, कुछ उमररसीदा भी थे। यारों को चुहल सूझी। हल्दी से उनके हाथ पीले करके उन्हें दूल्हा बना दिया गया। गायत्री का घर बहुत बड़ा था। इनके पिता नामी वकील थे। क़ायदे से इनके पिता और बड़े भाई जनवासे में नहीं आते हैं। इनके ताऊ जी के पुत्र आए। उन्होंने बूढ़ा दूल्हा देखा तो भड़क गए। ये दूल्हा है क्या? ये तो कमलेश्वर नहीं है!'' कमलेश्वर जी ने ये कहकर ठहाका लगाया। कहने लगे, ''हम पेड़ के नीचे खड़े होकर सिगरेट पी रहे थे। शाम को छिड़काव हो रहा था। बिजलियाँ चमक रही थीं, पर इस घटना के बाद सब बंद हो गया। इनके घर में मीटिंग हुई। घर तो जनवासे के सामने ही था। ये बुढ़ऊ नौशा मियाँ कौन हैं? हमारे ससुर परंपरा तोड़कर जनवासे में आए, आते ही पूछा, 'कमलेश्वर कहाँ है?' हमारे भैय्या ने कहा, 'वो क्या पेड़ के पास खड़े हैं।' मैंने महावर नहीं लगाई थी। नौशा लगता ही न था। वैसे भी मैं सिचुएशन का मज़ा ले रहा था। मुझे देखने के बाद बिजलियाँ जग उठीं, छिड़काव होना शुरू हो गया।

शादी तब सामाजिक त्योहार जैसी होती थी। मैं उन दिनों इलाहाबाद में भावी पादरियों को हिंदी पढ़ाता था। कुछ दिन भारती जी ने भी वहाँ पढ़ाया था। शादी के तीन दिन बाद मैं इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ था। *कहानी* पत्रिका निकल रही थी। इसे प्रेमचंद के बेटे श्रीपद निकालते थे। मैं इसमें उप-संपादक जैसा था। इस पत्रिका से जुड़े होने से कई लेखकों के लेखन से परिचय होता। कौन क्या लिख रहा है, पढ़ने की ललक होती। वैसे भी उस उम्र में सब कुछ कर लेने की हड़बड़ी होती है। और मैं हमेशा कुछ-न-कुछ करता ही रहता था। रेडियो में भी प्रोग्राम करता था। जैसे पत्रों के उत्तर देने, छोटे-मोटे लेख लिखने आदि। उन दिनों रेडियो का माहौल बहुत बढ़िया था, एकदम साहित्यिक।

कई लोगों से मिलना होता, कई कुछ सीखने को मिलता, थोड़ी-बहुत कमाई भी हो जाती। तब मैं 'लाल मुहम्मद' बीड़ी पीता था। ये 1958 की बात है। रेडियो के डायरेक्टर जनरल श्री जे.सी. माथुर थे। वे इलाहाबाद आए थे। वहाँ रेडियो के स्टेशन डायरेक्टर गिरिजा कुमार माथुर थे। उन्होंने डायरेक्टर जनरल को कहा, 'कमलेश्वर जैसा बढ़िया बोलने वाला इलाहाबाद में दूसरा नहीं है।' माथुर साहब ने मुझे दिल्ली में आने को कहा। उन्होंने कहा, 'हम दिल्ली में दूरदर्शन शुरू कर रहे हैं आप दिल्ली आ जाइए?' मैंने पूछा, 'किराया-विराया तो मिलेगा?' उन्होंने मेरी दिल्ली ट्रांसफ़र कर दी। ये अक्तूबर 1959 की बात है। किराए का इंतज़ाम हो गया। हम दिल्ली आ गए। दिल्ली में आए तो पैसों की कमी होने लगी। घरों के किराए बहुत ज़्यादा थे। दूरदर्शन तक आना-जाना कठिन था। टीवी रात दस बजे ख़त्म होता तब कॅनाट प्लेस में उल्लू बोल रहे होते, पर बसें चल रही होतीं। हम बस पर घर आ जाते।

उन्हीं दिनों मैनपुरी में मेरी पहली बेटी पैदा हुई। पर रही नहीं। अपनी पहली संतान का मुँह नहीं देख पाया, ये दुख आज तक सालता है। मेरी बेटी मानू 1962 में पैदा हुई। उस वक़्त भी मैं दिल्ली में था, पर दूरदर्शन छोड़ चुका था। दूरदर्शन छोड़ने की कहानी भी बड़ी दिलचस्प है। हुआ यों कि मलिका एलिज़ाबेथ दिल्ली आ रही थीं। इंडिया गेट पर जो छतरी आज तक ख़ाली है उसमें जॉर्ज पंचम की मूर्ति थी। ग़ुस्साए लोगों ने उसकी नाक तोड़ दी और कालतोर मल दिया। मैंने उस पर कहानी लिखी 'जॉर्ज पंचम की नाक'। अब हालत ये कि मलिका आ रही हैं और नाक कट गई है। सो जैसे-तैसे नाक जोड़ दी गई और कालतोर पोंछ दिया गया, पर कहानी तो वैसी ही थी। सरकार ने आपत्ति की और मैंने दूरदर्शन छोड़ दिया।

उन दिनों केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्षा दुर्गाबाई देशमुख थीं। वे *समाज कल्याण* पत्रिका निकालती थीं। दुर्गाबाई ने कहा, 'पाँच साल का बॉण्ड भरना होगा ताकि तुम भागो नहीं।' ये बात दूरदर्शन में भी डायरेक्टर जनरल ने कही थी। मेरे भाग जाने की ख्याति ज़ोर पकड़ रही थी। उस समय *नई कहानियाँ* पत्रिका भी निकलती थी। उसी में मेरी जॉर्ज पंचम की नाक वाली कहानी भी छपी थी। कहानी का नाम था 'नाक कहाँ से लाओगे'। कहानीकार का पता दूरदर्शन को था, सो मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। वो दिन बड़े कठिन थे। हम करोलबाग में नाईवालान में रहते थे। मानू को लेकर गायत्री आ गई थीं। मानू को सूखा हो गया था। हमने डॉ. रामकिशोर द्विवेदी को दिखाया। वो लेखक भी थे, इसलिए उन पर विश्वास अधिक था। उन्होंने मानू को बड़े प्रेम से ठीक कर दिया। उन दिनों मानू फ़र्श पर घिसटती रहती थी। आर्थिक तौर पर काफ़ी मंदी चल रही थी। तीस में से बीस दिन खिचड़ी बनती थी। बाज़ार से दही आ जाता, दही अचार के साथ खिचड़ी का अपना ही मज़ा है। एक बार मैं बाज़ार से दही लाया और ज़मीन पर रख दिया। मानू वहीं खेल रही थी उसने सारा मुँह दही से भर लिया जैसे कृष्ण माखन से मुँह भर लेते थे।

फिर मोहन राकेश दिल्ली आ गए। उनकी माँ भी साथ थीं। उन दिनों पंजाबियों को पंजाबी भी किराएदार न रखते थे। अम्मा हमारे साथ ही माँ बनकर रहीं। मानू को उन्होंने बड़े लाड़ से पाला। हम पाँच-छह बरस इकट्ठे रहे। उन दिनों माहौल बड़ा आत्मीय होता था जिसे माँ कहते, उसे माँ समझते भी थे।

राकेश की निजी ज़िंदगी बदहाल थी। उनकी दोनों पत्नियों से कई कारणों से पटी न थी। तभी उनकी ज़िंदगी में अनिता आईं। राकेश का बड़ा नाम था। अनिता चमत्कृत थीं। वह राकेश से

ग्वालियर में मिली थीं। एक शाम क्या देखा, अनिता व उनका परिवार एक पूरा ट्रक सामान से भरा हुआ! राकेश के मकान पर आ पहुँचे। हम हैरान! ये क्या हो रहा है? ख़ैर राकेश ने उन्हें एक मकान किराए पर ले दिया और वो भी दिल्ली में जम गए। मेरी भूमिका इस प्रकरण में सिर्फ़ इतनी थी कि जब राकेश अनिता औलक के साथ बंबई चले जाना चाहते थे तब मैं अनिता को राकेश के पास लाया और फिर हवाई अड्डे तक पहुँचाने गया। अब दोस्ती में ये सब तो करना ही पड़ता है।'' यह कहकर कमलेश्वर हँसे। उस हँसी में कितना ही कुछ छिपा हुआ था।

गायत्री भाभी वहीं बैठी थीं। कहने लगीं, ''इलाहाबाद में ये कितने ही नाटक करते थे। एक्टिंग का शौक भी रहा। उन दिनों कुर्सियाँ, परदे, दरियाँ, चद्दरें—सब किराए पर आते थे। ये भी एक नाटक ही था।'' कमलेश्वर जी हँसकर कहने लगे, ''भई जब हम अनिता को राकेश के पास लेकर जा रहे थे तो हमने सोचा, अगर राकेश बताए गए स्थान पर न हुए तो फिर अनिता से कहीं मुझे ही न शादी करनी पड़े।'' इस पर हम तीनों मिलकर हँसे।

हँसते-हँसते ही कमलेश्वर जी ने कहा, ''इस तरह के नाटक ज़िंदगी में किए, जो बाद में फ़िल्में लिखने के काम आए। जब मैं बंबई में सारिका का संपादक होकर चला गया तब अच्छे दिन ज़िंदगी में आ गए। भारती जी *धर्मयुग* के संपादक थे। वे रोज़ मेरे घर आते। वहाँ से हम इकट्ठे कार्यालय जाते थे। मेरी अम्मा के लिए रोज़ पान लाना और बतियाना, उनका रोज़ का नियम था। अम्मा भी उन्हें बहुत चाहती थीं।'' मैंने कहा, मैं अप्रैल में मुंबई गई थी तो पुष्पा भाभी ने मुझे अम्मा के हाथ का नींबू का अचार खिलाकर कहा था, ''पद्मा, भारती जी साल में दो-तीन बार ये अचार खाकर कहते थे, ये अब अमृत हो गया है। बाप रे बाप तीस साल पुराना अचार।'' गायत्री भाभी कहने लगी, ''हमारे यहाँ भी उनके हाथ का अचार रखा है, ये कभी-कभी खाते हैं।''

कमलेश्वर जी ने अपनी उँगलियों में फँसे सिगरेट की राख झाड़ी और बोले, ''बंबई में ही मैंने बासु चटर्जी के लिए मन्नू भंडारी की कहानी पर 'रजनीगंधा' फ़िल्म लिखी। फिर बासु दा के लिए 'सारा आकाश' लिखी। उन दिनों मैं मुंबई दूरदर्शन पर 'परिक्रमा' कार्यक्रम भी करता था। लोग ख़ुद प्यार से देखते थे। उस प्रोग्राम के तो कई क़िस्से हैं। वह श्रीमती गांधी का युग था। एक दिन शक्ति सामंत का फ़ोन आया। उन्होंने पूछा, 'क्या आप मेरे घर खाना खाने आएँगे?' मैंने पूछा, 'अवसर क्या है?' उन्होंने कहा, 'एक कवि आए थे। बोले, मैं इंदिरा गांधी का सूचना अधिकारी हूँ, कविता लिखता हूँ। मैंने उन्हें खाने पर बुलाया है। मैं चाहता हूँ आप भी आएँ।'

पद्मा, उन दिनों 'परिक्रमा' की वजह से मुझे हर कोई जानता था। एक बार दादा मुनि ने कहा, 'लोग हमें देखते हैं हम आपको देखते हैं।' शक्ति सामंत भी वहीं से जानते थे। मैंने सोचा चलना चाहिए। कवि महोदय को जब पता चला कि मैं भी आ रहा हूँ, तब डर के मारे उनकी नीयत बदल गई। वे नहीं आए। असल में वे शक्ति दा से दस हज़ार रुपए भी माँग रहे थे कि पैसे ख़त्म हो गए हैं। ख़ैर, मैं गया। शक्ति दा ने मुझे दारू पिलाई और खाना खिलाया। 'परिक्रमा' वे भी रोज़ देखते थे। जब मैं चलते-चलते बूट के फीते बाँध रहा था तब उन्होंने कहा, 'कमलेश्वर जी, आप मेरी फ़िल्म लिखेंगे।' मैंने कहा, 'ज़रूर लिखूँगा।' इस तरह 'अमानुष' फ़िल्म मैंने लिखी। ये पहली फ़िल्म थी जिसे हिंदी से बंगला में अनूदित या डब किया गया था। इस फ़िल्म की शूटिंग में हम दार्जीलिंग गए, सुंदरवन गए। वहाँ तिस्ता नदी थी, मैं गायत्री और मानू को भी संग ले गया था। शक्ति दा घर

से खाना भेजते थे। हम सब मिलकर खाते थे। पिकनिक जैसा आनंद था।

मुझे याद है अँधेरी में शूटिंग चल रही थी। शर्मिला ने शक्ति दा से कहा, 'ये शब्द बदल दूँ।' शक्ति दा ने कहा, 'नहीं! शब्द सिर्फ़ कमलेश्वर बदल सकते हैं। वे कहें तो बदल दो।' मैं एक बार मुंबई अस्पताल में बीमार था। शक्ति दा देखने आए। जब गए तो तकिए के नीचे चालीस हज़ार रुपए रख गए। मैंने फ़ोन करके उन्हें बताया तो कहने लगे, 'ये आपका बोनस है। फ़िल्म बहुत चली है।' वे बड़ा आदर करते थे। फिर जे. ओमप्रकाश की फ़िल्म 'आंधी' ख़ूब चल गई। चोपड़ा की 'बर्निंग ट्रेन' भी बड़ी तेज़ दौड़ी। उनके यहाँ एक स्टोरी डिपार्टमेंट हुआ करता था। उसमें सीन इधर-से-उधर करना मुख्य काम था। मुझे इससे बड़ी उलझन होती थी। एक दिन मैं गया। मैंने चोपड़ा साहब से कहा, 'एक सीन सुनाना चाहता हूँ।' लेखकों ने सोचा कहीं से तगड़ी चीज़ मार कर लाया है। चोपड़ा समझदार थे अलग ले गए। मैंने सीन सुनाना शुरू किया।

जंगल है, जंगल में प्रकृति की आवाज़ें आ रही हैं। कहीं सन से हवा निकल गई। कोई पक्षी बोला, कहीं अबशार का निरंतर स्वर। उसी जगह एक कुटिया थी। कुटिया का दरवाज़ा बहुत धीरे-से खुला। बीथोवन निकल के आया। सारी क़ुदरत ख़ामोश हो गई। एकदम सन्नाटा। चोपड़ा बड़े मुत्तसिर हुए। उन्होंने अपना सारा कहानी डिपार्टमेंट भगा दिया।''

कमलेश्वर जी एकदम गंभीर हो गए। इस मूड में सिर्फ़ उनकी सिगरेट का धुआँ तैरता रहता है पर राख झाड़ना वे नहीं भूलते। उन्हें आसपास की हर चीज़ का अहसास होता है, उनकी सोच की राह में कुछ नहीं आता।

''पद्मा, काला धन फ़िल्मों की बरबादी का कारण बना। उसी से सब ख़ुराफ़ातें निकलीं। दारू, औरत, रातों की रंगीन पार्टियाँ, होटलों की महफ़िलें, फिर वहाँ से जो बातें निकलती हैं उनमें अगरबत्ती की ख़ुशबू नहीं होती, शराब की, नंगई की, ख़ुराफ़ातों की बदबू होती है। वैसे फ़िल्मों से जुड़े लोगों की बातें करना एक फ़ैशन भी है।''

मुझे याद आया। कमलेश्वर जी की भाभी आई हुई थीं। मैं घर गई तो उन्हें देखा उनकी बेटियाँ भी थीं। गायत्री भाभी एकदम बहू की तरह उनकी सेवा कर रही थीं। मैंने बड़ी भाभी से बात करते-करते पूछा था, ''बचपन में कमलेश्वर जी कैसे थे।'' उन्होंने गायत्री भाभी को देखकर कहा, ''ये तो बड़े मेहनती, बहुत अच्छे आज्ञाकारी देवर हैं, बाक़ी तुम दुल्हन से पूछो, बंबई में ये क्या करता रहा हम नहीं जानतीं।'' कमलेश्वर जी की भतीजियाँ हँसते-हँसते लोटपोट हो गईं। पर बड़ी भाभी वैसे ही निर्विकार रहीं। पुष्पा भारती कमलेश्वर जी के कॉलेज में ही पढ़ती थीं। उन्होंने मुझे बताया था, जब कमलेश्वर जी रात को देर से घर आते थे तब उनकी भाभी उनके आने तक खाने का इंतज़ार करती थीं। उन्हें कहा हुआ था कि पिछले दरवाज़े से आना। अगले से आए तो तुम्हारे भैया ख़ूब डाँटेंगे। कृतज्ञ देवर आज भी भाभी के सामने उसी तरह सर झुकाए हैं। आज उनकी भाभी गर्व से भरी हैं। उनके देवर जैसी ख्याति कितने लोगों की है। जैसी सेवा कमलेश्वर जी व गायत्री भाभी अपनी भाभी की करती हैं वैसी करने वाले आज कितने देवर हिंदुस्तान में हैं। भाभी को मिलने अकसर ही कमलेश्वर घर जाते हैं। भाभी बीमार रहती हैं। एक बार उन्होंने कहा था, ''शाम को कभी बाहर जाने की इच्छा होती है।'' तो कमलेश्वर जी ने गाड़ी ख़रीदकर भिजवा दी। और भी कई बातें हैं जिन्हें बताकर मैं उन्हें छोटा नहीं करना चाहती पर सभी भाभियों को ऐसे देवर की कामना हो सकती है।

बंबई में कमलेश्वर जी वार्डन रोड पर रहते थे। बंबई के दिल का एक हिस्सा पर शायद भीड़ भरे इलाक़े उन्हें अच्छे नहीं लगते। वहाँ उन्होंने बरसोवा के जंगलों में फ़्लैट लिया था। दिल्ली आने पर भी उन्होंने कई घर बदले और अब सूरजकुंड की बेहद शांत, सुंदर और खुली चार्म्सवुड बस्ती में रहते हैं। वहाँ गायत्री भाभी माथे पर अठनिया टीका लगाए मुस्कुराती हुई द्वार खोलती हैं। जब नई-नई शादी हुई थी तो कमलेश्वर जी ने अपने एक पत्र में अपनी दुल्हन पत्नी को लिखा था :

"तुम पर मुझे बड़ा विश्वास है। मेरी इस ऊटपटाँग ज़िंदगी से घबराना नहीं। धीरज रखना, शायद तुम्हारे धीरज के सहारे ही मैं इस जीवन में कुछ कर जाऊँ। कुछ ऐसा हो कि आनेवाला ज़माना मुझे अपना कहकर याद कर सके।"

कमलेश्वर जी की कहानी 'राजा निरबंसिया' गायत्री भाभी ने शादी से पहले ही पढ़ ली थी। उसमें उन्होंने कमलेश्वर जी की तसवीर भी देखी थी। 'राजा निरबंसिया' से *कितने पाकिस्तान* तक का लेखन का सफ़र अभी भी जारी है। तसवीर ख़ूब से ख़ूबतर होती जा रही है। गायत्री भाभी भी इन सब बदलते मौसमों, गाढ़े होते रंगों और ख्याति के आसमानों पर नज़र रखे हुए डटी हुई हैं। कमलेश्वर जी की तरफ़ से कोई कमी नहीं रही होगी, पर लेखक की पत्नी होना कोई मामूली बात थोड़े ही है। कभी लेखक अपनी कहानी की छत पर खड़ा है, कभी उपन्यास के प्रांगण में है। कभी सिचुएशन के कूचे में। वहाँ तो पत्नी का दख़ल नहीं होता। उसका दख़ल अपनी गृहस्थी के हर कोने में है, जहाँ पति भले ही झोंके, पर लेखक का गुज़र वहाँ से नहीं होता। इन उतार-चढ़ावों को पार करना ही लेखक की पत्नी होना है।

मेरे ख़याल में मुझे लेखिकाओं के पतियों के मन में भी झाँकना चाहिए। जब उर्दू की ख्यातिप्राप्त लेखिका इस्मत चुग़ताई से शाहिद साहब शादी करना चाहते थे तब इस्मत आपा ने उनसे कहा था या समझाया था (जैसा वो कहती थीं) कि मैं बड़े गड़बड़ क़िस्म की औरत हूँ, शादी-वादी रहने दो। पर शाहिद भाई ने कहा, "बच्चे होंगे तब?" इस्मत आपा ने कहा, "हाँ भई वो तो हो जाएँगे, उसमें शादी करना ज़रूरी है क्या?" पर शाहिद भाई नहीं माने, शादी हो गई। ये बात बताते वक़्त इस्मत आपा बड़ी मासूमियत से मुस्कुराते हुए कहतीं, "भई मैंने तो मना किया था तब शाहिद नहीं माने, अब फड़फड़ा रहे हैं।"

इस बात पर हम ख़ूब कहकहा लगाते थे, पर बात थी तो रोने की ही।

इन दिनों जब मैं चार्मज़वुड में गई तो इत्तिफ़ाक़ से मानू भी अपने पति व बच्चों के संग आई हुई थी। बंबई में मैंने मानू को छोटी बच्ची के रूप में ही देखा है। कभी स्कूल की ड्रेस, कभी फ्रॉक, साड़ी पहने भी वह मुझे बच्ची ही लगी। उसकी बड़ी प्यारी-सी बिटिया और बेटे ने यहीं अभी कुछ साल पहले मुझे संस्कृत के श्लोक बड़े शुद्ध उच्चारण में सुनाए थे। लड़के तो फूल हैं, महक तो बेटियाँ ही होती हैं। और भई बेटियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। मुझे लगता है बेटियाँ रहती तो माँ के दिल में हैं पर पोस्टल एड्रैस बाप को देती हैं। दोनों ख़ुश। मानू भी अपने पापा की दीवानी है। मैंने कहा, "मानू पापा कैसे-कैसे याद आते हैं।"

मानू कहने लगी, "जब मैं छोटी थी, पापा शाम ही को घर आते थे। घर आते तो मैं कहती, 'पापा कोकाकोला।' तब पापा तुरंत कोकाकोला पिलाने ले जाते। ये दिल्ली की बात है। आती बार मैं कहती, पापा स्कूटर पर घर चलो। तब पापा गोदी में उठाकर घर आते। एक और बात ख़ूब याद आती है, पापा का पता नहीं कौन-सा उपन्यास था मैंने उसका पहला पन्ना फाड़

दिया, पापा से मार पड़ी तो मैं ख़ूब रोई। पापा भी साथ में ही रोने लगे। फिर बाद में बाज़ार ले गए और गुड़िया दिलवाई। तब से मुझे पापा से डर लगने लगा। सिर्फ़ उस वक़्त बात करती जब वो सिगरेट पी रहे होते। तब वह ख़ूब सहज रहते। पापा ने मुझे बहुत कम पढ़ाया। जब मैं ग्रैजुएशन कर रही थी, पापा दिल्ली दूरदर्शन में डिप्टी डायरेक्टर जनरल थे। हम मुंबई में थे। मेरी पढ़ाई चल रही थी। मेरे इम्तहान पास आए तो *मधुशाला* पढ़नी थी। मैंने दिल्ली फ़ोन किया तो पापा आ गए। रविवार के दिन पूरे चार घंटा लगाकर *मधुशाला* पढ़ा दी। पापा अगर कभी-कभी जल्द न आ पाते तो हमेशा फ़ोन करते, चिट्ठियाँ लिखते। चिट्ठी में पूरा ब्योरा होता इसलिए उनके दूर रहने का अहसास ही नहीं होता था। हमेशा लगता हमारे साथ ही हैं। मेरी शादी को 17 बरस हो गए हैं, बिना नागा रोज़ रात को दस बजे के बाद मुझे पापा-मम्मी का फ़ोन आता है। ये क्रम कभी नहीं टूटा। उस समय घंटी बजते ही मेरी सास कह देती हैं, 'तुम्हारा ही फ़ोन है।'

मैं अपनी सास को शुरू से ही आंटी कहती हूँ। इसलिए ये कभी नहीं लगा कि मैं दूसरे घर में आ गई हूँ।''

हिंदी में ग़ज़ल लाने वालों में दुष्यंत भी थे।

कहाँ तो तय था चरागां हर एक घर के लिए
कहाँ चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।

इतनी सुंदर ग़ज़लें लिखने वाले दुष्यंत अमर हैं। दुष्यंत कमलेश्वर जी के क़रीबी दोस्त थे। उन्हीं की बहू हैं हमारी मानू जी।

मानू कहने लगी, ''मैं बहुत छोटी थी जब दुष्यंत अंकल हमारे घर आए थे। आते ही मुझे और मम्मी को अपने घर भोपाल ले गए। मम्मी ने कहा, 'इसका जूता तो ले लेने दीजिए।' उन्होंने कहा 'नया जूता भोपाल में ही दिलवा देंगे।' हम उनके संग चले गए तो उन्होंने ख़ुश होकर कहा था, 'अब वह भी पीछे-पीछे आएगा।'

हम लोगों की रूटीन थी, पापा कितने भी व्यस्त क्यों न हों रात का खाना हम सब इकट्ठे खाते थे। इसके लिए मैं और मम्मी कभी-कभी दो-ढाई बजे तक भी इंतज़ार करते थे। वैसे भी पापा का मूड होता तभी खाना लगता था। खाने पर पापा पूरे दिन की बात बताते। मैं और मम्मी रात को मेरी पढ़ाई के बाद सो जाते, फिर पापा के आने पर खाना खाते थे। मैं आधी जगी आधी सोयी होती थी। उन दिनों पापा *सारिका* तो देखते ही थे, 'परिक्रमा' भी हो रही थी, फ़िल्में भी लिख रहे थे। कॉलेज में लड़कियाँ पापा की बात करतीं तो रोमांच हो आता। कमलेश्वर तो सिर्फ़ मेरे पापा हैं। मैंने आज तक अपना नाम ममता कमलेश्वर ही रखा हुआ है।

एक बार मेरे कॉलेज सेंट जेवियर में डिस्को था। मेरी सहेलियाँ बोलीं, 'तुम ज़रूर आना।' मैंने पापा को कहा, 'पापा मेरा कोई ब्वॉय फ्रेंड नहीं है। मैं डिस्को में कैसे जाऊँ?' पापा ने कहा, 'मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।' उस क्षण जो ख़ुशी मुझे हुई वो बता नहीं सकती। मेरी सब सहेलियाँ भी ख़ुश। उनकी माँएँ भी ख़ुश कि कमलेश्वर जी साथ हैं। सुबह पाँच बजे तक हंगामा रहा। फिर पापा मेरी सहेलियों को उनके घरों में छोड़कर आए।

पापा मेरे दोस्त भी हैं। मेरे पापा भी।'' मैं मन-ही-मन सोच रही थी, मेरी भी एक ही बेटी है। और अपने डैडी से घंटों बात करती रहती है। सच तो ये है कि औरत ज़िंदगी में एक ही सौत बर्दाश्त कर सकती है और वह उसकी बेटी है। मैंने प्यार से मानू को देखा, वह छोटी-सी लड़की अब दो बच्चों की माँ हो गई है। ये गुण बेटियों में ही होता है। वह कभी बेटी है, कभी मित्र, कभी माँ और कभी गुरु। और ज़्यादा तो गुरु ही।

कमलेश्वर

इतने अच्छे दिन...

सचमुच इतने अच्छे दिन तो कभी नहीं आए थे।

पास में अगर हड्डी-गोदाम न होता, तो बहुत मुश्किल होती, सभी कुछ तो अच्छा था। तीन-चार गाँव पास लगे हुए। सबके बीच में सूखे चरागाह। इतने सारे रिश्तेदारों के घर। तीन कोस पर बहती नदी। ऊँचे-नीचे टीलों वाला बियाबान। पास से जाती बस्ती की सड़क। ख़ास सड़क पर रात में ट्रकों के रुकने का अड्डा। उस अड्डे से मील-भर बाएँ हड्डी-गोदाम। उससे भी तीन मील भीतर रेलगाड़ी का स्टेशन।

चारों गाँवों में अगर इतने रिश्तेदार, ढोर-डंगर और जानवर न होते तो भी काम नहीं चलता और बीस मील दूर शहर में चीनी मिलें न होतीं तो भी दिक़्क़त होती। सड़क ऊँचे-नीचे टीले वाले बियाबान से न गुज़रती, तब भी ठीक नहीं था।

घर में छोटी बहन कमली न होती, तो कैसे काम चलता! उस बियाबान से ट्रक न गुज़रते होते, तो भी दिक़्क़त होती। और बंता सिंह ट्रक-ड्राइवर अगर रात में कमली को उठा ले जाता तो उसकी ज़िंदगी ही बरबाद हो जाती।

सब कुछ अच्छा ही हुआ था।

सबसे अच्छी बात तो यह हुई कि इलाक़े में लगातार तीसरे साल भी अकाल पड़ गया। अकाल न पड़े तो घर-गाँव का आदमी बाहर निकलता ही नहीं। जिनके अपने खेत हैं, वे तो बाहर हो आते हैं। जिनके खेत नहीं हैं उनका तो कहीं कुछ भी नहीं है। खेतवालों के खेत पर मजूरी करना और वहीं गाँव में पड़े-पड़े मर जाना। कहाँ कुछ और होता है!

कमली के लिए तो और भी अच्छा हुआ। वह कब कहाँ निकल पाती? बाला के लिए तो फिर भी ऐसा है कि एकाध गाँव घूम आए नदी तक हो आए। दर्जा पाँच तक पढ़ने चला जाए।

नदी तक बिना कहे-सुने बाला हो आए तो ठीक था। कह दिया तो मुश्किल होती थी। दादी उसे हाँकने लगती थी, "नदी पर मत जाया कर। जाए भी तो नहाना कभी मत।" दादी बोलती थी तो पैर की उँगली में पड़े काँसे के छल्ले को घुमाती रहती

कमलेश्वर (1932-2007)
रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती गायत्री कमलेश्वर, 5/116, ईरोज़ गार्डन, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली 110044

थी। शायद वह उसके गड़ता था। दादा भी यही बोलता था।

वे दोनों मानते ही नहीं थे कि वह नदी तक जाएगा और नहाएगा नहीं। और बाला को नदी में उतरते डर लगता था। ऊपर से दादी झूठ बोलती थी, "कहा न, पानी का रंग नहीं होता।"

बाला हमेशा कहता था, "दादी, मेरी बात सुन। मैं देख के आया हूँ। पानी का रंग लाल है—ख़ून की तरह लाल!"

दादा ठठाकर हँस पड़ते थे, "कैसी बातें करता है रे...पानी का कोई रंग नहीं होता। तू नदी पर मत जाया कर। जाए भी तो नहाना कभी मत।"

दादा-दादी की ये बातें असल में अब बाला को याद आती हैं। हँसी भी आती है। उनके पास और बातें ही नहीं थीं। अपन के पास तो बहुत कुछ है। बहुत कुछ क्या, सभी कुछ है।

सर्दी साली कुछ ज़्यादा ही थी। जिधर से कथरी उठ जाती, उधर से हवा अर्जुन के तीर की तरह लगती। कमली खिलखिला रही थी। उसे लगा—चलो, सब ठीक है। कमली ख़ुद तो नहीं पीती, पर ड्राइवरों की शीशी में से दो-चार घूँट बचा के रख देती है उसके लिए—और क्या चाहिए?

साला क्लीनर ज़्यादा ही खुदर-बुदर मचाए हुए था। न सोता था, न सोने देता था। बार-बार बीड़ी सुलगाता है। खाँसता है। कथरी खींचता है। अबे, इतना जाड़ा लग रहा है तो मोबिल ऑयल डाल के अलाव जला ले! नींद तोड़ दी साले ने! कैसी मज़े की नींद आती है यहाँ इस सराय में! कमली यहाँ है तो सब ट्रक वाले बस्तियाँ पार करते सीधे यहीं आते हैं।

ट्रक-सराय के मालिक ने भी पूरा इंतज़ाम कर रखा है। बड़ा-सा हाता घेरकर ट्रकों की सराय बना ली है। बाहर भी दस-बारह ट्रकों की जगह है। दिन में खाने की मेज़ें और बेंचें पड़ जाती हैं, रात को खटिया और खटियों पर पटिया। थके-माँदे ड्राइवर और क्लीनर दिन में भी आराम कर लेते हैं। पूरी रात गुज़ारने के लिए तो पूरा इंतज़ाम है ही।

हर तरह का खाना। मुर्ग़ा-शुर्ग़ा खाना हो तो सामने दड़बे में से पसंद करो। अपने सामने बनवाओ, पकवाओ और खाओ। बीड़ी-सिगरेट की कमी नहीं। ग्रामोफ़ोन भी बजता ही है।

दाँत खोदते-खोदते तसवीरें देखना चाहो तो पचासों लगी हैं। भगवान की तसवीरें अच्छी लगे तो उन्हें देखो। गुरुबाणी सुननी हो तो रिकॉर्ड सुनो। औरतों की तसवीर देखनी हों तो वे भी लगी हैं। लुंगी-कच्छा धोना हो तो पटिया बिछी है, ट्यूबवेल लगा है। सुखाने के लिए तार बँधा है। दिशा-मैदान के लिए मूखे खेत पड़े हैं। अबे, तू क्यों उठ के बैठ गया? सवेरा होने में बहुत देर है। जाड़ा लगता है? अपन को बता! हेऽऽऽ साला बीड़ी सुलगा के खींचे जा रहा है। बीड़ी के जलते फूल में आँखें कैसी चमकती हैं कुत्तों की तरह-लखन क्लीनर की।

कुत्ता भी साला बड़ा भला जानवर है। अकाल पड़ा तो भी नहीं भागे। वहीं गाँव के बियाबान में लाशों को चींथते-चींथते मर गए। गिद्ध साला बहुत तेज़ होता है। चार-पाँच कुत्ते न लगें तो एक गिद्ध को लाश पर से हटाना मुश्किल होता है।

"तू यहाँ आया कैसे?" लखन ने पूछा।

"तू बीड़ी पी ले, अच्छी तरह खाँस ले। बताता हूँ।" बाला बोला था।

"हाँ, बता!"

"तो सुन! तुझे नींद क्यों नहीं आ रही है? अच्छा-अच्छा, सुन! ये कमली मेरी बहन है न...एक शाम..."

"सच्ची?" और लखन कमली की बात पर ही अटक गया।

"अबे और क्या?"

"कमली लड़की अच्छी है। समझदार है। ड्राइवर कहीं और रुकता है तो भी उसी की बात करता है। एक रात ट्रक बिगड़ा तो पैदल लौटने को हुआ। तब हमीं ने ड्राइवर को समझाया,

'अब दस किलोमीटर है। कोई उधर जाता ट्रक ले लो, सवेरे लौट आना। मैं हूँ।' फिर लदे हुए सामान की ज़िम्मेदारी भी थी। सो वह नहीं गया।''

''अच्छा! तो सुन—ये साला बोरा बहुत महक रहा है। पहले इसे हटा दें।''

''क्या है इसमें?'' लखन क्लीनर ने पूछा था।

''हैं! साली हड्डियाँ हैं!''

लखन क्लीनर समझा नहीं। बीड़ी पीकर खाँसने लगा। सर्दी में उठने की हिम्मत नहीं पड़ी तो बोरे से आती बदबू उसने सह ली। क्लीनर बीड़ी पीता है तो बदबू दब जाती है। बीड़ी फेंककर क्लीनर ऊँघने लगा। ''अपन को क्या जरूरत पड़ी है किस्सा सुनाने की? सोओ साले...!''

सुबह उठते ही बबूल की टहनी तोड़कर बाला ने दातून की। लखन अब आराम से सो रहा था। उसे जल्दी नहीं थी। तभी एक ड्राइवर रज़ाई में भालू की तरह हिला। उसने उठकर तहमद बाँधा और दोनों बाँहें छाती से चिपकाए दिशा-मैदान के लिए चला गया।

लखन का ड्राइवर बंता सिंह पहले ही उठ गया था। वह मैदान से लौट रहा था। छप्पर में पड़ी कमली गठरी बनी सो रही थी। उसकी खाट के पाए पर बंता सिंह की पगड़ी अजगर की तरह लिपटी रखी थी।

जल्दी उसे भी थी। उसने बोरा उठाया और सिर पर लादकर हड्डी-गोदाम की ओर चल दिया। साला बोरा बहुत महकता है। पर दाम तो अच्छे देता है—कमली भी चार-पाँच रुपए बना लेती है। एक-सवा रुपया बोरे-भर हड्डियों का मिल जाता है। छह रुपए रोज़ाना कौन कमाता है साला!

यह तो अच्छा हुआ कि चीनी मिलें खुल गईं और यह हड्डी-गोदाम भी! चीनी चमकाने के लिए शोरे की ज़रूरत पड़ती है। पता नहीं, इन सूखी हड्डियों में से शोरा कहाँ से निकलता है? निकलता होगा...

गोदाम के ताक पर बोरा फँसाकर उसने मोटी-सी गाली देकर चंदू को पुकारा...''तौल कर...ये साली सर्दी...''

चंदू कहीं दिखाई नहीं पड़ा। फिर गोदाम में भरी टनों हड्डियों के बीच से आता वह दिखाई पड़ा जैसे पिंजर उठकर चला आ रहा हो। आते ही उसने खीसें निपोर दीं।

''आज सवेरे-सवेरे आ गया बाला?''

''शाम देर हो गई थी।''

''कमली ठीक है?''

वह उसका मतलब समझ गया। चंदू के दिल में एक फाँस है। नहीं तो पूछने की क्या ज़रूरत थी? कब के दूसरे पल्ले पर बाट पटकते हुए चंदू ने फिर कहा, ''ये दिन पहले आ जाते तो काहे हम तीन से दो रह जाते!''

चंदू का कहना तो ठीक था। पर तब यह सब व्यापार शुरू कहाँ हुआ था? इसीलिए तो उसने समझा दिया था, ''देख चंदू, तू कमली की लगन मन से निकाल दे...खाने को दो के लिए नहीं है तो तीन के लिए कहाँ से आएगा?''

''अगर ये अकाल पहले ही पड़ गया होता और हड्डियों का धंधा शुरू हो गया होता तो कौन-सी दिक़्क़त थी!''

वह वही सब सोच रहा था कि चंदू ने तौल करके बोरा नीचे पटक दिया। चंदू के मन में बाला के लिए ख़याल था। धीरे-से बोला, ''इंगरेजी जमाने की एक कबरगाह तीन मील उत्तर में है। कबरों के पत्थर तो सब खोद ले गए, हड्डियाँ दबी पड़ी हैं। उन्हें खोद ला!''

''उनमें से शोरा निकलेगा?'' बाला ने पूछा।

''सब चीज़ में मिलावट होती है, हड्डियों में भी मिला देंगे!'' आँख दबाकर चंदू ने कहा था।

''साला!'' बाला के मुँह से मन-ही-मन गाली निकली थी। देना चाहे तो एक के पाँच रुपए भी दे सकता है। वह नहीं करेगा, पर यह सब बताकर

अपनापन जताएगा। पैसे लेकर वह चला आया था।

लेकिन चंदू ने क़ब्रगाह की ठीक और सही ख़बर दी थी। हड्डियाँ ताज़ी तो नहीं थीं, पर जैसे कोयले की खान हाथ आ गई थी। जहाँ खोदो वहीं हड्डियाँ निकलती थीं। उसे लगा था, ऐसी दो-चार खानें और हाथ आ जाएँ तो ज़िंदगी ही बदल जाए। आदमी अच्छा है चंदू!

पर पुरानी हड्डियों से ज़्यादा चला नहीं।

असल में जब तीसरे साल अकाल पड़ा, तब बाला को होश आया था। अपने रिश्तेदारों की हड्डियाँ कितनी क़ीमती हैं! अपने रिश्तेदारों के ढोर-डंगरों की हड्डियाँ कितनी क़ीमती हैं! हड्डियों के लिए तब महाभारत मचा था। लोग पहरा लगाने लगे थे—ये हमारे रिश्तेदारों की हड्डियाँ हैं...ये उनके ढोर-डंगरों की हड्डियाँ हैं। इन पर हमारा हक़ है!

तब बाला ने जमकर लड़ाई लड़ी थी। गाँव-गाँव में और आस-पास रहते रिश्तेदारों की हड्डियों के लिए वह लड़ता था। ढोर-डंगरों के पिंजरों के लिए उसने लड़ाई की थी।

तभी दादा और दादी मरे थे। आठ दिनों की दूरी पर। और सत्ताईसवें दिन बापू मरा था। अम्मा तो आठ साल पहले मर गई थी। बापू ने बहुत कहा था, पर बाला नहीं माना था कि दादा की लाश को जलाया जाए।

"जलाने से क्या मिलेगा?" बाला बापू पर चीख़ा था।

और बापू चीख़ा था, "अरे कमीने! तू हड्डियाँ भी बेच खाएगा? ऐसी औलाद से तो निपूता ही मरता!"

बापू ने जो कुछ कहा हो, पर ये दिन कैसे आते अगर बापू की बात मान लेता! खाने को क्या था? जीने को क्या था? सब तरफ़ तो धरती झुलसी पड़ी थी।

तभी तो उसने तय किया था कि झुलसी-तपती धरती के नीचे अगर लाश दबा दी जाएगी तो हड्डियाँ जल्दी साफ़ हो जाएँगी। गिद्ध और कुत्ते साफ़ करने में देर लगाएँगे। इधर-उधर खींच के भी ले जाएँगे। पर रात में कोई हड्डियाँ खोद न ले जाए, इसी के लिए तो उसने कमली को पहरे पर लगाया था, और वहीं से, सड़क किनारे से बंता सिंह उसे उठा ले गया था।

यह भी अच्छा ही हुआ था। अच्छे दिन आते हैं तो एक साथ आते हैं। जब बाला को पता चला था कि कमली ट्रकों की सराय में है तो वह गया था। बापू उस वक़्त ज़िंदा तो था, पर इतना ज़िंदा नहीं कि सराय तक आ पाता। वह भूख से धीरे-धीरे मर रहा था। पर फिर भी जीने का कोई और रास्ता खोजने के लिए तैयार नहीं था। असल में यह बहुत भीतरी इलाक़ा था जहाँ तक सरकारी मदद भी नहीं पहुँच पाई थी। जैसे खेत में सरकारी पानी जाता है न, जिस तक पहुँचा, पहुँच गया। उसके बाद...होना वही था। बापू को भी मरना था।

पहले दादा मरा, उसके बाद दादी, उसके बाद बापू! रिश्तेदार और उनके ढोर-डंगर मर ही रहे थे। पर तब तक बापू नहीं मरा था। शायद उसके मरने से एक दिन पहले की बात है। बाला जानवरों की हड्डियाँ बटोर रहा था। गिद्धों और कुत्तों के बीच। साले घसीट-घसीटकर बहुत दूर ले जाते हैं।

तब कमली उसे खोजती हुई आई थी। वह बाला को गिद्धों और कुत्तों के जमघट के बीच खोज ही नहीं पाई थी। उनके बीच वह घुटने मोड़े गिद्ध की तरह ही बैठा था। साफ़ हो गई हड्डियों को बीनता हुआ।

जब दादी की लाश तपती ज़मीन के नीचे दबाने गया था तो कमली ने कहा भी था, "दादी के पैर की उँगली में पड़ा चाँदी का छल्ला निकाल ले!"

"चाँदी नहीं, काँसा है!" उसने परखकर जवाब दे दिया था। कमली इतना जानती भी नहीं थी। काँसा ही होगा।

भला हो चीनी मिलों और बंता सिंह का। ये दोनों न होते तो ये दिन कैसे आते? हड्डियों की खदानें वह क्यों खोदता? कमली ट्रकों की सराय में इतने आराम से क्यों रहती?

वह साला चंदू तो पागल है जो अब भी कहीं कमली की लगन लगाए बैठा है। जो कुछ कमली औरों से पाती है, वह चंदू से तो मिलने से रहा! होगा वही, जो अब होता है, पर ऊपर से चंदू को लिखना और पड़ेगा।

यही सब सोचता-सोचता वह हड्डियों की खदानों की ओर चला गया था। सात-आठ दिन तो इतना काम रहा कि फ़ुर्सत ही नहीं मिली। बोरा भर-भरकर पहुँचाता रहा। चंदू तौलता रहा और कमली की बात करता रहा, पर साले ने न तौल में साथ दिया, न पैसे में। है साला कमीना!

हड्डियों की खदानों से वह आठ दिन बाद लौटा था, रात को। कमली काम से थी। वह कथरी ओढ़कर लेट गया था। सिरहाने रखा हड्डियों का बोरा बहुत बुरी तरह महक रहा था। कमली कुलबुला रही थी। उसने पास जाकर पूछा था, ''कौन है?''

''बस्ती का लाला है!'' कमली ने कहा था।

''इस साले से दस लेना!'' कहते हुए बाला अपनी खाट पर आ गया था। कुछ ही देर बाद सब कुछ शांत हो गया था। यह अच्छा था। बस्ती का लाला जब भी आता था तो शुरू में शोर ज़्यादा मचाता था पर आधा घंटे बाद ही सो जाता था। ड्राइवर तो रात भर हँगामा करते थे। कमली भी बुरी तरह थक जाती थी और दूसरे दिन सोती रहती थी।

कमली तो सो गई, पर उसे नींद नहीं आ रही थी। उस बोरे के कारण। मन बहुत उचटा हुआ था। रह-रहकर दादी की याद आ रही थी।

आज सर्दी भी बहुत थी और वह गाँव के पास वाले ऊँचे-नीचे बियाबान टीले से दादी की हड्डियाँ खोदकर लाया था।

कमली ने तो रात काट ली थी, पर वह अपनी रात नहीं काट पा रहा था...सड़क से ट्रक आ-जा रहे थे। कुछेक सराय पर रुक भी रहे थे।

कड़कड़ाती सर्दी और अर्जुन के तीर की तरह चलती हवा। नीम भी बड़बड़ा रहा था। अँधेरा इतना गहरा कि उठने की हिम्मत ही नहीं पड़ रही थी! मन तो हुआ कि कमली को जा के जगाए और कहे—कमली! दादी की हड्डियाँ इसी बोरे में हैं। बहुत महक रही हैं। इस महक के कारण सो नहीं पा रहा हूँ।

पर कमली थककर सोयी थी। बस्ती वाला लाला भी पड़ा था।

उसने आँखें बंद कर सोने की कोशिश की। एक पल के लिए नींद आई थी कि तभी कोई ड्राइवर चीखा था, ''अबे ओए दीना, चल!''

दीना सोता-ऊँघता जाकर ठंडी गद्दी पर अधलेटा हो गया था और वह ट्रक गुर्राकर चालू हुआ था। फिर हाथी की तरह झूमता सड़क पर जाकर कोहरे में खो गया था।

कथरी ओढ़कर वह खाट पर बैठ गया था और सड़क पर भरे कोहरे को देखता रहा था। चारों तरफ़ सन्नाटा था। मुर्ग़े तक दरबे में चुप थे। कासनी फूलों की बेल पेट्रोल पंप की गुमटी के सहारे काँप रही थी। सनसनाती हवा। मुँह से निकलती भाप। ठिठुरे हुए पेड़। सामने फैले मैदान में रोंगटों की तरह खड़ी हुई घास।

बाला ने फिर लेटने की कोशिश की। लेट भी गया, पर नींद नहीं आई। दादी! नाराज़ मत होना... ये दिन तू भी देख लेती तो शायद कुछ आराम से मरती। अब कमली भी बच गई है और अपन भी। व्यापार भी चल निकला है। यह अकाल न पड़ता और इतने ढोर-डंगर, नाते-रिश्तेदार न मरते तो अपन का भी वही हाल होता। भला हो हड्डी-गोदाम का! चंदू वहीं लग गया था। कमली भी समझदार हो गई है दादी। अपन से उसने बात की थी। कहने लगी, ''चंदू से कह दे क्या फ़ायदा? घर बसाऊँगी तो लौट के वहीं गाँव के

बाहर झोंपड़ी डालनी होगी। कुआँ सूखेगा तो फिर इधर ही भागना पड़ेगा। तब एक-एक लोटे पानी के लिए ब्राह्मण-ठाकुर छोड़ देंगे क्या? अकाल तो हम लोगों के लिए पड़ता है, बाक़ी सबके पास तो बरसों के लिए दाना है, पानी है...यहाँ कोई यह तो नहीं पूछता—कौन जाति है? अपनी ज़रूरत से लोग आते हैं, कल नहीं आएँगे तो इसी सराय के बर्तन-भाँड़े माँज-धोकर चलता रहेगा। ऐसे दिन बार-बार हाथ नहीं आते...चंदू से कह दे क्या फ़ायदा... ?''

''कमली बहुत समझदार हो गई है दादी! तू सुन रही है न!'' अर्जुन का तीर फिर लगा तो उसने कसकर कथरी लपेटी। पता नहीं, कब उठके फिर बैठ गया था। कोहरे की गुफा से एक ट्रक निकलकर फिर कोहरे की गुफा में घुस गया। कुछ देर तक आवाज़ बजती रही।

बाला उठा। कमली को जगा ले। पर...

तभी उसके लिहाफ़ में हलचल और कुनमुनाहट हुई। लाला लिहाफ़ से निकल सुड़सुड़ाता हुआ खड़ा हो गया। कमली बोली, ''लेटा रह, बहुत जाड़ा है!''

लेकिन लाला को तो अँधेरे-अँधेरे निकल जाना होता है। रात कहीं भी निकले पर उसका दिन बस्ती में ही निकलता है। टोपा चढ़ाकर, चादर लपेटकर लाला पगडंडी पकड़कर बस्ती की ओर चला गया।

बाला वैसा ही बैठा रहा। बोरे की तरफ़ देखता हुआ। कमली की भरक टूट गई थी। शायद उसने लिहाफ़ के भीतर से देखा होगा। वह पास आकर खड़ी हो गई थी, ''अरे बाला! तू अभी तक जाग रहा है?''

''नींद नहीं आ रही!''

''थोड़ी-सी उधर पड़ी है अद्धे में, पी ले। मिल जाएगी...सो जा...सो जा...'' कहते हुए कमली अपनी खाट की तरफ़ जाने लगी थी।

''सुन!'' बाला ने कहा था।

''बोल!''

''दादी सोने नहीं दे रही है!''

''दादी!'' कमली ने ताज्जुब से कहा था।

''हाँ...उसकी काया इसमें बैठी है...बोरे में!'' बाला ने कहा था।

''अरे हट!'' कमली ने झिड़क दिया था।

''कमली! वो अच्छा हुआ कि कोई और खोदकर नहीं ले गया। अपन ही पहुँचे खदान पर...पूरा पिंजर निकाला!''

''ऐसे कह रहा है जैसे पहचान लिया हो!'' कहते हुए कमली उसी की खाट पर आधी कथरी ओढ़कर बैठ गई।

''दादी के पैर की उँगली में काँसे का छल्ला अब भी पड़ा है...'' बाला ने कहा तो कमली आगे नहीं बोली। बोरे की तरफ़ देखती रही।

पेट्रोल के दोनों पंप सफ़ेद रज़ाई ओढ़े कानों में उँगली डाले खड़े थे। छप्पर के बाँसों में लटके टायर पुतली निकली आँख के कोटर की तरह देख रहे थे। सड़क किनारे खड़े नीम के पेड़ों की गर्दनें कोहरे की तलवार ने काट दी थी। ट्यूबवेल के ठंडे पाइप की बाँह कच्ची गुमटी की कमर में लिपटी हुई थी। और वे दोनों वहीं खाट पर चुपचाप बैठे थे। जाड़ा बरस रहा था। अब दोनों को नींद आ रही थी। वक़्त का कुछ अंदाज़ा नहीं था।

घुटनों पर बाँहें मोड़े, ठोड़ी टिकाए कमली बैठी थी। पाटी का सहारा लिए बाला अधलेटा था। तभी सामने, दूर कोहरे के टुकड़ों के पीछे काले आकाश में कुछ हलचल-सी हुई थी। काले बादल की लोहे की किनारी थोड़ी-सी चमकी थी...जैसे उसके पीछे आग की भट्ठी की एक दहकती लपट उठी हो। पर फिर लोहा ठंडा पड़ गया था। एक पल बाद काले लोहे की कई किनारियों पर लपट के आसार दिखाई दिए थे...फिर वे बुझ गए थे। पर भट्ठी शायद बराबर धधक रही थी। गढ़िया लुहारों का कोई पड़ाव आसमान के पीछे है क्या? धौंकनी चल रही थी और आग बढ़ रही थी। धीरे-धीरे लोहे की

किनारियाँ पीली पड़ गई थीं...जगह-जगह बादलों के होंठ नीले हो गए थे। कोहरे के चकत्ते आग ने सोख लिए थे। आसमान में जगह-जगह चीरा लग गया था। तब घास के खड़े रोंगटे सुरमई से सुनहरे हुए थे और गर्दन कटे पेड़ों के सिर नज़र आने लगे थे।

बाला कसमसाकर सीधा बैठ गया था।

कमली ने पूछा था, "ये हड्डियाँ गोदाम ले जाएगा?"

"हाँ।" बाला बोला था।

"सुन बाला!...इन्हें नदी में सिरा दे!"

बाला अचकचाकर रह गया। यही कुछ तो, कुछ इसी तरह की बात तो वह भी सोच रहा था, पर यह नहीं सोच पाया था कि दादी की काया को नदी में सिरा आए।

"ठीक है न!" कमली ने कहा, "बुरे दिन होते तो दूसरी बात थी। गोदाम में ही दे आता..."

"हाँ!" वह बोला, "तड़के-तड़के निकल जाता हूँ...नदी दूर है। दिन चढ़े तक लौट आऊँगा।"

और वह बोरा उठाकर सड़क पार करके मैदान में उतर गया था, उस पगडंडी पर जो नदी की ओर जाती थी। कमली उसे तब तक देखती रही थी, जब तक वह पेड़ों के झुरमुट के पीछे अलोप नहीं हो गया। कमली जाकर अपनी रज़ाई में गठरी बनकर लेट गई थी। आदमी साथ होता है तो टाँगें पसारकर सोने में भी उतनी सर्दी नहीं लगती। भरक मिलती रहती है। पर नींद बुरी तरह घिर रही थी। लेटते ही उसे नींद आ गई। बहुत गहरी नींद।

यह पता ही नहीं चला कि बादलों के बीच से निकलकर सूरज कब ठंडा पड़ गया और दिन पूरी तरह कब निकल आया। शोर कब होने लगा। चारों तरफ़ ज़िंदगी अपनी रफ़्तार पर आ गई थी। दरबे में मुर्ग़े कुड़कुड़ाने लगे थे। कुत्ते पेट्रोल पंप और सड़क तक दौड़ रहे थे। ट्रक-सराय की लंबी मेज़ें धुल गई थीं। सब्ज़ियाँ कट रही थीं। अँगीठियाँ जल गई थीं। रात को रुके हुए ट्रक वाले चाय पी-पीकर सफ़र पर निकल गए थे। ट्यूबवेल धक-धक कर रहा था। वल्कनाइज़र के छप्पर में मशीन पर रबर का टाका लगानेवाले लड़के आ गए थे। सराय के मालिक ने जपुजी का रिकॉर्ड लगा दिया था। अगरबत्तियों की महक फैली हुई थी।

कमली नींद की मारी थी। बाला लौटा तब भी वह सो रही थी। आते ही उसने जगाया। आँखें मलते-मलते कमली ने पूछा, "सिरा आया?"

"हाँ!" उसके दाँत अब भी कटकटा रहे थे। अर्जुन के तीर तो चल ही रहे थे।

"अच्छा हुआ!" कमली बोली।

"तुझे याद है? दादी से अपन ने हमेशा कहा—दादी, मेरी बात सुन! मैं देख आया हूँ, पानी का रंग लाल है। ख़ून की तरह लाल! दादी मानती नहीं थी, ज़िद करती थी—पानी का रंग नहीं होता! सो आज उसकी काया सिराते हुए अपन ने उससे कहा—ले दादी! आज देख ले..."

कमली ने उसकी तरफ़ भर-आँख देखा और चूड़ी सरकाते हुए बाँहों को भरकाने लगी। उसके चेहरे पर रात का बासीपन था। या शायद ठंडक की सफ़ेदी। वह अपने गालों को रगड़ने लगी तो बाला ने देखा—उसके बाएँ गाल की साँवली चमड़ी पर ख़ून की एक सूखी बूँद चिपकी हुई थी। वह उस पर उँगली फिराने लगी तो बाला ने पूछा, "क्या हुआ? उस साले लाला ने फिर काटा इतने ज़ोर से?"

"नहीं।" कमली ने धीरे-से कहा, "उसका वो एक दाँत सोने का है न, वही गड़ जाता है..." कहते-कहते वह ट्यूबवेल की तरफ़ मुँह धोने चली गई।

बलदेव सिंह धालीवाल

चींटियों की मृत्यु

फ़ोन सुनकर चोंगा रखते हुए के.पी. के अंदर क्रोध की ऐसी तरंग उठी कि उसने बची हुई चाय का गिलास सामने वाली दीवार पर दे मारा। दीवार पर टँगी फ़ोटो का शीशा ट...अन की आवाज़ करता टुकड़े-टुकड़े होकर फ़र्श पर बिखर गया। चाय के दाग़ से दीवार धब्बई हो गई। फ़ोटो का फ्रेम बोदी कील के सहारे क्षणभर के लिए लटकता रहा और फिर धड़ाम से नीचे आ गिरा। यह देखते हुए के.पी. को शांति का अनुभव हुआ। फ़ोटो के मध्य के कुलीन, कॉलेज की मैनेजमेंट के सचिव, प्रिंसिपल एवं स्टाफ़, सभी के सभी फ़र्श पर पसरे पड़े थे। पलभर के लिए के.पी. यह भी भूल गया कि स्टाफ़ में वह स्वयं भी शामिल है। कॉलेज की रजत जयंती के अवसर पर मैगज़ीन के लिए उतारी गई उस फ़ोटो में प्रिंसिपल सबके मध्य टाँगें फैलाए बैठा, लापरवाही वाली मुस्कान बिखेर रहा था। के.पी. से यही मुस्कान सहन न हो सकी और वह फ़ोटो पर चढ़कर उसे चप्पलों के नीचे रौंदने लगा, पर वह ज्यों की त्यों रही। के.पी. ने फ़ोटो के टुकड़े करते हुए पूरी तरह खीझकर कहा, "साले इनक्वायरियों के, करवा लिया चमचों से झूठ का पुलिंदा तैयार, गढ़ लिया नया बहाना मेरी मुअत्तली का, कुत्ती क़ौम कहीं की!" कमरे की उमस से बातें करते हुए के.पी. का ग़ुस्सा ख़तरे का निशान लाँघता किनारे तोड़ता हुआ बह चला।

लाला करोड़ीमल हिंदू महासभा कॉलेज, लुधियाना के लेक्चरार के.पी. अर्थात् कँवर प्रताप सिंह मान नौकरी से निलंबित होने के पश्चात् अकसर यूँ ही तैश में आ जाया करता था। अपने साथ हुई ज़्यादती के बारे में जब कोई नया समाचार सुनता, उसका ख़ून उबलने लगता। एकबारगी स्वयं ही बम की भाँति फट पड़ता और फिर अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगता। आज सुबह-सुबह कुछ ऐसा ही घटित हुआ। वह किसी अच्छे समाचार के लिए बड़ी बेसब्री से अख़बार की प्रतीक्षा कर रहा था। हॉकर क़रीब पंद्रह मिनट देरी से आया। बस इतनी-सी बात पर ही के.पी. उस पर टूट पड़ा। और फिर हॉकर के चले जाने के बाद, यह सोचकर पश्चात्ताप से भर गया कि उसमें हॉकर का भला क्या दोष, जब

पंजाबी रचनाकार बलदेव सिंह धालीवाल का जन्म 1959 में हुआ। कविता, कहानी, यात्रा-वृत्तांत आदि की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। कई संस्थाओं से सम्मानित हुए हैं। संपर्क : 34 अर्बन एस्टेट, फ़ेज़-3, पटियाला 147002,
फ़ोन : 0175-2286221

अनु. तरसेम का जन्म 1967 में हुआ। इनकी कविता-संग्रह की तथा हिंदी-पंजाबी में अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बी-4/814, दशमेश गली, गांधी आर्य हाई स्कूल के पास, बरनाला 148101, संगरूर (पंजाब), मो. 9815976485

अख़बार पीछे से ही देरी से आया था। उसने अख़बार पर उड़ती-सी नज़र मारी। किसी भी ख़बर पर उसका ध्यान न टिका। केवल मुलाज़िम मुहाज़ कॉलम में चार-एक पंक्तियों की ख़बर देखी। उनके कॉलेज में चल रहे धरने की साधारण-सी जानकारी थी। अख़बार परे फेंक नहाने के लिए उठा, पर मन नहीं माना। ब्रेकफ़ास्ट के स्मरण मात्र से उसे अपनी पत्नी सुरजीत कौर पर ग़ुस्सा आया जो बच्चों को साथ लेकर हफ़्ता भर के लिए मायके गई हुई थी। ग़ुस्से से भरा वह रसोई में जाकर प्याज़ काटने लगा। आँखों में कड़वाहट भर आने से आँसू निकल आए। खीझ से भरकर उसने ब्रेड-ऑमलेट और चाय बनाई। डाइनिंग टेबल के स्थान पर वह बेडरूम में ही आ बैठा। दो ही ग्रास लेकर और लेने का उसका मन न हुआ। उसने प्लेट बेड के नीचे सरका दी। चाय की अभी दो-तीन चुस्कियाँ ही भरी थीं कि फ़ोन की घंटी बज उठी। के.पी. के कॉलेज की टीचर्स यूनियन का प्रधान अनिल धीमान बोल रहा था, "प्रो. साहिब, मैं चंडीगढ़ से बोल रहा हूँ, कल से आए हुए हैं यहाँ। सुबह-सुबह बेड-न्यूज़ देने को मन तो नहीं करता, पर सॉरी, इंफ़ॉरमेशन तो शेयर करनी ही है, अभी-अभी पता चला है कि इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट अपने अगेंस्ट गई है। सॉरी अगेन, अपन एक-आध दिन में नेक्स्ट स्ट्रैटेजी तैयार करते हैं, अच्छा बाक़ी मिलकर बात करते हैं, ओ.के.।" प्रधान की सूचना के.पी. पर बिजली की भाँति गिरी। अब उसकी मुअत्तली यक़ीनी थी। वह क्रोध से जल उठा और चाय का गिलास...।

कितनी ही देर के बाद मन कुछ शांत होने लगा तो पश्चात्ताप ने फण उठा लिया। "इससे उनका क्या बिगड़ा?" अपना गिलास टूटा, दीवार धब्बाई, काँच बिखरा और ख़ून अलग से जला, इस सोच के साथ उसको अपने-आप पर खीझ-सी आई। क्यों वह आपे से बाहर हो जाता है? पढ़ा-लिखा होने के बावजूद क्यों कर बैठता है बचकानी हरकत? स्थिति को समझे बिना क्यों बौखला उठता है वह? उसका पश्चात्ताप पहले प्रश्नों में बदला फिर उनके उत्तरों की तलाश में इधर-उधर भटकने लगा। हल जैसा कुछ न सूझा उसे। उसका माथा टीसने लगा। इसीलिए वह प्रश्नों से इतना भयभीत हो गया कि घर से बाहर नहीं निकलना चाहता था। लोग-बाग भले ही मुँह से कुछ न पूछते मगर उनकी नज़रें यह ज़रूर पूछतीं, "प्रो. साहिब, तुम तो स्याने-ब्याने हो, फिर यह सब कुछ कैसे घटित हो गया?" इसके साथ ही के.पी. की घबराहट बढ़ जाती। उसका मन चाहता कि वह किसी वन में जाकर वृक्षों के घने झुरमुट के नीचे गहन अंधकार में जा बैठे जिस जगह ये सालने वाली नज़रें न हों। इसी दुख का मारा के.पी. अपनी पत्नी सुरजीत कौर के साथ उसके मायके चलने को नहीं माना। चलते समय सुरजीत कौर ने फिर ज़ोर डाला कि स्थान परिवर्तन के साथ कुछ मन भी बदल जाएगा। के.पी. ने मौन धर लिया।

"कोर्ट का फ़ैसला क्या पता कब तक आए, उतनी देर तुम यूँ ही बिल में घुसकर बैठे रहोगे?" के.पी. की मातमी चुप्पी पर सुरजीत कौर को पहले तो खीझ आई, फिर उसकी आँखें भर आईं। अगले ही पल उसने ओढ़नी के पल्लू से आँखें पोंछी और के.पी. का हौसला बढ़ाना चाहा, "जो संकट आ पड़ा है, उसे तो झेलना ही पड़ेगा, सयाने कहते हैं चाहे रो के काट लो, चाहे हँस के। कहते हैं कि भले दिन सदा नहीं रहते तो रहते सदा बुरे भी नहीं। सँभालो ख़ुद को। ध्यान रखना अपना।" सुरजीत कौर ख़ुद को मुश्किल से सँभालती हुई, बच्चों के साथ गेट लाँघ गई।

इन सारी बातों को के.पी. क्या समझता नहीं था? पर जब कुछ करने का अवसर आता तो डाँवाँडोल हो जाता। हमेशा की तरह उसने भीतर-ही-भीतर अपना निश्चय दोहराया कि वह इस

असीमित ग़ुस्से से बचने का भरसक प्रयास करेगा। क़ानूनी लड़ाई में प्रधान के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलेगा। अपने अंदर उठने वाले भय, चिंता और बेबसी के भावों को समेटकर बाहर फेंक देगा। यह सोचते हुए के.पी. के अंदर जोश की लहर-सी उठी पर एक पल से अधिक न रह पाई। उसने बेड के गिर्द बिखरे हुए काँच को देखा, पर उठकर उसे साफ़ करने की हिम्मत वह न जुटा पाया। कदाचित् आज सरला ही आ जाए। कामवाली के बारे में सोचते ही उसका आलस्य और बढ़ गया। "पैसों के लिए तो नित्य हाथ पसार लेती है...कुतिया...और..." के.पी. अभी-अभी लिया निर्णय फिर भूल गया और वह पिछले सप्ताह से छुट्टियाँ मार रही सरला पर गर्माने लगा। सरला ने सप्ताह भर पूर्व पति की बीमारी के बहाने से...प्रो. साहिब आजकल नौकरी से..., इन्हें आधी पगार मिलती है। "हमारी तो स्वयं मर-मर के महीने की पहली तारीख़ आती है। तू कहीं और प्रबंध कर ले।" सरला ने अगले ही रोज़ से नागा करना शुरू कर दिया। बिना पैसे कौन करता है चाकरी ? सरला के ये नागे सुरजीत कौर के होते तो कभी याद-वाद भी नहीं आए थे, पर अब कमरे में बिखरे काँच तथा चींटियों का ताँता लगा देखकर सरला की अनुपस्थिति ज़रा ज़्यादा ही खटकने लगी।

इससे ध्यान हटाकर मन में टिकाव के लिए के.पी. ने आँखें भींच लीं। अधलेटी मुद्रा में सुस्ताने लगा। बंद आँखों में उसे अजीब-सा ख़ालीपन और डर महसूस हुआ कि जैसे वह पड़छत्ती के अँधेरे में फेंक दी गई कोई वस्तु हो। घबराकर उसने आँखें खोल लीं। इस तरह निठल्ले बैठे रहने के स्थान पर उसने बक्से से खुशवंत सिंह की आत्मकथा *मौज मेला* निकाल ली।

कुछ ही पंक्तियाँ पढ़ने के उपरांत के.पी. को लगा जैसे केवल आँखें ही पढ़ रही थीं, मन तो कहीं और भटकता फिर रहा था। वह मुश्किल से मन को घेर-घारकर शब्दों की ओर लाता पर एक भी शब्द का अर्थ दिमाग़ की दहलीज न लाँघता। ऐसी गर्म-पकौड़ों-सी पुस्तकें तो के.पी. एक ही बैठक में पढ़ लिया करता था, पर आज...। उसे हैरानी के साथ परेशानी भी हुई। ऊपर से दूसरे पहर की जुलाई की उमस उकताहट पैदा करने लगी। कूलर की हवा ठंडक के स्थान पर चिपचिपाहट बढ़ाने वाली थी। गाढ़े तैलीय पसीने की वजह से शरीर पर केंचुए रेंगने का अहसास घिन पैदा कर रहा था। के.पी. ने फिर पुस्तक के पृष्ठों पर ध्यान ज़माने का यत्न किया। उसने अभी लगभग पौना वाक्य 'उन समयों में हमारे जन्म और मौत के रिकॉर्ड नहीं रखे...' ही पढ़ा था कि गर्दन पर हुई खुजली ने ध्यान उखाड़ दिया। खुजली क्षण भर में ही तीखी जलन बन गई और नर्म माँस पर कुछ शूल-सा चुभा। उसने चुभन को पोटों से मसल डाला। एक अधमरी चींटी बेड की चादर पर आ गिरी। बालों जैसी बारीक टाँगें चलाती वह पहले तो एक झटके-से सीधी हुई और फिर जान बचाने के लिए पूरे ज़ोर से दौड़ पड़ी। उसने देखा कुछ अन्य चींटियाँ भी ब्रेड का चूरा उठाए मज़े से चली जा रही थीं।

"रुको ज़रा, मैं करवाता हूँ तुम्हें मौज-मेला!" कहते हुए के.पी. ने दो चींटियों को मसल डाला। शेष चींटियों में अफरा-तफरी मच गई। वे अपनी मृत सहेलियों को सूँघती और बेचैनी के साथ इधर-उधर भागने लगीं, जैसे इस दुखदायी समाचार को तुरंत इर्द-गिर्द फैला देना चाहती हों। वे मृत चींटियों को घसीटकर किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाने का भी प्रयत्न कर रही थीं। चींटियों की यह जद्दोजहद देखकर के.पी. के मुँह से स्वाभाविक ही प्रशंसा के बोल निकले, "अपनों की ख़ातिर तो यूँ करना चाहिए संघर्ष!"

परंतु के.पी. के लिए भी तो टीचर्स यूनियन इसी तरह संघर्षरत थीं। उन्होंने भी तो कोई ढील नहीं दिखाई थी। पहले ही रोज़ जब के.पी. को

अपनी बदली किए जाने का पत्र प्राप्त हुआ था, वह उसे लेकर सीधा प्रधान ही के पास तो गया था। जैसा कि के.पी. को आशा थी, उस पत्र को पढ़ते समय प्रधान की मुट्ठियाँ भिंच गई थीं, होंठों में कसाव आ गया था। कुछ मिनटों की गहरी चुप्पी के पश्चात् उसने पूरी दृढ़ता से संघर्ष का बिगुल बजाते हुए कहा था, "प्रो. साहिब, यह कैसे हो सकता है भला? आज तक कभी नहीं हुआ। यह इनके बाप का राज है कि जो जी में आए, करते जाएँ? आपसी बदली तो पहले भी होती रही है यहाँ, पर अगले की कंसेंट के बिना बदली...। नेवर...!" प्रधान का जोश बढ़ने लगा, "यह तो सरासर धोखा है। कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है, यह? यूनियन मर गई है क्या? यदि एक बार मैनेजमेंट के मुँह ख़ून लग गया तो वह हर एक कर्मचारी के सिर पर तबादले की तलवार लटकाए रखा करेगी। हो सकता है, इसे वह टेस्ट-केस बनाना चाहते हों। प्रो. साहिब, यूनियन किसी भी सूरत में यह बदली नहीं होने देगी। आप निश्चिंत हो जाएँ। ज़रूरत नहीं कहीं और ज्वॉयन करने की, डोंट वरी...!"

प्रधान का नेताओं जैसा तेज़-तर्रार भाषण सुनकर के.पी. कुछ मिनटों के लिए तो हौसले में रहा पर इसके परिणाम के बारे में सोचकर गहरी चिंता में डूब गया। के.पी. का मन तो प्रधान को साथ लेकर प्रिंसिपल के पास रिक्वेस्ट कर देखना था। इस प्रकार कदाचित् बात के फैलने से पूर्व ही मामला भीतर-ही-भीतर सुलझ जाता। पर प्रधान तो टकराव की राह पर चलने की बातें करने लगा था। ये लड़ाई को बढ़ाने वाले दाँव थे। इस प्रकार तो प्रिंसिपल के खीझ उठने का ख़तरा था। "हो सकता है झुक ही जाएँ, ज़रा-सी बात पर यूनियन से टकराने में उसे क्या लाभ होना था?" दोनों ही बातों में कुछ भी हो सकता था। इस सोच के उभरने से के.पी. उलझन में फँस गया।

के.पी. को लगा जैसे प्रधान से मिलकर उसने ग़लती कर ली थी। फिर और किसको साथ लेकर जाता? प्रधान से अधिक सुहृदय उसे कॉलेज भर में कोई अन्य नज़र नहीं आया था। हो सकता है उसके प्रधान से मिलने की ख़बर ही प्रिंसिपल का इरादा बदल दे। प्रिंसिपल का कायरों-सा स्वभाव कौन भूला था। ग्रेडों की डिवीज़न के समय भी वह पहले ऐसे अड़ गया था, जैसे झुकने का प्रश्न ही पैदा न हो सकता हो, पर स्थिति बिगड़ती देखकर रातों-रात सब कुछ मान गया था। प्रिंसिपल से मिलने वाले आश्वासन को ठीक से भाँपने के लिए के.पी. उसके साथ हुई गत दिवस वाली बातचीत की जुगाली करने लगा।

"प्रो. साहिब आपका पुश्तैनी गाँव बुढ़लाडे के निकट है न?" अपने ऑफ़िस में बुलाकर प्रिंसिपल ने के.पी. से विनम्र भाव से पूछा था।

"हाँ...जी सर, मोफर है जी, शहर से कोई दस-पंद्रह किलोमीटर परे।" प्रिंसिपल की इस अटपटी पूछताछ से घबराकर के.पी. के बोल काँप उठे थे।

"अच्छा, स्ट्रेट—वो बात इस प्रकार है प्रो. साहिब कि अपने सचिव महोदय की इच्छा आपको बुढ़लाडा ज्वॉयन करवाने की है। क्लीयरली बता दूँ कि आपके साथ म्युचुअल ट्रॉंसफ़र करके वे प्रो. सुधा अरोड़ा को लुधियाना लाना चाहते हैं। कहते हैं, वे किसी पार्टी-वार्टी में सरसरी 'यैस्स' कर बैठे और अब उसने ज़िद पकड़ ली है। अतः आप को-ऑपरेट करें।" किसी हेरफेर के स्थान पर प्रिंसिपल ने एकदम ही कह डाला।

"प...ऽर, सऽ...र...यह कैसे संभव है? मेरी यहाँ सेटलमेंट...बच्चों का स्कूल जाना... मकान...अटैचमेंट..." के.पी. ने पूरा ज़ोर लगाकर अपनी विवशता के बारे में बताया।

"प्रो. साहिब, आदमी जहाँ रहने लग जाए

धीरे-धीरे वहीं का हो जाता है। अपने आप सेटलमेंट हो जाती है, डोंट वरी...'' प्रिंसिपल ने सहज भाव से कह दिया, जैसे यह कोई मसला ही नहीं था।

''बट...सर..., यह कॉलेज...'' के.पी. घबराहट में कोई अन्य दलील न जुटा पाया।

''कोई बात नहीं, यदि आप इस संस्था के साथ इमोशनली इतना जुड़े हुए हैं तो इट इज़ अ गुड थिंग, सालेक भर बाद फिर ट्राई कर देख लेंगे, आपको यहाँ लाने के लिए। अब मैडम की डिमांड पूरी कर देते हैं, वह भी तो अपने महासभा परिवार की ही सदस्या हैं।'' प्रिंसिपल ने अपना निर्णय सुना दिया।

''नोऽ सर, इट इज़ डिफ़ीकल्ट, सॉरी...'' के.पी. ने अड़ना चाहा।

''देखिए प्रो. साहिब, बी मैच्योर, मैं आपके फ़ेवर की बात कर रहा हूँ। यदि सच बताऊँ तो सचिव महोदय आपको फ़ाजिल्का भेजने लगे थे। मैंने आपका बायोडाटा जाँचते समय आपका पर्मानेंट एड्रेस देखा तो उनसे रिक्वेस्ट की। आप अपने गाँव के नज़दीक सेटल हो जाएँगे।''

''सर, बीस वर्ष हो गए हैं गाँव से टूटे हुए, अब वहाँ... ?'' के.पी. रुआँसा हो गया। उसके मन में आया कि पूरी बात बता दे कि माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ज़मीन की तकसीम के समय भाइयों के साथ थाने-कचहरी तक जा चुका था। अपना हिस्सा बेचकर लुधियाना में घर ख़रीद लिया था। पर प्रिंसिपल ये सब कुछ सुनने के मूड में कहाँ था ? इसलिए उसे यह सब कुछ भीतर ही दबाना पड़ा।

''हठ न करें प्रो. साहिब। नौकरी मस्ट है, स्टेशन मैटर नहीं किया करता। मोर-ओवर, यह फ़ैसला सचिव महोदय आपकी कंसेंट के बिना भी तो कर सकते थे, पर ऐसा ग्रेसफ़ुल न लगता। आपने स्वयं अंडरटेकिंग दी हुई है, यह देखिए...'' प्रिंसिपल ने मेज़ की दराज़ में से के.पी. की दो—प्रति ज्वॉयनिंग रिपोर्ट निकालकर मेज़ पर फैला दी। अंडरटेकिंग वाले पृष्ठ पर रेखांकित पंक्तियों में स्पष्ट लिखा था कि मैनेजमेंट के कॉलेजों की किसी भी ब्रांच में एंप्लॉई की बदली की जा सकती है। नीचे के.पी. के हस्ताक्षर थे। सभी की भाँति उसने भी सहमति दी थी।

यह पढ़कर उसमें बोलने की शक्ति ही न रही। ज्वॉयनिंग के समय अगला क्या बोल सकता है, भले ही मौत के वारंटों पर साईन करवा लेते। यह सोचता हुआ वह मरियल क़दमों से दफ़्तर से बाहर आ गया। के.पी. के होंठ सूखते जा रहे थे। माथे पर पसीना उग आया था। आँखों के आगे अँधेरे के दायरे नाच रहे थे। कनपटियों में सूइयाँ-सी चुभ रही थीं।

''खा गईं कलजोगनें जीवित को ही... ओह...।'' के.पी. तड़प उठा, कनपटी के पास चींटी ने इतना टिका के काटा, जैसे सूई चुभो दी हो।

''चलो, पहले तुम्हारा ही काम तमाम करूँ, फिर...'' उसने पुस्तक को परे रखकर चादर झाड़ने की सोची। बेड से उतरते समय उसकी चप्पलों के नीचे काँच की किरचों की किरच-किरच हुई।

''यह भी, मन मेरे तुझे ही बुहारना पड़ेगा, कितनी देर तक चलेगा आलस्य!'' सोचते हुए वह चादर झाड़कर झाड़ू ढूँढ़ने लगा। फिर सुरजीत कौर की याद आ गई। उसके होते हुए के.पी. को कभी अनुभव ही नहीं हुआ था कि यह साफ़-सफ़ाई वाला काम भी कोई काम होता है। उसके बिना तो कुछ ही दिनों में घर जैसे चींटी-खाना ही बन गया था।

''धन्य हो सुरजीत कौर जो अकेले ही इस सेना का सफ़ाया करती हो!'' के.पी. को सारा दिन झाड़ू-बुहारी में उलझी फिरती पत्नी का दृश्य याद हो आया। वह काम करते समय सदा सलवार के पायँचे टाँग लिया करती। एक हाथ

में बुहारी होती और दूसरे में पोंछा। दरवाज़ों-खिड़कियों के पीछे से पूरी लगन से सफ़ाई करती। सफ़ाई की तो उसे मानों दीवानगी हो। वह वश चलने तक कहीं चीनी या ब्रेड का कण भी गिरने न देती। फिर भी चींटियों को कोई कण-मात्र मिल भी जाता तो सुरजीत कौर की राडार-आँखें तुरंत तलाश लेतीं। चींटी के दिखने की देर होती कि वह उसके सुराख़ तक जा पहुँचती। बेगौन छिड़कती, लक्ष्मण-रेखा से चींटियों के बसेरों के गिर्द दायरा बना देती। अब सुरजीत कौर की अनुपस्थिति में जैसे इनका जादू चढ़ निकला था।

के.पी. ने देखा, चींटियों की पंक्ति रोशनदान की ओर से दीवार पर उतरती हुई, बेड के नीचे से होकर लॉबी की ओर जा रही थी। वह फ़ौजियों की भाँति क़तार में चल रही चींटियों की पंक्ति का आदि-अंत ढूँढ़ने लगा। एक ओर बाथरूम तक और दूसरी तरफ़ रोशनदान की ओर यह लकीर...उसे लकीर का कोई ओर-छोर न मिला। यह तो उसके पड़ोसी प्रोफ़ेसर तथा आर.एस.एस. के कट्टर समर्थक शास्त्री राम मूर्ति की दीवार से भी कहीं पार...।

''ढूँढ़ो, ढूँढ़ो प्रो. साहिब, आख़िर यह ढूँढ़नी ही पड़ेगी, यदि ध्यान से देखोगे तो यह लकीर बहुत आगे तक नज़र आएगी। कहीं मोटी, कहीं बारीक, कि झूठ है?'' पंजाबी विभाग का मुखी डॉ. धर्म सिंह के.पी. से सहानुभूति जताता, अपने अंदाज़ में हिंदू-सिक्खों के बीच की रेखा की बात छेड़कर बैठ गया था। ''भला प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या ज़रूरत? कि झूठ है? तुम अपना केस विचार लो। तुम ही क्यों? उन्होंने कृष्ण गोपाल का तबादला क्यों न कर दिया भला। वह तो है भी तुमसे जूनियर, कि झूठ है? यह मुलम्मा तो अंततः उतरना ही होता है भाई, जब यह उतरता है न, फिर पीटती है अगली सुनार के बच्चों को, कि झूठ है? बातें करते हैं सेक्यूलर बनने की, भीतर भरा है हिंदुत्व का कोढ़, कि झूठ है? फ़िरकापरस्त कहीं के...'' डॉ. धर्म सिंह को यूँ मुँहफट होकर बोलता देख के.पी. के मन में आई कि भाग उठे। उसकी बातें तो थोड़ी-बहुत बची-खुची आशा पर भी पानी फेरने वाली थीं। यदि ये बातें किसी प्रकार प्रिंसिपल के कानों तक जा पहुँचीं तो डॉ. धर्म सिंह के नाम के साथ चिपके विशेषण 'ख़ालिस्तानी' की चपेट में के.पी. को बिना मतलब ही आ जाना था। यह कलंक अब रिटायरमेंट के समीप पहुँचे डॉ. धर्म सिंह का तो भले कुछ न बिगाड़ पाता, पर इस के.पी. का तिनका भी नहीं बच पाता। महाशयों के कॉलेज की नौकरी के तीस-पैंतीस वर्ष डॉ. धर्म सिंह ने के.पी. की ही भाँति विनम्र रहकर गुज़ारे थे। अब रिटायरमेंट के क़रीब आकर पता नहीं कैसे एकदम विस्फोट हो गया था। ज़रा-सी बात भी उसे हिंदू-सिक्ख मसला नज़र आने लगती और बहाना मिलते ही वह घुस करके जा पहुँचता। के.पी. के तबादले का केस डॉ. धर्म सिंह को गनीमत की भाँति मिला था। इसमें उसे हिंदू-सिक्ख के बीच की रेखा स्पष्ट नज़र आती थी।

''छोटे भाई, भागो मत, बात सुनकर जाना, ये बातें तुम्हारे ज़िंदगी भर काम आएँगी।'' डॉ. धर्म सिंह ने के.पी. के उठ जाने की मंशा को भाँपते हुए बात फिर छेड़ ली, ''मैं इनकी रग-रग से वाक़िफ़ हूँ, पूरे बत्तीस वर्ष हाड़ रगड़ाए हैं इस संस्था के लिए। सैंतालीस में हमारे अंधे नेताओं ने पता नहीं क्या देखकर फ़ैसला किया था, कहने लगे, हम हिंदू-सिक्ख भाई हैं, हम भारत के साथ रहेंगे, हमारा ख़ून का रिश्ता है। अब चख लो स्वाद, उन्होंने पचास वर्षों में कोई रिश्ता बनने ही नहीं दिया, कि झूठ है? तेल और पानी का ही रिश्ता रहा न? तेल और पानी वाला नहीं तो...। तभी तो मैं कहता हूँ, इनकी मीठी बातों में न आओ, व्यवहार देखो, यह तुम्हारे

सामने ढाई सौ के स्टाफ़ में सिक्ख कितने हैं? कुल आठ, कि झूठ है? वह भी चार पंजाबी में, मुझे तो अब रिटायर हो जाना है और तुम्हें उन्होंने दूध में से मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया है। बाक़ी रहे कितने? दो टोटरू!" डॉ. धर्म सिंह पूरे जोश में आकर बोल रहा था। के.पी. के कान उसकी ओर और आँखें बाहर की भनक रख रही थीं। वह शुक्र मना रहा था कि कमरे के आगे से अभी तक कोई नहीं गुज़रा था। पर, डॉ. धर्म सिंह उसकी विवशता न समझता हुआ अपनी ही धुन में कहे जा रहा था, "बताऊँ, इतने भर सिक्ख भी इसलिए रखे गए कि उन दिनों पंजाबी पढ़ने वाले हिंदू कम ही हुआ करते थे। अब उनकी सुधाएँ भी पढ़ गईं गुरुमुखी, फिर हम जैसों की क्या ज़रूरत रह गई? अब अवसर मिलते ही ले लिया उन्होंने कुठार हाथ में परशुराम वाला, और शुरू कर दी छाँग-छँगाई। दुर्भाग्यवश वार के नीचे आ गए तुम, कि झूठ है?" डॉ. धर्म सिंह को बड़ी मुश्किल से भड़ास निकालने का अवसर हाथ आया था। के.पी. विवश था। अपने ही विभाग के मुखी की बात सुनने से इनकार भी तो नहीं कर सकता था, पर ये बातें उसके हज़म भी नहीं हो रही थीं। वह कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया, पर डॉ. धर्म सिंह ने, अपनी पूरी बात सुनाकर ही दम लिया।

"छोटे भाई! रगड़े केवल तुम ही नहीं गए, हमने भी बहुतेरे डंक सहन किए हैं, बस कभी किसी को ये नीले-दाग़ दिखाए नहीं। मेरे से आधी सर्विस वाले सिर-मुंडों को तो उन्होंने प्रिंसिपल बना छोड़ा है। हम फिरते हैं धूल फाँकते। फिर तुम ही बताओ, लकीर और होती क्या है?"

ग़ुबार निकल जाने पर डॉ. धर्म सिंह के तप रहे बोलों पर अचानक पानी का छिड़काव हो जाने से यह सहज हो गया। के.पी. को ऐसा लगा जैसे वह बताने से बढ़कर कुछ पूछ रहा हो। स्वीकृति सरीखे हमदर्दी के दो बोल सुनना चाह रहा हो। उसका यह रूप देखकर के.पी. पलभर के लिए पसीज गया। डॉ. धर्म सिंह की दलीलें के.पी. के लिए अनजानी न रहीं, पर वह उनकी उँगली थामकर साथ चलने में समर्थ भी न हो सका। वहाँ से निकलकर कॉमन-रूम की ओर जाते के.पी. के अंदर एक युद्ध-सा छिड़ा रहा। एक पलड़े में वह रोज़गार था जो एम.ए., एम.फिल. करके भटकते-फिरते के.पी. को इस कॉलेज ने प्रदान किया था और दूसरे में डॉ. धर्म सिंह की दलीलें जिनके भीतर की कसक के.पी. को अभी तक महसूस हो रही थी। रोज़गार वाला पलड़ा झुक गया। यदि डॉ. धर्म सिंह सच्चा था तो फिर के.पी. पर चलने वाला कुठाराघात उसके सीनियर अतिंदर सिंह पर क्यों न हुआ? वह तो था भी अमृतधारी और पंजाब संकट के दिनों फ़ेडरेशन का सदस्य भी रहा था। कदाचित् यहाँ भी जैक वाला फ़ॉर्मूला फिट बैठता हो! के.पी. ने सोचा। के.पी. को खालसा कॉलेज में दिए अपने एक इंटरव्यू की याद आई। उसमें अतिंदर सिंह खालसा भी उम्मीदवार था। के.पी. के केश तो थे पर दाढ़ी न होने के कारण उसे पतित सिक्ख कहकर रद्द कर दिया गया था। पर जब अतिंदर सिंह को भी न रखा गया तो के.पी. को आश्चर्य हुआ था। बाद में पता चला कि जो क्लीन-शेव लड़का रखा गया था, उसके पास शिरोमणि प्रबंधक कमेटी के प्रधान का जैक था। और अब वह उसी पतित के.पी. को डॉ. धर्म सिंह सिक्खों वाले पलड़े में रखे बैठा है।

"किस तरह का सिक्ख हूँ मैं? यह ज़्यादती सिक्खी के साथ हुई है या मेरे साथ?" के.पी. के अंदर मची खलबली और भी बढ़ गई। "क्या मैं और सिक्खी एक हैं या कि दो?...पानी और तेल?" यह सब सोचते हुए के.पी. और भी उलझ गया।

कॉमन-रूम में क्लीन-शेव कुलीग्ज़ के साथ

हाथ मिलाते समय के.पी. उनकी नज़रों तथा हथ-घुटाव से अपनी शंकाओं के उत्तर ढूँढ़ता रहा। डॉ. धर्म सिंह वाली लकीर उसको कहीं भी नज़र नहीं आई। सब कुछ आम दिनों की ही भाँति था। बल्कि, इसके विपरीत प्रधान अनिल धीमान तथा सचिव रूमेश छाबड़ा के व्यवहार ने के.पी. के अंतस में छिड़े घमासान को मूलतः शांत कर दिया। वे बड़ी गंभीरता के साथ उसी के केस पर विचार कर रहे थे।

"आ जाओ, आ जाओ प्रोफ़ेसर साहिब! आप ही की प्रतीक्षा कर रहे थे, बैठो प्लीज़!" प्रधान ने अपने साथ वाली कुर्सी की ओर संकेत करके कहा और बड़े आदर से उसे बैठाया।

"हाँ जी, सर! कोई और प्रॉग्रेस?" उनके स्निग्ध व्यवहार से के.पी. को आशा की किरण नज़र आई।

"प्रोफ़ेसर साहिब, दो भरपूर मीटिंगें प्रिंसिपल के साथ हो चुकी हैं, हर एक पक्ष से उन्हें भली-भाँति अवगत करवा दिया गया है, अब देखते हैं...।" सचिव छाबड़ा ने बात तो शुरू की पर कुछ स्पष्ट कहने से रुक गया। के.पी. को उसका यह व्यवहार तनिक चुभा।

"प्रोफ़ेसर साहिब वास्तव में बात यह है कि प्रिंसिपल के एडामेंट व्यवहार के साथ बात उलटी दिशा में मुड़ गई है। वे कहते हैं कि मैनेजमेंट ने क्लीयरली कह दिया है। बट, यू डोंट वरी, यूनियन आपके साथ है। हमने यह निर्णय लिया है कि यदि उन्होंने कल को मैडम सुधा को ज्वॉयन करवाया तो उसी समय हम धरने पर बैठ जाएँगे। आख़िर जीत तो यूनियन की ही होनी है। मैनेजमेंट को अपना डिक्टेटरी रूप त्यागना ही पड़ेगा। हौसला रखें आप।" प्रधान ने सारी योजना के बारे में स्पष्ट करते हुए के.पी. की पीठ पर सांत्वना भरी थपकी दी।

"ओ.के. सर, शायद बात..." के.पी. आशा तथा निराशा के बीच पेंडुलम बन गया। वह वहाँ और न रुक सका। फिर भी प्रधान का थपकी वाला हाथ उसे घर पहुँचने तक अपनी पीठ पर फिरता महसूस होता रहा। यह हाथ कोई अकेला नहीं था, इसमें पूरे स्टाफ़ के हाथ शामिल थे। इतने हाथों की शक्ति के होते हुए मैनेजमेंट की क्या मज़ाल थी? अपना यह हुलास के.पी. ने घर पहुँचकर सुरजीत कौर के साथ साँझा किया तो वह विरोधी रुख़ अपनाते हुए बोली, "ये यूनियनें-वूनियनें आजकल किसी का कुछ भी सँवारने योग्य नहीं। नेता लोग तो जलती आग पर अपनी रोटियाँ सेंकने वाले होते हैं। यूँ ही न आना उनके झाँसे में, ज्वॉयन करने की सोचो, कल को लास्ट डेट निकल गई तो पछताओगे। वैसे भी उड़ते हुओं के पीछे भागने का लाभ कोई नहीं।" सुरजीत कौर की सांसारिक सूझ ने के.पी. का हौसला फिर लड़खड़ा दिया।"

"मैं...मैं अब कैसे कर सकता हूँ ज्वॉयन? यूनियन कल को धरने का निर्णय ले चुकी है, इस तरह तो..." के.पी. मँझधार में गोते खाने लगा।

"मैं तो कहती हूँ, कुछ नहीं निकलने वाला इन धरनों-वरनों से! कहते हैं, आग लगाई डब्बू दीवार पे, भला इन बनियों-ठनियों की कैसी यूनियनें और कैसे धरने? जिस तरफ़ का पलड़ा भारी हुआ, झुक जाएँगे। मैं बताती हूँ तुम्हें, यह क़ौम तो चींटियों की भाँति चीनी की यार होती है, नमक की नहीं। गुज़रा वक़्त फिर हाथ नहीं आया करता। सयाने कहते हैं कि सारा जाता देखकर, आधा लुटा दो। बुढ़लाडा क्या निपूते का कालापानी है कि वहाँ लोग-बाग़ नहीं बसते?" सुरजीत कौर ने जैसे क़ाफ़िले के साथ चलते के.पी. को बाँह से पकड़ अलगा दिया। क़ाफ़िले के साथ वह कितना उत्साहित था, और अकेला, जैसे कि किसी मरुस्थल में भटक गया हो।

भटक ही तो गया था के.पी.। ज्वॉयन करने

की तारीख़ गुज़र जाने के पश्चात् जब के.पी. को सस्पेंड किए जाने का नोटिस मिला और ड्यूटी से कोताही का केस इन्क्वायरी कमेटी के हवाले हो गया, तो उसके पास भटकन ही तो बची रह गई थी। सब कुछ बदल गया था। अब सुबह पढ़ाने जाने के स्थान पर धरने पर बैठने के लिए जाना होता, क्लास में लेक्चर देने के स्थान पर लीडरों के भाषण सुनने होते और घर पहुँचकर योजनाएँ सोचनी पड़ती कि आधी पगार में घर के ख़र्चे कैसे पूरे करने हैं। सभी कुछ भटकाने वाला ही तो था।

अपनी बात न मानी जाने के कारण सुरजीत कौर कुछ दिन तो घुटी-घुटी फिरती रही, पर के.पी. को सस्पेंड करने वाला नोटिस देखते ही उसका व्यवहार एकदम बदल गया।

''लो, उन्होंने कर दिया जो कुठाराघात करना था, अब इकट्ठे होकर उस घट-सिरे प्रिंसिपल को ऐसा सबक सिखाओ कि उसे छठी का दूध याद आ जाए। अक्ल आ जाए ठिकाने। जान लें वे कि दूसरे भी नहले पे दहला मार सकते हैं। अब घर बैठे रहकर रिंरियाने से बात नहीं बनेगी।'' ढीली, उत्साहहीन-सी बातें कर रहे के.पी. को सुरजीत कौर ने सबल करके धरने पर जाने के लिए प्रेरित किया।

नए हालात से जूझने के लिए सुरजीत कौर ने अनेक योजनाओं में पड़ने के स्थान पर तुरंत अभ्यास ही शुरू कर दिया। बजट के लिए दूध की मात्रा आधी कर दी। दो समाचार-पत्रों में से एक बंद करवा दिया। काम वाली से आधे काम छुड़वा लिए। माली का कार्य भी ख़ुद सँभाल लिया। सब्ज़ी रेहड़ी वाले से लेने के स्थान पर 'अपनी मंडी' से सस्ती ख़रीदकर लाने लगी। बच्चों को ऐरी-ग़ैरी चीज़ें लेकर खाने की सख़्त मनाही कर दी। जहाँ से भी दो पैसे की बचत होती दिखाई देती, वह करती। उसने सिर आ पड़ी आफ़त के विरुद्ध हर प्रकार की मुहिम चला दी। बच्चों को स्कूल भेजकर वह के.पी. की तैयारी करने में जुट जाती, जैसे उसे लाम पर भेजना हो। जूते नित्य पॉलिश करती, पैंट-शर्ट प्रेस करके ही पहनने देती और कभी भी ढीली-ढाली पगड़ी को सिर पे न रखने देती, बल्कि हर रोज़ ही बदलकर बाँधने के लिए बाध्य करती। साथ-ही-साथ यह पाठ भी दोहराती रहती कि शत्रु के सामने कभी मुरझाया चेहरा लेकर न जाया जाए। तैयार-बर-तैयार मनुष्य आधी लड़ाई तो अपने ऊपरी-प्रभाव से ही जीत लेता है। के.पी. ने सुरजीत कौर का यह व्यावहारिक एवं जुझारू रूप पहली बार देखा था। घर से चलने को तैयार के.पी. के लिए वह कोई उत्साहवर्धक बोल ज़रूर बोलती, ''कहते हैं, लगी तो चींटी ही बहुत होती है और हम तो ठहरे आदमी, बस तगड़े होकर लगे रहो अब।''

''...चींटी ही बहुत होती है...'', सुरजीत की यह सांत्वना भरी बात के बोल के.पी. को सामने वाली दीवार पर प्रत्यक्ष होते नज़र आए। कई चींटियाँ चलते-चलते दीवार पर बिखरी चाय के सूखे छींटों को सूँघती हुई ज़रा-सा अटकतीं और फिर आगे चल पड़तीं। कइयों ने अपने भार से भी कहीं अधिक भार उठाया हुआ था। के.पी. को उनका जोश देखकर बड़ी हैरानी हुई। वह उनकी मंज़िल देखने के लिए क़ाफ़िले के साथ-साथ चल पड़ा। वे बेडरूम से होती हुई लॉबी की दीवार के साथ-साथ चलतीं, अंत में बाथरूम की चौखट की दरार में से अंदर घुस जाती थीं। इस बाथरूम का उपयोग नाममात्र ही होता था, अतः उन्होंने बड़ा सुरक्षित ठिकाना ढूँढ़ा था। टॉयलेट की ऊँची थड़ी पर फ़्लश-सीट के साथ वाली बची दरार को उन्होंने अपना बसेरा बना रखा था।

''लो, तुम तो देखो एक बार प्रलय का नमूना!'' कहते हुए खीझे हुए के.पी. ने पानी का मग भरकर दरार पर डाल दिया। बेबस चींटियाँ

फ़्लश में बह गईं। एक बार तो ऐसा लगा जैसे चींटियों का सफ़ाया हो गया हो, पर अगले ही पल वे दरार से और अधिक निकलने लगीं। उनके मुँह में अब अंडे भी थे। लगता था मानो ख़तरे को भाँपते हुए उन्होंने आवश्यक वस्तुओं की सँभाल शुरू कर दी थी। फिर उनके अपने अंडों से अधिक मूल्यवान और कुछ हो भी क्या सकता था?

"लो, अब बचकर दिखाओ तो जानें!" उसने एक और मग उड़ेल दिया। चींटियाँ फिर बह गईं, पर एक-दो बच-बचाकर दीवार पर भी जा चढ़ीं। के.पी. को लगा जैसे वे कह रही हों, "लो, देख लो फिर।" चींटियों के इस मज़ाक़ पर के.पी. को ग़ुस्से के स्थान पर हँसी आ गई। अब उसने काफ़ी देर तक पानी न डाला और चींटियों की भाग-दौड़ का तमाशा देखने लगा।

"लो, साला नन्हा-सा जीव ही काफ़ी है, अगर अपनी आई पे आ जाए तो—रत्ती भर शरीर में प्रकृति ने कितनी शक्ति भर छोड़ी है!" के.पी. ने उन दस-बारह चींटियों पर आश्चर्यचकित होकर सोचा, जो एक अधमरे कॉकरोच को बाथरूम की ओर घसीटती ला रही थीं।

"सचमुच ही चींटी ने मार लिया होगा हाथी को," के.पी. की स्मृति में से वह लोक-कथा गुज़री, जिसमें चींटी तथा हाथी के मुक़ाबले के दौरान चींटी हाथी की सूँड़ में प्रवेश कर गई थी और हाथी वृक्ष से अपना सिर पटकता मर गया था।

"...सत्ता के मदमस्त हाथी पर सवार ये लोग दूसरों को चींटि-चमोटे ही तो समझे बैठे हैं!" धरने में बोलते डॉ. धर्म सिंह ने प्रिंसिपल के दफ़्तर की ओर उँगली साधकर पूरी गटकती आवाज़ में कहा, "ये हमें पाँवों तले रौंदने के मनसूबे बनाते फिर रहे हैं, भ्रम में हैं ये। इन्हें नहीं मालूम कि जब किसी की आस्था बचित्तर सिंह की नागिनी रूप धारण कर ले तो मस्त हाथियों में भी भगदड़ मच जाया करती है। मैनेजमेंट भ्रमित है, प्रिंसिपल तथा उसके चमचों को अपनी ढाल समझे बैठी है, हमारे संघर्ष को फ़ेल करने की चालें चली जा रही हैं। इन ढालों व चालों से कुछ भी सँवरने वाला नहीं। कहते हैं दशम पातशाह के लाडले सिक्ख ने जब तेग़ चलाई तो मुग़लों के मस्त हाथी के मस्तक पर बँधी ढाल एवं उसका सिर दोनों ही रेज़ा-रेज़ा हो गए। अब ये हमारे सब्र की परीक्षा लेने लगे हैं। आज के.पी., कल को कोई अन्य और परसों को यह किसी तीसरे की बली माँगेंगे। आओ, इकट्ठे होकर इक्कीस की इकत्तीस डालें...हमारी यूनियन...ज़िंदाबाद, ज़िंदाबाद! मदमस्त हाथी... मुर्दाबाद, मुर्दाबाद!" डॉ. धर्म सिंह के भाषण और नारों का मिला-जुला प्रभाव पड़ा। कई मंद-मंद मुस्कुराए, कानाफूसी करते 'बड़ा ख़ालिस्तानी' कहकर छुपते-छुपाते नाक-भौं सिकोड़े। पर प्रधान पूरी तरह से खिल उठा। डॉ. धर्म सिंह के करारे शब्दों ने मुर्दा-चाल चल रहे धरने में जोश फूँक दिया, नहीं तो प्रधान धरने के उस फ़ीके पड़ रहे उत्साह पर चिंतित होने लगा था। टैंपररी तथा एडहॉक लेक्चरारों की विवशता समझते हुए यूनियन ने उन्हें पहले ही धरने से छूट दे रखी थी। सीनियर टीचर्स आते और 'बूढ़े शरीर के साथ बैठनें की दिक़्क़त' की दुहाई देते हाजरी लगाकर उठ जाते। प्रिंसिपल का हितैषी धड़ा सिर्फ़ ख़बर-सार लेने के लिए ही आता था धरने पर चक्कर लगाने। यह धड़ा तो गुप्त रहते हुए विद्यार्थियों को भड़काकर समानांतर धरना लगवाने का भी प्रयत्न कर रहा था। यूनियन की इच्छा थी कि छुट्टियों से पहले-पहले किसी किनारे लग जाए पर इस मैनेजमेंट के कठोर व्यवहार के कारण यह इच्छा पूर्ण होती नहीं दीख रही थी।

जब सभी वक्ता बोल चुके तो प्रधान बात समेटने के लिए उठा। उसने बड़े सुलझे हुए शब्दों में बोलना आरंभ किया, "अध्यापक

साथियो! बहुत सारी बातें हो चुकी हैं, मैं उन्हें दोहराऊँगा नहीं। सचिव महोदय ने ठीक कहा था कि हम कहने को भले ही के.पी. के लिए लड़ रहे हैं, परंतु वास्तव में हम न्याय के लिए संघर्षरत हैं। मैं इसी लड़ी में मजीद कहना चाहता हूँ कि हमारी यह लड़ाई किसी पर्टीकुलर व्यक्ति के विरुद्ध भी नहीं है, हम तो सत्ता के जुल्म के विरोध में हैं, जिसे डॉ. धर्म सिंह ने 'मस्त हाथी' का नाम दिया है। सत्ता चाहे हाथी हो, चाहे चींटी की फ़ोरम में नज़र आए, उसका लक्ष्य सिर्फ़ और सिर्फ़ पॉवर हथियाना ही होता है। हमें उसकी ठीक से पहचान करनी है। यदि हम सत्ता के प्रत्येक रूप, प्रत्येक चाल को समझ लेंगे तब ही हमारी विजय होगी। आओ, अपनी एकता का सबूत दें...अध्यापक यूनियन, ज़िंदाबाद...ज़िंदाबाद!" प्रधान ने बात अभी समाप्त ही की थी कि नारे लगाते विद्यार्थियों की एक टोली, धरने वाले स्थान की ओर बढ़ती नज़र आई।" पढ़ाई नहीं, तो फ़ीसें भी नहीं...अब ये धरने और नहीं जरने, टीचर्स-पॉलिटिक्स, बंद करो...मुर्दाबाद, मुर्दाबाद!" विद्यार्थियों ने बराबर ही धरना लगा दिया। प्रधान ने टीचर्स को धैर्य बनाए रखने की अपील की। इससे स्थिति सँभल गई, पर दूसरे रोज़ समाचार-पत्रों को अच्छा मसाला मिल गया।

अध्यापकों और विद्यार्थियों-अभिभावकों के मध्य खींचतान बढ़ती देखकर यूनियन को अपना पैंतरा बदलना पड़ा। धरने का समय क्लासों के पश्चात् रख लिया गया। इसके साथ विद्यार्थियों का विरोध तो थम गया, पर धरने का जोश ठंडा पड़ गया। कक्षाएँ रोज़मर्रा की भाँति लगने लगीं तो मैनेजमेंट पर भी दबाव जैसी कोई बात न रही। धरना लटक गया। छुट्टियों में तो गिनती नाम-मात्र ही रहने लगी। बहुत बार तो यूनियन ओहदेदार तथा डॉ. धर्म सिंह जैसे गिने-चुने व्यक्ति ही बैठे होते। लेडी-टीचर्स तो उनमें कोई भी न होती। धरने से कन्नी काटने के लिए अध्यापक ऐसे-ऐसे नगण्य बहाने गढ़ते कि उन पर ग़ुस्से के स्थान पर हँसी अधिक आती। के.पी. का पड़ोसी, संस्कृत वाला शास्त्री राममूर्ति तो इस पक्ष में प्रथम था। वह आहिस्ता से प्रधान की बाँह पकड़कर धरने से परे ले जाता और कहता, "प्रोफ़ेसर धीमान, बात यह है कि अचानक एक मुश्किल आन पड़ी है। बात यह हुई कि पीरियड के दिनों में श्रीमती जी की तबीअत ठीक नहीं रहती, तो घर का काम...बच्चे इत्यादि...माफ़ करना...अब मैं दो-तीन दिन...ही-ही-ही-ही", शास्त्री जी हाथ जोड़ते और खिसियानी-सी हँसी-हँसते चले जाते। पर अपने पीछे चोंच-चर्चार्थ अजीब-सा विषय छोड़ जाते।

"साथियो! लगता है अगला धरना मर्दों को मेनसिज़-लीव दिलवाने के लिए लगाना पड़ेगा, तैयार रहिएगा।" प्रधान ने शास्त्री वाली बात साँझी की तो सभी हँस पड़े। बस केवल के.पी. न हँस सका। धरने के दिन-ब-दिन ढीले पड़ते जाने की वजह से उसकी कनपटियों का कसाव और बढ़ गया। दिन तो धरने पर बैठकर बीत जाता, पर रात तो मुश्किल से करवटें बदलते बीतती।

"यदि तब तेरी बात मानकर ज्वॉयन कर लेता तो अच्छा रहता, बस यूँ ही उलटा पंगा ले लिया।" के.पी. ने सुरजीत कौर का मन टटोला। उसके भीतर पश्चात्ताप पसरने लगा था।

"यह निपूती किसी के द्वारा पकड़ी गई है, क्या? कहते हैं गुज़रे वक़्त को तो घोड़े भी पकड़ नहीं सकते। चलो, अब तो धैर्य कर लेने से ही छुटकारा मिलेगा।" सुरजीत कौर ने उसे ढाँढ़स बँधाया। वह देर रात तक के.पी. के साथ बातों में व्यस्त रहती, पर के.पी. का मन किसी बात पर न टिकता। कभी-कभार उसके मन में विचार उठता कि यूनियन से चोरी-चोरी प्रिंसिपल से जाकर मिले, बुढ़लाडा ही ज्वॉयन करवाने के

लिए मिन्नत आदि कर देखे। कदाचित् उसका मन पसीज जाए। पर प्रधान और सचिव के सुहृदय प्रयत्न उसकी राह रोक लेते। वैसे भी उसे लगता कि यदि प्रिंसिपल न माना तो वह न घर का रहेगा और न ही घाट का। इस प्रकार से यूनियन की सहानुभूति खो जाने का भी खटका था। मार्ग तो बस एक ही बचा था, और वह था सिर पर आ पड़े युद्ध को मर्दों की भाँति एक किनारे तक ले जाना। पर गिनती के धरनाकारियों के सहारे इस लड़ाई को सिरे तक कैसे लाया जा सकता था। यदि किसी दिन ऊबकर प्रधान व सचिव भी हार मान गए तो फिर क्या होगा? यह सोचते के.पी. को एक-एक करके सभी राह बंद होते नज़र आते। ऐसे अवसर पर उसका मन करता कि डॉ. धर्म सिंह के पास जाकर मन का ग़ुबार निकाल ले। पर यह ग़ुबार तो और भी बढ़ गया जिस दिन पता लगा कि सस्पेंशन का प्रभाव उसके बच्चों पर भी पड़ना शुरू हो गया था।

के.पी. सायंकाल को धरने से लौटा था। सुरजीत कौर उसके लिए चाय बनाने लगी। वह आँखें बंद करके पीठ सीधी करने के लिए लेटा हुआ था। बाहर बरामदे में बच्चे बातों में लगे हुए थे।

"दीदी, हम ग़रीब हैं कि अमीर?" प्रथम कक्षा में पढ़ते मनी ने अपनी आयु से कहीं बड़ा प्रश्न कर दिया था।

"अमीर हैं और क्या, अपने पास टी.वी., फ्रिज, हीरो-होंडा सभी कुछ तो है!" नीतू ने अपनी ओर से पूरी तसल्ली करवाने की कोशिश की।

"पागल, ये तो सभी के होते हैं, अमीर तो वे होते हैं जो रोटी नहीं खाते।" मनी के बचकाना तर्क से नीतू खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"फिर और क्या खाते हैं वे?" नीतू ने पूछा।

"मेरी कक्षा का एक बच्चा बहुत अमीर है, कभी-कभी मेरे साथ बैठता है।" मनी ने कहानी-सी सुनाते उत्तर स्वरूप कहना शुरू किया, "वह कभी नूडल्स, कभी केक, कभी ब्रेड, कभी चिप्स लाता है। आज न उसका टिफ़िन गिर गया, सारी-की-सारी उसकी नूडल्स बिखर गई फ़र्श पर। मैंने कहा मेरे से रोटी और अचार ले ले, उसने नहीं ली। कहने लगा रोटी तो ग़रीब लोग खाते हैं। फिर एक बच्चे ने ब्रेड दे दी, उसने खा ली। मैंने भी उसके साथ कुट्टी कर ली।" मनी रुआँसा हो गया।

"तो तू भी ले जाया कर नूडल्स!" नीतू ने उसका मन रखने को कह दिया।

"मम्मी लेकर दे कुछ तब न! कुछ भी नहीं लेने देती, मम्मी बहुत ग़रीब है, नित्य रोटी भिजवा देती है।" मनी ने पूरी खीझ से कहा, तो सुनकर के.पी. का भी मन भर आया। उसने विचार किया कि चाय लेकर आई सुरजीत कौर से कहेगा, "मनी को स्कूल में नित्य रोटी न भिजवाया कर, इस प्रकार बच्चे में हीन-भावना..." पर कप पकड़ते समय वह केवल इतना ही कह सका, "आज यूनियन के धरने के साथ-साथ कोर्ट जाने का भी डिसीज़न लिया गया है, केस का सारा ख़र्च यूनियन ही करेगी, अपने ऊपर नहीं बोझ पड़ने देंगे किसी प्रकार का।" के.पी. को चाय फीकी महसूस हुई, जैसे सुरजीत कौर चीनी डालना भूल गई हो, या फिर यह भी बचत के लिए...।

"चलो, शाबाश उनके! यदि हमें जलती आग में झोंककर स्वयं किनारा कर लेते, फिर हम क्या बिगाड़ लेते उनका! हमें तो अब साथ खड़े होने वालों का ही सहारा है।" सुरजीत कौर के बोल में बेबसी झलकने लगी थी। के.पी. ने कोई और बात न की। सुरजीत कौर अपनी बेरोज़गारी का क़िस्सा छेड़ बैठी, "ऐसे अवसर पर यदि मेरे पास कोई छोटी-मोटी नौकरी होती तो घर का गुज़ारा आसानी से चलता रहता! के.पी. उसकी बात अनसुनी करके दूसरी ओर मुँह करके लेट गया, जैसे नींद आ रही हो। उसका शरीर

बिलकुल ही शिथिल हुआ पड़ा था। उसे अपना मन भी गिरता-सा अनुभव हुआ। उसे लगा जैसे अब और नहीं लड़ सकेगा। वह अंदर-बाहर से पूरी तरह हारा हुआ महसूस करने लगा।

"लो, तुम जीती और मैं हारा!" के.पी. चींटियों वाली दरार में पानी डालकर ग़लती कर बैठा था। पानी ज़रा सूखता तो चींटियों का एक नया दल बाहर निकल आता। के.पी. पानी उडेलता थक गया था। अंत में थक-हारकर उसने बेडरूम में आ लेटने का निर्णय लिया। ज़रा-सी आँख लगी थी कि उसे नाक में जलन महसूस हुई। 'शायद चींटियों...' उसने चौंकते हुए उठकर नथुने में उँगली फिराई। वैसे ही रेशा-सा उतर आया था। चींटियों का तो कहीं नामोनिशान भी नहीं था। शायद ख़तरा टल गया जानकर वे भी टिक गई थीं। बाहर धूप में तीखापन था, उसकी सेंक रोशनदान के शीशों में से छनकर आ रही थी। उमस और भी बढ़ गई थी "चल रे मन! अपन भी टिक लें घड़ी-पल" कहकर वह अभी लेटा ही था कि ट...ऽन की भयंकर ध्वनि से डर-सा गया। "तीखी दोपहरी में यह कौन बे-आराम जात आ टपकी?" खीझ से भरा, सोचता हुआ वह दरवाज़े की ओर लपका।

"प्रोफ़ेसर साहिब हम तो न टिकें न आराम से बैठने दें, यूनियन की यह मूड़ी कहाँ टिकने देती है भला?" कहते हुए पसीने से तर-बतर हुआ प्रधान अनिल धीमान अंदर आ गया। उसकी आवाज़ की भीतरी खीझ, बेबसी तथा रहस्यमयता से वह भौंचक्का रह गया।

"ख़ैर तो है प्रधान जी?" प्रधान के इस आगमन पर के.पी. को कोई नई मुसीबत के आने का आभास हुआ। उसके मन में बेचैनी भर गई। "ख़ैर है तो नहीं, पर अब किसी-न-किसी तरह पैदा करके ही साँस लेंगे।" प्रधान के शब्दों में चिंता के साथ-साथ ग़ुस्सा भी उतरने लगा था।

"हुआ क्या है?" के.पी. की व्याकुलता और बढ़ गई।

"आप जानते ही हैं, मैं और सचिव महोदय कल से चंडीगढ़ गए हुए थे, अपने वकील ग्रेवाल जी के पास। उन्होंने सीधा तो ख़ैर कुछ नहीं कहा, पर हमारी जजमेंट यह है कि होपलेस लगता है। अपनी अंडरटेकिंग देने वाली बात मैनजमेंट के हक में जाती दिखाई देती है।" कहकर प्रधान उँगलियाँ मटकाने लगा।

"फिर अब?" के.पी. की साँस अटक गई, जैसे तेज़ तरंग के साथ किसी गहरे गर्त में बह गया हो।

"यही मशवरा करने आया हूँ। चंडीगढ़ से लौटकर, घर में शांति नहीं मिली, बस पानी पीकर इधर ही चला आया। लगता है अब कोई बोल्ड स्टेप उठाना पड़ेगा। अकेले धरने से अब बात नहीं बनेगी। धरने में अपनी कम्यूनिटी का हाल तो आपने देख ही लिया है। अधिकांश तो सेल्फ़ इंट्रेस्ट के बिलों में घुसे बैठे हैं। कॉमन-कॉज़ के लिए तो बरबस खींच-खाँचकर निकालने पड़ते हैं। वह ग्रेडों की डिवीज़न वाले केस में देखो धरने को क्या ग़ज़ब की स्वीकृति मिली थी, और इस बार...? अब क्या कहा जाए, यू नो वेल, दिस इज़ हार्ड फ़ैक्ट...स्टाफ़ की स्ट्रेंथ के बिना भला अकेली यूनियन क्या प्रेशर बिल्ड कर सकती है?" प्रधान को निराशा की दलदल में कानों तक धँसा देखकर के.पी. के होश उड़ गए।

"फिर, अब तो मरण-व्रत का रास्ता ही बचा है शायद।" के.पी. के भीतर लावे जैसा कुछ पिघलने लगा।

"ओ नो! अभी इस एक्स्ट्रीम तक नहीं जा सकते, डेमोक्रेटिक टेक्टिक्स भले ही सफल नहीं हो रहे पर अभी एक डिप्लोमेटिक युक्ति की गुंजाइश बाक़ी है।" प्रधान ने अपनी नेताई सूझ के साथ कहा। फिर मस्तक के मध्य में उँगली व

अँगूठे से चिकोटी-सी भरकर इस प्रकार ध्यानमग्न होने का प्रयास किया जैसे मस्तिष्क के सागर-मंथन से कोई रत्न तलाश कर रहा हो। जब वह मिल गया तो बड़े सहज-भाव से बोला, "एक पत्ता और है, यदि ठीक लगे तो उसका उपयोग किया जा सकता है, वकील साहिब ने भी इसका हिंट दिया था, पर..."

"प्लीज़, जल्दी बताओ सर, जो भी है, जिस तरह भी..." के.पी. के धैर्य का बाँध टूट गया। वह तो अब आर या पार जैसा निर्णय चाहता था। पर प्रधान कोई अकस्मात्-विस्फोट करने के स्थान पर भूमिका बाँधने लगा।

"देखिए, प्रोफ़ेसर साहिब! यूनियन हर पक्ष से आपके साथ है, यदि केस हाईकोर्ट में से लूज़ कर गए तो सुप्रीम कोर्ट में भी पिटीशन करेंगे। पर एक काम आप ही के करने का है, आप..." प्रधान फिर रुककर मुँह से निकाली जानेवाली बात को अंदर-ही-अंदर तोलने लगा। उसने के.पी. के चेहरे को भी भाँपा कि बात का उसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ सकता है। उसे लगा, भूमिका को और भी मज़बूत करना पड़ेगा।

"...मेरी भावना को ठीक अर्थों में लेने की कोशिश करना, प्लीज़। यूनियन के प्रधान होने के नाते मैं यह कहना नहीं चाहता था। यह बात मेरे स्वभाव के अनुकूल भी नहीं, पर मेरी भावना...मैं हर प्रकार से केस में जीत ही का मुँह देखना चाहता हूँ। वैसे भी प्रेम तथा युद्ध में 'एव्रीथिंग फ़ेयर' ही कहा जाता है। किसी गुप्त भय कें कारण मैं यह बात अभी तक प्रोफ़ेसर छाबड़ा के साथ भी साँझी नहीं कर सका। बात..." प्रधान ने गले में अटके थूक को निगला और साथ ही बात भी जैसे गले के नीचे जा गिरी।

के.पी. को जैसे प्रधान की बात सुनाई देनी बंद हो गई। इतनी लंबी ऊबाऊ भूमिका के पहाड़ के नीचे से कुछ भी न निकलता देखकर उसका रक्त खौलने लगा। उसने बेड के सिरहाने की किनारी को इस प्रकार कसकर पकड़ लिया, जैसे अभी उसे उखाड़कर प्रधान के सिर पर दे मारेगा तथा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा। उसने पूरा ज़ोर लगाकर अपने-आपको बात के अंत तक नियंत्रित रखना चाहा।

"प्रोफ़ेसर साहिब! बात यह है कि आप माइनॉरिटीज़ कमीशन के पास भी अपील करें।" प्रधान को लगा कि वह अभी तक भी बात पूरी तरह कह नहीं पाया।

"इससे क्या उनका...?" के.पी. बड़ी मुश्किल से मुँह तक आ गई गाली को रोक सका।

"प्रोफ़ेसर साहिब इसके साथ तो भारी विस्फोट हो सकता है। एक प्रेस-कॉन्फ्रेंस करके अपनी विक्टमाईज़ेशन के केस को सिक्ख इश्यू बना डालो, फिर देखना लोग कैसे चींटियों की मानिंद इकट्ठे होते हैं!" प्रधान ने सिक्ख के स्थान पर 'लोग' शब्द का प्रयोग किया था, पर उसे इस प्रकार आभास हुआ जैसे किसी ने अपनी ही कनपटी पर रखे हुए रिवॉल्वर का स्वयं ही घोड़ा दबा दिया हो।

"ओ माई गॉड!" इस द्रौपदी-गुहार से अधिक के.पी. अन्य कुछ भी बोल न सका। उसका शरीर सुन्न हो कर झनझनाने लगा, जिस प्रकार किसी ने चींटियों की अंजलि भरकर उसके गिरेबान में डाल दी हो। हज़ारों दंशों की चुभन से उसका समस्त शरीर जल उठा। ओह!

"जा...ल...मों...औ...र...कित्ता...तड़पा-ओगे?" चींटियों के दंशों से आहत के.पी. बड़बड़ाता करवटें बदल रहा था। लाखो चींटियाँ उसे घसीटकर बेड से नीचे गिराने का प्रयत्न कर रही थीं। आख़िर उन्होंने घसीट ही लिया। अब सरकाती हुई वे उसे अपने बिल की ओर घसीटने के लिए ज़ोर लगाने लगीं। फ़्लश की दरार से

खींचकर, अपने बिल में ले जाने लगीं। के.पी. दर्द का सताया चीख़ता-चिल्लाता, पर चीख़ें उसके गले में ही अटक कर रह जातीं। के.पी. यह देखकर हैरान हुआ कि पाताल-लोक में चींटियों का राज्य था। खाद्य-पदार्थों के भंडार भरे पड़े थे, फिर भी चींटियाँ मातृ-लोक से दाने, ब्रेड के चूर और कितना ही अन्य कुछ खींचती चली आ रही थीं। चबूतरे पर एक तोंदल-सी चींटी मख़मली गलीचों पर दरबार लगाए बैठी थी। के.पी. को उस रानी जैसी लगती चींटी के समक्ष पेश किया गया।

"रानी साहिबा! यह वही मनुष्य है..." चींटियाँ एक ही स्वर में बोलीं। उसे देखकर रानी चींटी व्यंग्य से इस प्रकार मुस्कुराई जैसे कि के.पी. कोई अद्‌भुत जीव हो। के.पी. लापरवाह-सी मुस्कान सहन न कर सका, पर उसका कोई वश न चला। चबूतरा ऊँचा था और वह था चींटियों की पकड़ में।

"इसका दोष क्या है?" रानी चींटी ने पूछा।

"इसने चींटियों को फ़्लश में बहाकर प्रलय दिखाई थी।" चींटियाँ क्रोध में चीख़ीं।

"मातृ-लोक वालों से और आशा ही क्या की जा सकती है, प्रलय के सिवाय? ये तो अपनी ही नस्ल का घात कर देते हैं, और बेचारी चींटियाँ तो...।" व्यंग्य-बाण छोड़ती रानी चींटी का व्यवहार देखकर वह दहल उठा। कड़ी से कड़ी सज़ा के लिए तैयार होते हुए वह पसीने में नहा उठा। उसके होंठ सूखने लगे। आँखों के आगे अँधेरे में गोल घेरे नाचने लगे और कनपटियों में सूइयों की चुभन महसूस होने लगी।

"रानी साहिबा, इसकी सज़ा?" चींटियाँ राजाज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं। रानी चींटी ने एक पल सोचा और फिर सहज भाव से बोली, "चलो माफ़ किया। हमें आदमजात जैसा व्यवहार नहीं करना, इसे बा-इज़्ज़त वहीं मातृ-लोक में छोड़ आओ।" रानी चींटी ने आदेश दिया।

चींटियों का हुजूम एक जुलूस की शक्ल में के.पी. को वापिस ले चला। उसे मार्ग जाना-पहचाना लगा। सचमुच यह तो उसके गाँव ही का रास्ता था। उसने ध्यान से पीछे की ओर देखा, जुलूस में लोग भी उसी गाँव के थे, पर चींटियों के धड़ों पर नर-सिरों वाले। के.पी. हारों से लदा खुली जीप में सवार था। साथ ही उसके भाई खड़े थे। उसकी पीठ के पीछे प्रधान अनिल धीमान गुलाबी रंग की तुर्रे वाली पगड़ी बाँधे खड़ा था। जुलूस बुढ़लाडे की सड़कों से गुज़र रहा था। अंत में वह लुधियाना कॉलेज में पहुँच गया। प्रिंसिपल के कार्यालय के आगे पहुँचते ही जयघोष के रूप में 'जै-कारे' गूँज उठी, "बोले सो निहाल...सत् श्री आकाल।" पूरा कॉलेज रंग-बिरंगी पगड़ियों का लहलहाता सागर नज़र आने लगा। जै-कारों के साथ ही लोगों के इस सागर में कभी-कभी संगीत की एक लहर-सी भी उठती, "उच्चा दर बाबे नानक दा, मैं...।"

"शोभा सुन के आया, उच्चा दर..." प्रभात-फेरी वाला संगत के शब्द और 'जै-कारों' को सुनकर के. पी. की आँख खुली। वह कहाँ था? उसने इस प्रकार आसपास टटोला जैसे कि वह कहीं खो गया हो। अपने ही घर, अपने ही बिस्तर पर होने के अहसास से उसे तसल्ली मिली। वह अभी तक भी स्वप्न के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका था। 'सिक्ख इश्यु...' प्रधान का मशविरा उसके मस्तिष्क से फिर गुज़रा, पर इससे वह अब रत्ती भर भी बेचैन नहीं हुआ। सपना उसे सत्य होता महसूस हुआ। गुरु-घर के 'थापड़े' वाला हाथ उसे अपनी पीठ पर फिरता प्रतीत हुआ। लेटे-लेटे उसके मन में एक रीझ ने जन्म लिया कि आज गुरुद्वारा होकर आएगा। उसे हैरानी हुई, वह तो मुश्किल से ही कभी सुरजीत कौर के कहने पर साल में एकाध बार ही कभी गुरुद्वारा जाया करता था। इन दिनों किस गुरु का गुरुपर्व था, के.पी. को यह भी स्मरण न आया।

"किस तरह का सिक्ख हूँ मैं?" के.पी. ने अपने आपको फटकारा। उसने अँगड़ाई लेकर आलस्य उतार फेंका और सामने वाली दीवार की ओर देखते हुए कहा, "उठ रे दरिद्री, तेरे से तो ये चींटियाँ ही बाज़ी ले गईं।" चींटियाँ पूरे जोश के साथ, कल ही की भाँति श्रम में जुटी हुई थीं। के.पी. को अपने अंदर किसी शक्ति का अनुभव हुआ।

उसने चाय बनाकर पी। इर्द-गिर्द देखा, चींटियों का पूरे घर पर ही क़ब्ज़ा था। के.पी. के मन में पता नहीं क्या आया कि वह पायजामा टाँगकर घर की सफ़ाई में जुट गया। शरीर पसीने से तर-ब-तर हो गया। पर घर की शक्ल ही बदल गई। एक बार तो चींटी किसी तरफ़ देखने पर भी न मिली। उसके भीतर विजयोल्लास पैदा हो गया। जी भर के नहाया वह। तन और मन दोनों ही पुष्प सरीखे हल्के हो गए। वह पूरे इत्मिनान के साथ तैयार हुआ। 'सिक्ख-इश्यू' वाली बात मन में एक बार फिर दृढ़ की और आगामी प्रोग्राम बनाने के लिए प्रधान के घर की ओर चल पड़ा।

"वाह रे, शेर के बच्चे, रख दिखाई क़ौम की लाज!" के.पी. बेड से इस प्रकार उछला, जैसे 'अनार' चलता देखकर कोई बच्चा ख़ुशी में उछला हो। के.पी. 'मौज-मेला' का वह पृष्ठ पढ़ रहा था, जहाँ पर ऑपरेशन ब्लू-स्टार के पश्चात् रोष प्रकट करने हेतु खुशवंत सिंह अपनी 'पद्म-भूषण' की उपाधि लौटाता है।

"सात ख़ून माफ़, तेरे जैसे सरदार कों!" के.पी. से प्रसन्नता सँभाले नहीं सँभल रही थी। ख़ुद-ब-ख़ुद अजीब-सी बोल—वाणी उच्चरित कर रहे के.पी. की आवाज़ सुनकर सुरजीत कौर तीव्रता से क़दम रखती हुई बेडरूम में आ गई।

"क्या हो गया? किसका ख़ून... ?" कानों में 'ख़ून' शब्द पड़ते ही सुरजीत कौर को भय ने आ घेरा था।

"सिक्खों का ख़ून, और किसका? इन कंजड़ों ने पानी से भी सस्ता समझ रखा है, कि जब जी में आए बहा लो, अकृतघ्न कहीं के।" दाँत पीसता के.पी. मानो सुरजीत कौर के स्थान पर दीवारों से बतिया रहा था। इस 'मौज-मेला' में ताज़ा पढ़ा हुआ ऑपरेशन ब्लू-स्टार का ज़िक्र अभी तक उसके मस्तिष्क पर छाया हुआ था। वह बोलता रहा, "हमारे गुरु इनके लिए ख़ून बहाते रहे और ये... ?" के.पी. ने बात को अधूरी छोड़ते, हाथ के इशारे से जैसे कमरे की भीतरी हवा को उलाहना दिया। उसकी बिगड़ी हालत देखकर सुरजीत कौर का मन भर आया। वह के.पी. को कुछ कहने के स्थान पर परे खड़ी ओढ़नी के पल्ले से आँखें पोंछती उसकी ओर अपलक निहारती रही। उसकी ओर से बेध्यान के.पी. ने रजिस्टर उठाया और पेन कनपटी से सटाकर इस प्रकार बैठ गया, जैसे किसी अति महत्त्वपूर्ण मसले पर चिंतन-मनन कर रहा हो। पर दो-एक शब्द ही लिखने के पश्चात् उसे कुछ भी न सूझा और उसने झुँझलाकर रजिस्टर का पन्ना फाड़कर फ़र्श पर फेंक दिया, जो सुरजीत कौर के पैरों में जा गिरा। उसकी पगलाहट से भयभीत हुई सुरजीत कौर उलटे पाँव बेडरूम से बाहर आ गई। उसकी सिसकियाँ ऊँची हो गईं। सुरजीत कौर के मन में प्रज्ञापराध फैलने लगा, जैसे के.पी. की वर्तमान स्थिति के लिए वह स्वयं दोषी हो। उसे लगा, यदि उन दिनों वह मायके न गई होती तो के.पी. को कभी भी प्रेस-कॉन्फ्रेंस करने का पंगा न लेने देती। सारी कहानी वहीं से बिगड़ी थी। 'सिक्ख इश्यू' वाले मुद्दे से कोई ऐसा विस्फोट नहीं हुआ था, जैसा कि के.पी. तथा प्रधान ने सोच रखा था। बस स्थानीय समाचार-पत्रों में सरसरी-सी ख़बर छप गई थी और बात आई-गई हो गई थी। उसकी हिमायत के लिए लोगों का हुजूम तो क्या आना था, किसी छोटी-मोटी सिक्ख जत्थेबंदी ने 'हाय' का नारा

भी नहीं मारा। पर इस घटना से यूनियन में विस्फोट ज़रूर हो गया था। प्रधान के साथ केवल धर्म सिंह ही रह गया था और धरना बस नाम का ही रह गया था। के.पी. बिलकुल ही अलग-थलग-सा होकर घर में बैठने योग्य ही रह गया था। कभी-कभार प्रधान और डॉ. धर्म सिंह ख़बर लेने के लिए घर आ जाते तो वह बौखलाहट से भरकर उन पर खीझ उठता। असली मुद्दे से भटककर वह ऊल-जलूल बकने लगता। बैठे-ठाले वह अपने आप जैसे हवा को ही गालियाँ देना शुरू कर देता। अपने ऊपर बोझ समझते हुए वह सुरजीत कौर और बच्चों को कोसने लगता। मन तनिक शांत होता तो अंदर जाकर लेट जाता या कोई पुस्तक पढ़ने लग जाता, या फिर वैसे ही कुछ लिखने लग जाता। इस प्रकार उसने अपनी एक अलग ही दुनिया बसा ली थी।

कबीलदारी के साथ-साथ अब के.पी. को सँभालने का दायित्व भी सुरजीत कौर के ऊपर आ गया था। कुछ दिन रोने-धोने के पश्चात् उसने धैर्य धर लिया था। वह के.पी. को वास्तविक संसार में लाने के लिए कोई-न-कोई प्रयत्न करती रहती। कोई अच्छी ख़बर सुनती तो बड़े उल्लास के साथ के.पी. को सुनाती। राष्ट्रीय स्तर के समाचार पत्र 'हिंदू-रेनेसां' के पत्रकार वी.के. त्रिपाठी की ओर से पूरे केस की 'इन्वेस्टीगेटिव स्टोरी' तैयार किए जाने की ख़बर भी सुरजीत कौर ने ही सुनाई थी, पर के.पी. ऐसी बातों को एक कान से सुनता और दूसरे से निकाल देता। अगले ही दिन वही स्टोरी जब चित्र सहित अख़बार में छपी तो सुरजीत कौर ही कहीं से वह अख़बार भी तलाश करके ले आई थी। के.पी. ने बिना देखे ही अख़बार इस तरह परे फेंक मारा जैसे उस ख़बर के साथ उसका कोई लेना-देना ही न हो।

पर इस ख़बर से सुरजीत कौर का ढाढ़स ख़ूब बँध गया था। समाचार के अनुसार त्रिपाठी की खोज ने मैनेजमेंट की नींव हिलाकर रख दी थी। उसने दिल्ली के एक होटल के रिकॉर्ड के अनुसार मैनेजमेंट के सचिव तथा लेक्चरार सुधा चोपड़ा के एक साथ रात बिताने का खुलासा कर दिया था। यहीं पर के.पी. के तबादले की खिचड़ी पकी मानी गई थी। के.पी. की उखड़ी मानसिक दशा और घर की मंदहाली को विस्तार सहित, ख़बर को हृदयवेधक बनाया गया था। के.पी. को 'बली का बकरा' सिद्ध किया गया था। यहीं से इस बात को टी.वी. चैनलों ने उठा लिया था और सिक्ख जत्थेबंदियों में भी अब मदद करने के लिए एक-दूसरे से आगे आने की होड़ लग गई थी। अकाली दल के प्रधान तक ने संघर्ष की धमकी दे डाली थी। पर के.पी. ने इस सब कुछ को एक ही शब्द 'बकवास' के साथ अलगा दिया था।

एक दिन सुरजीत कौर ने बड़े उत्साह के साथ एक लाख रुपए का ड्राफ़्ट के.पी. के आगे ला रखा। यह किसी अमरीकन धनी सिक्ख ने सहायता के रूप में भेजा था। के.पी. ने ड्राफ़्ट पर सरसरी नज़र मारी और फिर इस प्रकार परे फेंक दिया, जैसे वह कोई मामूली काग़ज़ का टुकड़ा हो। ड्राफ़्ट उठाती हुई सुरजीत कौर की चीख़ ही निकल गई। पर के.पी. उसकी ओर से बेख़बर अपना रजिस्टर उठाकर कुछ लिखने लग गया। अभी उसने शीर्षक के रूप में शब्द 'महान मसला' ही लिखे थे कि सुरजीत कौर किसी को साथ लेकर पुनः बेडरूम में आ गई। ये किसी टी.वी. चैनल के रिपोर्टर थे।

"के.पी. साहिब...!" रस्मी दुआ-सलाम के पश्चात् रिपोर्टर ने माइक उसके मुँह के आगे करके अभी नाम ही बोला था कि के.पी. ने उसकी बात काटकर बोलना शुरू कर दिया, "कौन के.पी. साहिब ? यहाँ कोई के.पी.-शे.पी. नहीं रहता, यहाँ..." के.पी. की अवस्था समझकर रिपोर्टर ने ग़लती मानने की तरह उसको बीच में

ही काटकर कहा, "सॉरी सर, मेरा अभिप्राय था कि आप..." के.पी. ने पुनः रिपोर्टर की बात पूरी नहीं होने दी। और बताने लगा, "हाँ, सरदार कँवर प्रताप सिंह मान, गाँव मोफ़र, जहाँ से विशाल जुलूस का आरंभ हुआ, फिर बुढ़लाडा पहुँचा और उसके पश्चात् कॉलेज में। तभी तो हरामज़ादे कुत्ते प्रिंसिपल के चेहरे पे हवाइयाँ उड़ने लगीं, पंथ के आगे कोई ठहर नहीं सका था, तभी तो..." बात का रुख़ बदलते देखकर रिपोर्टर ने उसे ठीक दिशा की ओर चलाने का यत्न किया, "सर, आपकी सस्पेंशन का मसला..."

"मसला क्या है? सिक्ख जन्म लेते हैं, मरते हैं, पर पंथ सदैव चढ़ती कला में रहता है। पंथ की हस्ती मिटाने की ढेरों कोशिशें की गई हैं, बहुत ख़ून बह चुका है, क्या वह ख़ून व्यर्थ जाता रहेगा? यही महान मसला है, मीडिया वालों को सोचना दरकार है, जैसे सरदार खुशवंत सिंह लिखते हैं..." कैमरा तथा माईक बंद होने तथा रिपोर्टर द्वारा 'थैंक यू' कहकर चलने की तेज़ी के कारण के.पी. की बात अधूरी रह गई। रिपोर्टर ने चले जाने में ही भलाई समझी थी।

के.पी. ने बेड पर बैठते ही फिर रजिस्टर उठा लिया। 'महान मसला' शीर्षक के नीचे कुछ लिखने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर डालने लगा। दिमाग़ में कितने ही शब्द मोफर...जुलूस... यूनियन...चींटियाँ...उमस...पंथ...मीडिया कुरबल-कुरबल करते फिर रहे थे। वह शब्दों से जूझ रहा था कि सुरजीत कौर कॉर्डलेस फ़ोन उठाए अंदर आ गई। उसने डरते हुए फ़ोन के.पी. की ओर बढ़ाते हुए कहा, "प्रोफ़ेसर धीमान हैं, कोई बहुत ज़रूरी बात है शायद।" के.पी. ने सुरजीत कौर की ओर इस प्रकार क्रोध से देखा, जैसे कह रहा हो, "हरामज़ादी! तू ये छोटे-मोटे मसले भी हल नहीं कर सकती?" और चुपचाप चोंगा कान से लगा लिया।

"प्रोफ़ेसर साहिब, विस्फोट हो गया है, कॉन्ग्रेचूलेशंज़, गुड-न्यूज़ है!" प्रधान की ख़ुशी जैसे बिखरती जा रही हो, "आपकी नौकरी बहाल हो गई है, अपना पत्ता रंग ही का निकला है, भगदड़ मच गई है मैनेजमेंट में।" जोश में प्रधान ने के.पी. की स्वीकृति के बग़ैर ही अगले प्रोग्राम के बारे में बताया, "आप तुरंत कॉलेज में पहुँचें, विक्टरी-मार्च का प्लान है, यूनियन की री-बर्थ वाली बात है, ऑल क्रेडिट गोज़ टू यू। थैंक-यू। पहुँचिए...प्लीज़...ओ.के.!" प्रसन्नता में डूबा प्रधान अपने-आपको सँभालने में मुश्किल महसूस कर रहा था। के.पी. ने सहजता से फ़ोन बेड पर रख दिया। विस्फोट तो क्या, उसके भीतर जैसे कुछ भी घटित नहीं हुआ था। उसने किसी अच्छी ख़बर को सुनने के लिए उत्सुकता से भरी सुरजीत कौर, उसके पीछे आ खड़े सहमे-से मनी और नीतू को सरसरी-सी निगाह से निहारा और फिर अपने खुले पड़े रजिस्टर को अपनी जंघाओं पर रखकर, टूटे ख़यालों की शृंखला जोड़ने में जुट गया।

"सबसे महान मसला...री-बर्थ!" आगे उसको फिर कुछ न सूझा कि किसका 'पुनर्जन्म'?

के.पी., पंथ, यूनियन जैसे शब्द विद्रोही बने, 'शुतर-ए-बेमुहार' की भाँति उसके मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे, पर किसी वाक्य में बँध न सके। झुँझलाहट में उसने रजिस्टर परे पटक दिया। और फूट-फूटकर रोने लगा। के.पी. का यह रूदन कदाचित् वाक्य की मृत्यु पर था।

जिंदर

अंत बेअंत

ऊदम कौर को अचानक लगा कि उसके लिए किसी-न-किसी के साथ बात करनी ज़रूरी है। कोई अपने आप से कितनी देर बात कर सकता है ? स्वयं शुरू करने वाला। स्वयं ही हुँकारा भरने वाला। स्वयं ही जवाब देने वाला।

यह कैसा एक दिन आने वाला है। इतना अन्यमनस्क तो वह तब भी नहीं हुई थी जब उसका पति निराश और परेशान होकर मौत की बात छेड़ लेता था। वह उसे सँभालती। समझाती। ज़िंदगी के अर्थ बताती। इस तरह जब वह कलपती हुई यहाँ तक कह देती कि इस जीने से तो मौत अच्छी, उसका पति उसे हौसला देता।

चिंता, डर, सहम, गुस्सा, कल्पना, शक—ख़त्म क्यों नहीं हो रहे। उसे बार-बार पसीना आ रहा है। होंठ सूख रहे हैं। उँगलियों के पोरों में असह्य दर्द उठ रहा है। आंतरिक तनाव बढ़ता ही जा रहा है। वह चाहती है कि उसे कोई मिले। कोई भी। अपना या बैरी-दुश्मन ही। पर वहाँ तो कुछ भी नहीं। जो है वह सघन अँधेरा है। चुप है। या उसकी ही साँसों की आवाज़। पहले से तेज़ हुई। अभी वह जिस जगह पर खड़ी थी, उसे इसी जगह से डर लगा था। वह इतनी डर गई थी कि उसकी चीख़ ही निकल गई थी। उसने अपने आपको बहुतेरा समझाया था। रोका था। पर उसे पता ही तब लगा था जब उसका एक पैर उस जगह पर आ पड़ा था। यही जगह थी। इसके बारे में उसे कभी भ्रम नहीं हुआ। यहाँ उसके पति की कपाल-क्रिया की गई थी। अगले दिन वह बड़े तड़के उठी थी। टूटे हुए घड़े के टुकड़े इकट्ठे किए थे। खेश के पल्ले में रखकर बहते हुए पानी में छोड़ आई थी।

वह घर की ओर चल पड़ी। चक्की के पास आकर उसे याद आया कि वह गुरुबेरी पीछे छोड़ आई है। वह पीछे मुड़ी, गुरुबेरी के पास खड़ी होकर ग़लती के लिए हाथ जोड़े, माथा टेका, पिछली तरफ़ पड़ी झाड़ू उठाकर सफ़ाई करने लगती है। बरसात हो या आँधी जितनी देर उसका पति जीवित रहा वह यहाँ की सँभाल करना नहीं भूलता था। एक बार वह बहुत बीमार पड़ा। उसके लिए चारपाई से उठना मुश्किल था। पर उसने नागा नहीं किया था। ऊदम कौर ने मना किया था। पति ने उसकी एक न

पंजाबी कथाकार जिंदर का जन्म 1954 में हुआ। इनकी सात कहानी-संग्रह एवं रेखाचित्र की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 984, मॉडल हाउस, जालंधर 144003

अनु. राजेंद्र तिवारी

मानी। तब वह उसके साथ आती नहीं थी। बाद में वह साथ आने लगी थी। वह नलके से बाल्टियाँ भर-भरकर लाती। पति धोता जाता। इतवार की शाम को चिराग़ जलाता। ऊदम कौर के मुँह से स्वतः निकलता, "दाता, सबका भला कर! सबको सुख-संतोष दे!" उसका पति कहता था, "तुझे डर लगे, दबाव पड़े, घबराहट हो, मन में बेचैनी हो तो गुरु जी का मूल वाक्य 'धन बाबा हंदाल तेरी रक्त तेरी काल' का सुमिरन कर लिया कर। इसमें बड़ी शक्ति है।" उसे अपने पति का कहा हमेशा सच लगा था। उसका इस जगह पर विश्वास बढ़ता गया था। मुश्किल समय में यह उसके सहाय हुए हैं। उसका श्वसुर भी कहता था, "गुरु जी अथाह शक्ति के मालिक थे। एक बार उन्हें गांधरा के स्टेशन से गाड़ी पकड़नी थी। हमने सलाह की कि गुरु जी चलकर जाएँ यह अच्छा नहीं लगता। वह पूरन सिंह के पास उसका घोड़ा माँगने गए। पूरन सिंह बोला, 'घोड़ा ठीक नहीं है। इसने कल से कुछ खाया नहीं।' वह शर्मिंदा हुए लौट आए। गुरु जी अंतर्यामी थे। वह दातून कर रहे थे। उन्होंने दातून करके फेंक दी। बोले, 'यह कौन-सी बात हुई। मैं चलकर जाऊँगा। घोड़ा बीमार है तो बीमार रहने दो।' हम उन्हें गाड़ी पर चढ़ा आए। दूसरे दिन घोड़ा छटपटा कर गिर पड़ा। फिर नहीं उठा। जहाँ गुरु जी ने दातून फेंकी थी, वहाँ बेर उग आई। सब इस जगह को पूजते। यह पक्की जगह उसी पूरन सिंह ने बनवाई।"

हवा है कि जिस्म के जिस हिस्से से छू जाती है—वह बर्फ़-सा होने लगता है। वह चादर ड्योढ़ी कर ओढ़ लेती है। आधी रात को उसकी नींद खुल गई थी। बाद में नींद ही नहीं आई। सोचती रही। अपने आप से बातें करती रही। उसका एक मन करता कि टेप रिकॉर्डर पर शब्द-कीर्तन का कोई कैसेट लगा ले। ध्यान सच्चे पातशाह (सिखों के गुरु) की ओर चला जाएगा। पर उससे उठा न गया। इस तरह के समय में अकेले रहना उतना आसान नहीं होता—जैसा वह सोच बैठी थी। वह रज़ाई से मुँह बाहर निकालती। झट से मुँह फिर ढक लेती। मुड़-मुड़कर ध्यान घर की ओर चला जाता। उसकी आँख तब खुली थी जब छिंदे ने बाहर का दरवाज़ा खोला था। दरवाज़ा इतना सख़्त खुलता था कि आधे टोले को इसके खुलने का पता चल जाता। कोई-न-कोई टोक जाता—यूँ ही तो नहीं सयानों ने कहा है कि मल्लाह के हुक़्क़े में पानी नहीं होता। आधे घंटे बाद दरवाज़ा फिर खुला था। उसे चिंता ने घेर लिया था। वह पम्मी के बारे में सोचने लगी थी। छिंदो के बारे में फ़िक्रमंद हो गई थी। उसकी जान अजीब-सी स्थिति में फँसी थी। उसको साँस लेना भी कठिन लगा। वह आँखें खोलती, आगे अँधेरा होता। छिंदा होता। पम्मी होती।

"माता जी बधाइयाँ", घर से आती विद्दो दूर से ही बोली। नज़दीक आकर उसके पैरों को हाथ लगाया। उसके हाथ से सोंटी छूट गई। "दाता सभी को फूले-फलाए।"

वह पूछती है, "लड़का किस पर गया है?"

"अभी बहुत पहचान नहीं हुई है। छिंदा कहता था कि भापे-सा लगता है।" विद्दो पलभर खड़ी रही। फिर बोली, "मुझे आप से सूट और सौ रुपए लेने हैं। याद है न? आप ने ख़ुद कहा था।"

"मैं तुमसे भागती हूँ! माँग ले जो कुछ भी माँगना हो।" उसे याद आया कि उसकी चुन्नी में दस रुपए का नोट बँधा है। उसने चुन्नी की लड़ विद्दो की ओर करते हुए कहा, "पहले यह खोल। मेरी उँगलियाँ सुन्न हुई पड़ी हैं। ठंड पेश नहीं पड़ने देती। दिन में आना। मैं तुझे मिठाई के लिए भी पैसे दूँगी..."

चाव। इतना चाव! उसे कभी इतनी ख़ुशी नहीं हुई थी। अब क्या करे? वह दुविधा में फँस

गई। एक राह हवेली की ओर जाती है। दूसरी घर की ओर। एक राह उसके घर की ओर जाती। दूसरी पम्मी के घर की ओर। वह बीच रास्ते में खड़ी है। दोनों तरफ़ की दूरी में उन्नीस-इक्कीस का फ़र्क़ है। वह पम्मी के घर की ओर देखती है। बाहर की बत्ती बुझी थी। शायद किसी को जलानी याद ही न रही हो। या किसी ने ज़रूरत ही न समझी हो। वह होती तो घर के सारे बल्ब जला देती। छिंदा जब पैदा हुआ था तब बेबे ने पंद्रह दिन दालान वाला दीवा बुझने न दिया था।

वह सारा भार सोंटी पर डालकर कुछ पल खड़ी रही। अब छिंदा उसे बताने आएगा। कोई भी बात होती वह उसे ज़रूर बताता है। या हो सकता है बड़की वीना बुलाने आ जाए। दूसरे पल वह सोचने लगी, कोई आए या न आए उसे ज़रूर जाना चाहिए। यह उसका अपना घर है। उसे कौन निकालने लगा? वह उतावली-उतावली घर की ओर चल पड़ी। आगे बेबे मिल गई। उसकी राह रोककर खड़ी हो गई। उसकी इसको कहाँ से याद आ गई। पंद्रह साल बाद। यह कभी उसके सपने में न आई। यह जब मरी थी तो उस रात को इसके सिरहाने राख छानकर रखी थी। सोकर उठते ही देखा तो वहाँ छिपकली के पैरों के निशान बने थे। उसको ख़ुशी हुई थी। इसको तो इससे भी बुरी योनि मिलनी चाहिए थी। नाली के कीड़े-सी। वही कीड़ा जिसकी लंबी-सी पूँछ होती है। यह मनहूस इस समय कहाँ से आ गई? इसके तो मत्थे लगना भी अपशकुन समझा जाता था। वह धीमी आवाज़ में बोली, "चल-चल बुढ़िए तू अपनी राह चल। मुझे तेरी कोई ज़रूरत नहीं। तू वही है न जिसके राज में मुझे चाय का कप पीने का भी हुक्म नहीं था। चल माई चल। मैं पहले से ही बड़ी दुखी हूँ। ज़रा-सा ख़ुशी का दिन चढ़ा है। मुझे तो तेरी परछाईं से भी डर लगता है।" है न कमाल की बात। इसे ज़रा भी ग़ुस्सा नहीं आ रहा। यह इतनी मोम कैसे हो गई? यह तो नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती थी। यूँ ही तो नहीं सभी कहते थे, "हमारे गाँव में तीन लोग कुपंथी हैं। सोहन का बूढ़ा। जगदीश लाल का बिचला लड़का गुरमीत। माई हरजीत कौर। इनकी ज़िद बुरी। इनके मन में जो आता इन्हें वही करना होता। चाहे सामान से भरा गड्डा (बैलगाड़ी) ऊपर से गुज़र जाए।" जो कोई इसके बारे में उससे पूछ लेता तो वह कहती, "हमारी बूढ़ी तो आगे है। दोनों से ढाई हाथ ऊपर। इसने तो जन्मते कौआ खाया हुआ है।" पहले बेबे उसकी ओर देखकर हँसती है। फिर गंभीर हो जाती है। उससे बेबे की यह बुझौवल बूझी न गई। बेबे पहले हँसी क्यों थी? अब इसने एकदम रोनी सूरत क्यों बना ली? वह बेबे की क्यों परवाह करे। वह आगे चल पड़ी। पर बेबे ने ढीठ-सी उसकी राह रोक ली। बोली, "तू घर की तरफ़ क्या बिटर-बिटर ताके जा रही है? तू भूल गई इतनी जल्दी! पम्मी ने तेरे साथ क्या-क्या नहीं किया? अब मैं तुझे यह भी याद कराऊँ! कहती थी—जान ले मैं तेरे लिए मर गई। तू मेरे लिए। तुझे अहाने-बहाने अच्छा-बुरा बोलती। तेरा साथ तेरी मशीन ने दिया। तू कच्चे दालान में मशीन चलाती। वहीं दो रोटियाँ मिल जाती। ठंडी चाय का गिलास पहुँच जाता। तू अपने कपड़े आप धोती। तुझे वह बात भी याद होगी? तूने क्या माँग लिया था! सिर्फ़ घुटनों के लिए 'मूव'। कितने की आती थी? जो बीस नहीं तो तीस की आ जाती। इतने से ज़्यादा तो तू रोज़ के कपड़े सिल लेती थी। पम्मी तुझे किसी चीज़ के लिए आप नहीं कहती थी। बच्चों के हाथ संदेशा भेज देती—फलानी चीज़ है नहीं। तू जो दो पैसे कमाती, साथ-ही-साथ घर में ख़र्च हो जाते। तेरी जेब ख़ाली की ख़ाली ही रहती। एक बार उन्हें पता लग जाए कि तेरे पास दस-बीस इकट्ठे हो गए हैं—फिर जब तक वह निकलवा न लेती, उसको



चैन नहीं आता। तू भी घर से ज़्यादा बँध गई थी। तू यह भी भूल जाती कि आज संक्रांत है। दो घड़ी गुरुद्वारे जाकर साधु-संगत में बैठ जाऊँ। पर क्यों? तुझे घर का ख़याल था। तुझे क्या मिला? ठन-ठन गोपाल! छिंदो से तेरी कराह न सुनी गई। वह 'मूव' ले आया। ताक़त वाले कैप्सूल भी। पम्मी उस पर पागल कुत्ती-सी पड़ गई, "पहले मुझे यह बता—तू वीना के लिए गाइड क्यों नहीं लाया? मुझे तेरा कोई बहाना नहीं सुनना। कान खोलकर सुन ले—जो कल को बिटिया की गाइड न आई तो अपना लेखा विचार लेना। तुझे बुढ़िया का ज़्यादा मोह आ गया। बिलखती बिटिया की कोई परवाह नहीं।" तुझसे और सुना न गया। यह कौन-सी एक दिन की बात थी। पम्मी बातों-बातों में घाव लगाने से बाज़ नहीं आती। तारो के समझाने से अपने चार भाँडे उठाकर हवेली में आ गई। पम्मी ने तुझे बिलकुल न रोका। बोली, "अच्छा हुआ—भले वक़्त पर सिर से बला टली।" तेरा क्या गया? सुखी है न अपनी कोठरी में। चित्त किया तो किसी के कपड़े सिल दिए। नहीं तो मौज से शीशम तले चारपाई डालकर बैठी रही। तेरे हाथों में सलीका है। कारीगर हाथ भूखे नहीं रहने देते। तू बीस-तीस का काम कर लेती। तेरा कौन-सा ख़ास ख़र्चा है। जो दिल में आया बना-खा लिया। न किसी की हैअ, न किसी की खैअ। घर होती तो अब तक तुझे उन्होंने चिता की राह दिखा देनी थी।

ऊदम कौर का जिस्म पत्थर का होने लगा। बेबे ने उसको उसकी तसवीर दिखा दी थी। यह सब कुछ वह भूल-भुला बैठी थी। एक बार तो पोते (पौत्र) का चाव धीमा पड़ गया। जिस तरह के कौए उसी तरह के बच्चे। यहाँ कोई किसी का सगा नहीं। कोई मीत नहीं। जिसको कुछ दे दो वही ख़ुश हो जाता है। मुँह फेरते कितनी देर लगती। इकलौता पूत वह भी माँ को साथ नहीं रख सका। उसको किसी का क्या आसरा। अपना पराँठा आप पकाना। अपनी उँगलियाँ जलाना। बीमार पड़ जाना तो आप उठकर पानी पीना। कई बार छिंदा भी महीना-महीना हवेली की ओर मुँह नहीं करता। जब अपने पेट का जाया अपना नहीं बन सका तो बेगाने घर से आई को क्या दोष देना? कैसा पुत्र? कैसा पौत्र? किसका घर? पहले यह घर

बूढ़ी का था। अब पतोह का बन गया। कैसे मुँह फाड़कर कहती थी, "चल चल बुढ़िये अपने घर चल!" बड़ी आई घरवाली! उसने ओढ़ी चादर कसी। अभी दरवाज़े के पास पहुँची कि उसका पति आ गया। समझाने लगा, "आ गई न बेबे की मीठी-मीठी बातों में। बड़ा मोह जगा बेबे से। वाह भई वाह, कमाल कर दिया सास-पतोह ने। ख़ुद भूल गई। आधी रात तक मुझे सोने नहीं देती थी। तेरी यही रट होती—बेबे को समझा। यह मुझे सोने नहीं देती। जिस काम में हाथ डालूँ आगे यह ऐब निकाल देती। न आप टिककर बैठती, न मुझे बैठने देती। पता नहीं कहाँ-कहाँ से काम निकाल लाती। कुछ और न दिखे तो शिखर दोपहरी में कंडे सुखाने बैठ जाती। तू दुखी होकर यहाँ तक कह देती, "चल किसी और गाँव में जा बसें।" दो रोटियाँ ही खानी। दाल न जुटी तो अचार से ही खा लेंगे। दो घड़ी का सुख तो होगा। कोई क्लेश करने वाला तो न रहेगा। तुझे काम का क्या घाटा। खेतों में मज़दूरी करनी। इस गाँव में न सही, दूसरे में सही।" पर मैंने किससे जुदा होना था—बेबे से! उसका मेरे अलावा कौन था! वह रो-रोकर मर जाती। मैं तुझे समझाता, तू मान जाती। तूने खुला विरोध नहीं किया। बेबे का भला-बुरा सुना। सुनना पड़ता था। वह यह समझ बैठी थी कि उसके अलावा इस घर का कोई और कुछ लगता ही नहीं। अब तू उसकी मति न ले। तू इस बात को क्यों भूल जाती कि जब तू चलने से भी लाचार होगी तो तुझे यही पम्मी सँभालेगी। यही पूत तेरे काम आएगा। यह क्या बात हुई कि अपने पोते को प्यार देने नहीं जाना। तुझे पता—जब तले-ऊपर तीन लड़कियाँ हो जाएँ, फिर औरत का क्या हाल होता है। तेरी आप बीती। जब भोली हुई थी तो बेबे ने दो दिन रोटी नहीं खाई थी। आँचल में मुँह छिपाकर सिसकियाँ भरती रही। मैंने उसे समझाया—क्या आफत आ गई। घर लड़की आई है। रब्ब की देन। पर जब तारो आई बेबे गुमसुम हो गई। ऊँचा बोलना भूल गई। मैंने बेबे को सँभाला। तुझे भी। छिंदो के समय तो क्या कहना था! बेबे हवा में उड़ती फिरती थी। याद है न बार-बार लड़के का मुँह देखने से न अघाती। मैं हर्षाया शराब के लिए आवाज़ मारने लगा। बकरे बुलाने लगा। बेबे ने रोका नहीं था। तूने अंदर पड़ी-पड़ी तारो के हाथ संदेशे पर संदेशा भेजा था, "री, मुझसे आज नहीं रुका जाता। कर लेने दे इसको आज मनचाही। मेरा आप मन करता—आँगन में नाचूँ।" पहले वह आप अकेले आँगन में गाने लगी। फिर नाचने लगी। दीपी आ मिली। ताई आ गई। आँगन औरतों से भर गया। यह वही बेबे थी जो प्रसूति वाले दिनों में बाहरी औरत तो बड़ी दूर की बात है, बाहर की मक्खी तक को घर में घुसने नहीं देती थी। वह सब कुछ भूल-भुला गई थी। अब तू दादी बन गई है। क्या तुझे अपने पोते के आने की ख़ुशी नहीं हुई? जब तुझे गुरुबेरी के पास विद्दो ने बताया था तब तू सीधी घर क्यों न गई? इस समय बहुत सोच में नहीं पड़ा जाता। आख़िर पोता तो तेरा ही कहलाएगा। अब मेरा नहीं, लोग तेरा ही कहेंगे। वीना जब तेरे पास बैठी या खेलती होती है तो आती जाती कोई-न-कोई कह ज़ाती है, "ताई जी वीना का स्वभाव तो बिलकुल तुम पर गया है।" अब तू अपना फ़र्ज़ जानकर लड़के को प्यार दे आ।"

"पम्मी तो मुझे देख नहीं सकती!"

"फिर क्या हुआ? बच्चे ग़लतियाँ करते। बड़े माफ़ करते। ज़िंदगी में कौन संपूर्ण हुआ? क्या हमने बड़ों को अच्छा-बुरा नहीं कहा? तू क्या आप बेबे से कभी नहीं लड़ी? कैसे व्यंग-ताने कसती थी। पर जब बेबे बीमार पड़ जाती तेरे हाथ-पैर झूठे पड़ जाते थे। यही हाल बेबे का होता था...।"

"तेरा कहा सिर माथे पर!" वह अपने पति

का कहा मान लेती है। जब कभी मुश्किल समय उस पर आता है तो उसका पति मार्गदर्शन करता है। वह उसके बराबर आ खड़ा होता है। वह बड़े तड़के उसके सपने में आता है। उसको पीछे मुड़ना पड़ता हो, सो मुड़ती है। अब उसमें उत्साह है। उमंग है। पोते को देखने की अभिलाषा है। दरवाज़ा बंद है। अंदर से कुंडा लगा है। वह कुंडा खड़काती है तो आगे पम्मी चारों खुर उठाकर मारने आती है। उसकी राह रोक लेती है, "दफ़ा हो जा बुढ़िया यहाँ से अब क्या लेने आई है? चल-चल अपना काम कर। लोगों के कपड़े सिल। बेगार कर। मन-मरज़ी का खा-पी। तुझे क्या? कोई मरे या जिए। तेरी अपनी गाड़ी चलनी चाहिए। तुझे अपना पेट प्यारा। अच्छा-चोखा खाने को चाहिए। धुले-धुलाए कपड़े पहनने को हो। यह उम्र रब्ब का नाम लेनेवाली होती है आदमी सोचता अपने किए बुरे कर्मों का पछतावा कर लूँ। आगा सँवर जाए। पर किस लिए! तुझे अपना रब्ब भूला। रब्ब के बंदे भूले हुए। कोई बताए—मैं झूठ बोलती? तू कभी गुरुद्वारे गई? जो गई भी होगी तो सिर्फ़ लंगर छकने। तुझे हमसे क्या मतलब? तुझे बेटे से बेटियाँ प्यारी। वे जो पट्टियाँ पढ़ा जातीं तू वही बोलती। जा-जा बुढ़िया तू अपने घर जा। मुझे तेरी कोई ज़रूरत नहीं। जो पड़ी तो भी तुझे आवाज़ न दूँगी। तंग होकर सात बेगानों की मिन्नत कर लूँगी। दस-बीस ख़र्च करके कोई काम करा लूँगी। तुझे आँगन में पैर नहीं धरने दूँगी। यह मेरा घर है। मैंने ख़ुद बनाया। मायके से पैसे लाई। आगे वाली बैठक बनाई। मेरा बाप आप काम करके गया। तुझे उसने बातों-बातों में बड़ा समझाया, 'बहन जी, तुम आराम से दो रोटियाँ खा लिया करो। और दुनिया से क्या लेना? छिंदा बड़ा अच्छा है। न शराब पिए। न मीट खाए। न सिगरेट को हाथ लगाए। उसमें कोई ऐब नहीं। तुमने पिछले जन्म में कोई अच्छा कर्म किया था जिससे तुझे इतना नेक बेटा मिला।' तूने मेरे बाप की भी एक न सुनी। अपनी सुना गई, 'पम्मी मुझे कुत्ती-सा भी नहीं जानती।' तेरा कोई भी काम समझदारी वाला नहीं। कौन बार-बार तेरे पैरों के नीचे से लाँघे। तू यही चाहती—मैं पूछूँ, 'माता जी, चाय बना लूँ? सब्ज़ी में कितना प्याज़ डालूँ?'...अब तुझे बड़ा प्रेम जागा! जहाँ मैंने इतने दिन बुरे-भले काट लिए—वहाँ यह समय भी गुज़र जाएगा। जिनका कोई नहीं होता—उनकी क्या गुज़र नहीं होती! तू उनके पास जा जिनको प्लॉट बेचा था। मैं देखती हूँ तेरे पचास हज़ार कितने साल चलते हैं। तेरी लाश अंदर ही पड़ी सड़ेगी। मैं देखूँगी घर से कौन जाता है? मैंने तुझे कितना समझाया कि माता जी प्लॉट न बेचो। बेटियों के ब्याह के समय अपने काम आएगा। हमें इसका हौसला है। तूने मेरी एक न मानी। मैंने मिन्नतें की। तेरे पैरों पड़ी। तेरे बेटे ने भी समझाया। तुझे पता नहीं क्या दिखता था? तूने इसको बेचकर ही साँस लिया। पैसे तारो के पास रख आई। ले लेना उससे गिन-गिनकर। ससुर जनानी का ग़ुलाम था जिसने तेरे नाम प्लॉट ख़रीदा। अब तुझे पोते का मोह जागा! तब तुझे यह भी याद नहीं रहा कि तेरा पूत पंद्रह सौ में किस तरह पाँच जीवों का गुज़ारा करता है। तूने कभी सोचा? न ठीक से खाने को मिला न ठीक से पहनने को। जा बुढ़िया जा अपनी कोठरी में! तुझे अपनी बेटियाँ प्यारी। दामाद प्यारे। बड़की टेप रिकॉर्डर लाकर दे गई। छोटकी टी.वी. लाकर दे जाएगी। तारो के दोनों लड़के अमरीका क्या चले गए—उसे भी रब्ब भूल गया। अपने घर की तारीफ़ करती साँस नहीं लेती, 'यह देखो हमने नई ज़ेन निकलवाई। घर में सब कुछ पहले से ही है। टी.वी., वी.सी.आर., बड़ा फ्रिज, ए.सी.।' बड़ी आई जैलदारनी। बड़ी है तो अपने लिए। अपनी माँ के लिए है। मुझसे कुछ और न सुनकर जाना। ज़रा भर घर ने ख़ुशी का दिन देखा है। जब तुझे आवाज़ देंगे तू तब ही आना।"

वह मिनट भर सर गाड़े खड़ी रही। वापस लौटने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। दरवाज़ा बंद है। उसमें इतनी हिम्मत नहीं कि खोलने के लिए आवाज़ दे। वह दरवाज़े की दराजों से झाँकती है। दालान में बत्ती जल रही है।

''लंबी उम्र की बहार ले!'' बाहर से ही आशीष दे वह सर नीचा किए हवेली की ओर मुड़ पड़ी।

वह आँगन में आ खड़ी हुई। समय का अंदाज़ा लगाने लगी पर उसे इस बात का पता नहीं लगा कि दिन निकलने में अभी कितना समय बाक़ी है। थकान हो रही है। क्या रज़ाई में जा छिपे? या चाय पीकर मशीन लगा ले? वह आज मशीन नहीं लगाएगी। लोग क्या कहेंगे—इसे लोगों के कपड़े सीने की पड़ी है।

हैं! यह छिंदा कहाँ से आ गया? वह तो बाहर का दरवाज़ा बंद कर आई थी। यह दीवार फाँदकर आया होगा। बड़ा ख़ुशामदी। जब ज़रूरत पड़े, बेबे-माइये कहने लगता है। आगे-पीछे 'बुढ़िये' के बिना बात नहीं करता। इसको सारे ढंग-तरीक़े आते हैं कि बीबी (माँ) को कैसे मनाना है। यह अपनी राँड़ के उकसावे में ज़रूर आ जाता। इसने घट-बढ़ ही बुरा-भला कहा है। भोला-सा चेहरा बनाकर कहने लगा, ''मेरी भोली माई-तू सारी उम्र भोली रही। तू अकेले अपनी ओर ही न देखा कर। अपने इर्द-गिर्द भी नज़र डाल लिया कर। सास-पतोह की लड़ाई आदि काल से ही चली आ रही है। इंदिरा गाँधी के घर किस चीज़ की कमी थी। बनी वहाँ भी नहीं। तू पम्मी की बातों का ग़ुस्सा किए बैठी है। तेरे लिए पम्मी पहले है कि मैं? लड़के को देखने तुझे मेरे लिए आना है। अपना पोता तू देखने चल। आ चलिए। पम्मी तुझे खा नहीं लेगी। वह मुँह की बड़बोली है। दिल की बुरी नहीं।

तुझे पता नहीं पिछले महीने जब तुझे बुख़ार चढ़ा था—वह आप तो नहीं आई पर उसे घर में बैठे चैन नहीं था। उसने वीना को तेरे पास भेजा था। तुझसे डरती है, कोई खाने-पीने की चीज़ नहीं भेजी थी। अब तू थोड़ी-सी नर्म हो जा। ज़िद बहुत देर नहीं चलती। बधाई देने तो कोई सात बेगाना भी आ जाता है। तू घर की मालकिन। मालिकों को भी पूछकर आने की ज़रूरत होती है?...लड़के को देखकर वीना बोली थी, ''डैडी, इसकी नाक तो बिलकुल बीबी जैसी। मैं झूठ नहीं बोलता। तू आप चलकर देख ले। तुझे मेरी बात का एतबार नहीं आना। तू क्या अपने पेट से पैदा किए को बिसार देगी! दूर फेंक ग़ुस्से को। सारी दुनिया एक तरफ़। तेरा पोता एक तरफ़। माता श्री चल। अब क्या सोचने लगी? अभी हमें कई काम करने हैं। तेरी सलाह से लड्डू बाँटने हैं। बहनों को मिठाई भेजनी है। तू ही घर की बुज़ुर्ग। तू ज़ोर से कह—मैं पोतेवाली बन गई। बल्ले-बल्ले-मैं दादी माँ बन गई। तू माथे पर हाथ रख क्या सोचने लगी।

तुझे एक कहानी सुनाता हूँ। मुझे ख़ुद किसी ने सुनाई थी। ''एक लड़के ने घर से बाग़ी होकर अपना ब्याह कर लिया। उसका बाप बड़ा हठी था। उसने कहा, जो तेरा ब्याह होगा तो उसी जगह जहाँ मैंने हाँ कर रखी है। या फिर तेरे लिए इस घर में कोई जगह नहीं है। समझ ले तू मेरे लिए मर गया, मैं तेरे लिए। लड़के ने न हाँ की, न ना की। बाप को ग़ुस्सा आ गया। उसने कहा, 'जो मेरी बात नहीं माननी तो यहाँ से दफ़ा हो जा।' लड़का उसका भी बाप निकला। उसने अपना सामान सँभाला और किसी दूसरे शहर चला गया। मियाँ-बीवी मौज से रहने लगे। न किसी की हैहै, न किसी की खैखै। बाप को लड़का याद नहीं आता। न लड़के को बाप। किसी को एक-दूसरे की ज़रूरत नहीं पड़ी। दोनों अपनी-अपनी जगह राजी-बाज़ी। उनके दो लड़के हुए। बहुत ही सुंदर। अच्छे। सयाने।

एक बच्चे का जन्मदिन आया। उसने अपनी मम्मी से बाबा के बारे में पूछा। उसकी मम्मी को जो कुछ पता था, उसने बता दिया। बच्चे ने अपने बाबा को चिट्ठी लिखी, 'बाबा जी, मैं आपको अपने जन्मदिन पर बुला रहा हूँ। आप ज़रूर आना। जो आप नहीं आए तो मैं अपना जन्मदिन नहीं मनाऊँगा। मैं केक बाहर फेंक दूँगा।' इधर चिट्ठी मिली उधर बूढ़ा सोच में पड़ गया—जाऊँ कि न जाऊँ! फिर उसको लगा कि उसका पोता, अपना ख़ून बड़ी बेसब्री से उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। फिर बूढ़ा गया''...चल, अब तू भी चल...।

''हाँ, तू मेरा अपना ख़ून है।'' वह ज़ोर से बोली जैसे उसे आस-पड़ोस को सुनाना हो कि देखो वह पोते वाली बन गई है।

चल मन, अब जाना ही पड़ेगा। आख़िर उसका अपना ख़ून है। बड़ी देर बाद इस घर में ख़ुशियों का मुँह देखा है। पूत बिना भी घर घर नहीं लगते। क़ब्र पर दीवा जलाने वाला भी कोई होना चाहिए। पम्मी न बोले तो न सही। उसने इस परिवार की जड़ हरी की है। जीती-जागती रहे। उसे अपने पोते को प्यार देना है। अगर पम्मी ने रोका तो वह बैठ जाएगी। नहीं तो प्यार देकर लौट आएगी। वह कोठरी का दरवाज़ा खोलती है। डिब्बे से पचास का नोट निकालती है। अपने आप से सलाह करती है। ख़ाली हाथ जाती अच्छी नहीं लगती। पम्मी ने क्या रखना। छिंदे उसे लौटा देगा। वह वापस लेगी नहीं। अच्छा नहीं लगता। वह दादी है। वह उसका पोता है। वह पोते की मुट्ठी में पकड़ा देगी। वह नर्म-से हाथों में पकड़ लेगा। अभी उसका एक पैर दरवाज़े से बाहर था एक पैर भीतर कि तारो आ गई। वह ख़ुश हो गई। तारो की सलाह उसके लिए आख़िरी सलाह होती है। तारो का अपनी माँ से बहुत प्यार है। उसको पता लग जाए कि माँ की ज़रा भी तबीअत ख़राब है तो वह सारे काम छोड़कर दौड़ी आती है। ख़ुद कार चलाकर। यह छिंदो के घर कम जाती है। इसको बुलाने पम्मी ख़ुद आती है। तारो पूछने लगी, ''बीबी, तू कहाँ चली? घर—तेरा कौन घर? छोड़ यह मोह-ममता के झंझट। पीछे लौटकर स्टोव जला। चाय का कप बना। मशीन चला। तुझे प्रेमो का सूट शाम तक देना है। तुझे अपना काम निपटाने में ही फ़ायदा। बीस रुपए मिलेंगे। मेरी अम्मीए, दिल छोटा न कर। यह दुनिया मतलब की है। यहाँ कोई किसी का साथी नहीं।

मैं तुझे अपने गाँव की एक कहानी सुनाती हूँ। ''हमारे पिछवाड़े एक बूढ़ी रहती थी—करतारो। उसके दोनों गुर्दे ख़राब हो गए। डॉक्टर ने कहा जो कोई एक गुर्दा दे दे तो वह बच सकती है। उसके घरवाले ने हाँ कर दी। पर करतारो ने मना कर दिया। बोली, 'मैंने खा लिया, पी लिया, उम्र बिता ली, बहुतेरी दुनिया देख ली। तू मेरे लिए अपने दिन क्यों घटाए? मुझे तेरा गुर्दा नहीं लेना।' उसका लड़का अमरीका में रहता था। उसे फ़ोन किया कि जाती बार आकर देख ले। वह पंद्रह दिनों बाद आ गया। करतारो का कलेजा जुड़ा गया। उसे लगा कि वह अब आराम से मर सकती है। पर मरने को किसका दिल करता है। कौन इस दुनिया को छोड़कर जाना चाहता है? एक दिन बूढ़ी को बहुत तेज़ दर्द उठा। उसने अपने पास रहती भतीजी को आवाज़ दी। कड़ाही रखने का इशारा किया। टट्टी करने को बैठी बूढ़ी को ख़याल आया कि जो हवा सरक गई तो रोटी खाने बैठे बेटे से रोटी नहीं खाई जाएगी। उसने बूढ़े को पास बुलाया और कहा कि जब तक मैं नहीं उठती तब तक तू मेरे साथ ज़ोर-ज़ोर से बातें करता रह। जब बेटा रोटी खा ले तो मुझे उठा देना। इधर लड़का रोटी खाकर हाथ धोने को उठा—उधर करतारो रब्ब को प्यारी हो गई। लड़के के मुँह से एक बार भी नहीं निकला कि मैं

अपनी माँ के लिए एक गुर्दा देने को तैयार हूँ। यह तो घर-घर की कहानी है। जिधर नज़र डालो—यही मिलेगा।''

''... ...।''

''पर, माँ... ?''

''तू यही कहेगी—माँ आख़िर माँ होती है। पर पूत को भी पूत होना चाहिए। तू खड़ी-खड़ी थक गई। दो घड़ी आराम कर ले। अभी छह बजे हैं। चली जाना। मैं तुझे रोकती नहीं। मैं तेरी दुश्मन नहीं। पेट से जायी बेटी हूँ। थोड़ी देर सब्र कर ले। घर से तुझे कोई बुलाने भी आता है या नहीं।''

ऊदम कौर का आधा दिन बड़े असमंजस में बीता। उसकी नज़रें बाहरी दरवाज़े पर लगी रहीं कि अब भी घर से कोई संदेशा आए कि अब कोई बुलाने आया। सरबजीत उसे बता गया था कि छिंदा अपनी समराले वाली साली को लाने गया है।

आज वीना भी इधर नहीं आई। क्या पता पम्मी ने ही रोक दिया हो। या यह भी हो सकता है कि वह अपनी मम्मी के पास बैठी हो। बच्चे का भी सयाने जितना आसरा होता है।

उसने कोठरी का दरवाज़ा बंद कर रखा था। पर ठंडी, तेज़ हवा ने गर्मी नहीं आने दी थी। वह आधे घंटे बाद दरवाज़ा खोलकर देखती कि कोई आया कि नहीं। आँगन में पानी भरा पड़ा था। न बरसात हटी न उससे बाहर जाया गया।

गुरुद्वारे रहरास (शाम की प्रार्थना) का पाठ शुरू हो गया। पति फिर समझाने लगा, ''तूने की न बूढ़ियों वाली बात! घर में पम्मी अकेली है। लड़कियाँ अपना काम सँभाल लें यही बहुत है। तुझे जाना चाहिए। सूट कहीं भाग नहीं चला। रात को सिल लेना। अभी जा। पम्मी तुझे खा तो नहीं लेगी। वह भी तेरा अपना घर है।''

उसका अपना मन भी जाने को उतावला था। प्रतीक्षा का प्याला भर गया था। उसको कोई क्यों बुलाने आए। वह घर में सबसे बड़ी है। पम्मी नहीं बुलाती तो न बुलाए। लड़कियाँ तो हैं। उसकी पोतियाँ।

वह उतावली होकर घर की ओर चल देती है।

अभी घर वाला मोड़ ही मुड़ी कि आगे उसे छिंदा जाता दिखा है। वह छिंदे से पूछती है, ''तू कहाँ से आया?''

''मैं यहीं था।''

''तूने मुझे बधाइयाँ नहीं दीं।''

''मैं भूल गया। सारा प्रताप तेरा।''

उसका कलेज़ा ठंडा हुआ।

''इतनी ठंड में तू किधर चली?''

''घर अपने पोते को देखने।''

''पम्मी ने मुझसे कहा है कि जब तक तेरहवाँ नहीं नहा लेती, तब तक किसी बाहर की जनानी को घर में नहीं आने देना।''

छिंदे ने और भी कहा। उसे बहुत कुछ सुनाई नहीं दिया। उसने कानों से उँगली लगा ली। उन्हीं पैरों वापस मुड़ आई। स्टोव जलाया। चाय का करारा-सा गिलास बनाकर छोटे-छोटे घूँट भरने लगी। उसके सामने अधसिला सूट पड़ा है। उसे सबेरे की चाय के लिए काकू की पत्नी से दूध भी लाने जाना है। क्या पता वह आप ही दे जाए। वह बड़ी अच्छी है। शायद किसी बच्चे के हाथ भेज दे। वह सूट सिलना शुरू कर देती है। अपने आपसे बातें करती है, ''मैं तो भूल ही गई थी। तुझे सबेरे ब्याह पर जाना है। अब तेरा सूट सिलकर ही रोटी बनाऊँगी। तू मेरी ओर फेरा न लगाना। मैं ख़ुद देने आऊँगी। पहले टेप रिकॉर्डर में श्रीनगरीये भाई के शब्द की कैसेट लगा लूँ...।'' और इसी उधेड़-बुन में फँसी बूढ़ी के मुँह से अचेत ही यह भी निकला, ''पम्मी का बेटा बाद में होगा। पहले वह मेरा पोता है। मेरा अपना ख़ून। लंबी उम्र का आनंद पाए।''

नछत्तर

आग की रोटी

श्मशान घाट के एक कोने में खड़े कुंदन ने घड़ी की ओर देखा। चार बजकर बीस मिनट हुए थे। वहीं खड़े-खड़े उसकी निगाह आसमान की ओर भी गई, पर वहाँ सुबह से ही बादलों की सघन चादर तनी होने के कारण सूरज का पता नहीं लग रहा था कि वह कहाँ है। पिछले चार-पाँच दिनों से मौसम कुछ अधिक ही बिगड़ा होने के कारण हड्डियों को चीरती शीत हवा चल रही थी। उम्र बिता चुके दरख़्तों के पीले पड़ चुके पत्ते हवा के तेज़ झोंकों से इधर-उधर उड़ रहे थे।

''पानी किसी घड़ी भी बरस सकता है।'' कुंदन के चेहरे पर शीत हवा का एक तेज़ झोंका थप्पड़ की भाँति लगा तो उसके मुँह से ये शब्द निकले।

कुंदन के पैरों से कुछ ही दूरी पर उस दिन श्मशान घाट में आई अर्थियों में से दसवीं लाश की चिता जल रही थी। लकड़ियाँ गीली होने के कारण आग बड़ी मुश्किल से लगी थी। कुंदन ने अपने हाथ में पकड़े हुए लंबे बाँस से चिता में जलने से रह गई लकड़ियों को इकट्ठा कर अंदर की ओर धकेलते हुए एक लंबा श्वास लिया, क्योंकि मुर्दा लगभग आधा जल चुका था। अर्थी के संग आए मृतक के सगे-संबंधियों को दूर बैठा देख कुंदन ने कपाल-क्रिया की रस्म के बारे में सोचा।

श्मशान घाट के लाउड-स्पीकर द्वारा धार्मिक गीतों के बोल पूरे वातावरण में घुलमिल रहे थे। पहले कभी भी कुंदन का ध्यान उन गीतों की ओर नहीं गया था, पर उस दिन हर गीत का एक-एक शब्द उसके भीतर तक उतरता जा रहा था। लगातार आँखों में धुआँ पड़ते रहने के कारण लाल हो उठी आँखों को मलते हुए एक बार फिर कुंदन ने अपने आसपास नज़र दौड़ाई। उससे थोड़ी दूरी पर जल रही चिताओं के क़रीब दुर्गा और बलराम खड़े थे। कुंदन को लगा, जैसे वे दोनों भी उसकी ओर ही देख रहे हों। फिर उसकी निगाह एक शेड के नीचे पड़ी संत राम की अर्थी की ओर गई। कुछेक पल उधर देखते रहने के बाद कुंदन को लगा, मानो कफ़न में लिपटे संत राम ने आवाज़ देकर उसे अपने पास बुलाया हो। एक पल कुंदन का मन किया कि वह आवाज़ देनेवाले के पास

पंजाबी कथाकार नछत्तर का जन्म 1950 में हुआ। इनके पाँच कहानी-संग्रह, चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। पंजाबी अकादमी, दिल्ली से सम्मानित हैं। संपर्क : जी एच-14/676, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110087
मो. 9313292863

अनु. 1954 में जन्मे सुभाष नीरव के दो कहानी-संग्रह, दो कविता-संग्रह, लघुकथा, बाल कहानी तथा अनुवादित संपादित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 248, टाईप-3, सेक्टर-3, सादिक़ नगर, नई दिल्ली 110049, मो. 9810534373

जाए, पर क्षणभर बाद ही उसकी आँखों के सामने क़रीब आधा जल चुका मुर्दा आ खड़ा हुआ, कुंदन के क़दम वहीं के वहीं रुक गए।

"आओ जी, कपाल-क्रिया की रस्म करें।" अपने क़रीब खड़े एक व्यक्ति से कुंदन ने कहा।

कुंदन की आवाज़ सुनकर वह धीमे क़दमों से उसके क़रीब आ खड़ा हुआ।

"इसे कसकर पकड़। इसके सिरे को पूरे ज़ोर से खोपड़ी पर तीन बार मारना है ताकि वह टूट जाए।" चिता में जल रही लाश के नज़दीक संबंधी के हाथ में बाँस को थमाते हुए कुंदन ने कहा तो सामने खड़े हुए व्यक्ति का चेहरा एकदम ही लटक गया।

उस समय कुंदन को लगा, मानो उस आदमी से यह क्रिया नहीं हो सकेगी। तेज़ी से भागते जा रहे समय को महसूस करके कुंदन ने आगे बढ़कर उसकी बाँह पकड़ी और उस आदमी ने खोपड़ी को ठोकर मारने के लिए बाँस को आगे बढ़ाया तो उसकी आँखों में रुका हुआ समुंदर अचानक छलक पड़ा। उस आदमी ने एक पल चिता के अंदर जल रही खोपड़ी की ओर देखा, पर आँखों में भर आए आँसुओं के कारण उसे कुछ भी नज़र नहीं आया। कुंदन ने घड़ी की ओर देखा। पहले से ही खीझे खड़े कुंदन ने आगे बढ़कर उस आदमी के हाथ से बाँस ले लिया और स्वयं ही तीन बार खोपड़ी को ठोकर मारकर कपाल-क्रिया की रस्म पूरी कर दी। यह काम करने के बाद कुंदन ने गहरी साँस लेते हुए एक पल शेड के नीचे पड़ी संत राम की अर्थी की ओर देखा। उस पल कुंदन को लगा, जैसे उसका दिल धधकने लगा हो, मानो आग चिता में नहीं बल्कि उसके अंदर जल रही हो। बार-बार सूख रहे होंठों पर जीभ फेरते हुए एक बार फिर उसने ऊपर आसमान की ओर देखा।

"मरने के बाद सब ऊपर ही जाते हैं।" आसमान की ओर देखते हुए वह सोच रहा था।

उसी समय, एक और अर्थी को उठाए कुछ आदमी कुंदन को दिखाई दिए, तो हाथ में पकड़े हुए बाँस के इर्द-गिर्द उसकी मुट्ठियाँ ख़ुद-ब-ख़ुद भिंच गईं। उस समय कुंदन का मन हुआ कि वह अपने हाथों में पकड़े बाँस को दूर फेंक दे और कहीं दूर भाग जाए, पर अगले ही पल उसकी आँखों के आगे मरे पड़े संत राम का चेहरा घूमा तो गले में इकट्ठी हुई कड़वाहट को उसने अपने अंदर ही निगल लिया।

उस समय श्मशान घाट में आई उस अर्थी के साथ उस दिन आनेवाली लाशों की संख्या ग्यारह हो गई थी। बारहवीं अर्थी संत राम की थी जो दोपहर से लेकर उस समय तक अग्नि की भेंट नहीं हो सकी थी। इतनी अर्थियाँ उस दिन पहली बार नहीं आई थीं, बल्कि यह सिलसिला तो कई दिनों से जारी था। ऐसा लग रहा था, जैसे पूरा शहर ही कुछ दिनों में ख़त्म हो जाएगा। जनवरी का ठंडा महीना और उस पर दो दिन पहले हुई बरसात के कारण कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। अधिक आयु के कई बूढ़े-बूढ़ियाँ उस ठंड की भेंट चढ़ गए थे।

दिशाएँ बदल-बदलकर लग रही हवा के तेज़ झोंकों से श्मशान घाट के अहाते के अंदर जल रही चिताओं से उठ रहा धुआँ कुंदन की आँखों में मिर्च की तरह लगा, तो उसने आँखें मलते हुए एक बार फिर संत राम की अर्थी की ओर देखा। खड़े-खड़े कुंदन को लगा, मानो अर्थी के समीप बैठे दुर्गा और बलराम भी उसी की तरह सोच रहे हों।

"चलो भई, अँधेरा होने से पहले ये अर्थी भी समेटो।" गुमसुम खड़े कुंदन के पास आकर पंडित राम दत्त ने कहा तो श्मशान घाट के अहाते के अंदर सोचों के समुंदर में से बाहर निकलकर कुंदन ने एकपल को कहने वाले के मुँह की ओर घूरकर देखा।

कुंदन के दूसरे साथी संत राम की अर्थी के

पास से उठकर पहले ही ख़ाली चबूतरे के ऊपर तेज़ी से लकड़ियाँ ज़माने लगे थे। मृतक के साथ आए व्यक्ति भी लकड़ियाँ चिनने में उनकी मदद कर रहे थे।

"संत राम की देह को यहाँ से ख़ाली होकर अग्नि के हवाले करेंगे।" कुंदन के क़रीब आकर दुर्गा ने मरे हुए मुँह से कहा तो कुंदन स्वयं भी चिनी जा रही चिता के पास पहुँच, उनके द्वारा किए जा रहे काम में हाथ बँटाने लगा।

हालाँकि संत राम की मिट्टी को अग्नि की भेंट करने में बहुत देर हो रही थी, पर फिर भी कुंदन उस काम के लिए जल्दबाज़ी नहीं करना चाहता था। जो रिश्ता उसका और संत राम का पिछले दस-बारह सालों के दौरान बना है, कुंदन नहीं चाहता था कि आग उसे इतनी जल्दी भस्म कर दे। कुंदन तो संत राम की मृतक देह के पास बैठकर उससे कुछ पल वह बातें करना चाहता था, जो कुंदन चाहते हुए भी शर्म का मारा अब तक उसके साथ साझा नहीं कर सका था।

सत्रह-अट्ठारह वर्ष पहले फूलभर कुंदन को कोई कपड़े में लपेटकर श्मशान घाट के गेट के आगे रखकर चला गया था। वहीं से संत राम को वह मिला था। संत राम ने ही उसका नाम कुंदन रखा था। श्मशान घाट के साथ वाली बस्ती से माया नाम की एक औरत अकसर संत राम के पास आया करती थी। उसका आदमी नहीं था और दो छोटे-छोटे बच्चे थे। उनका पेट पालने के लिए उसे बहुत कुछ करना पड़ता था। कभी-कभी वह पूरी-पूरी रात संत राम के पास रह जाती थी। मुर्दों के ऊपर से उतारी गई अपने हिस्से में आई शॉलें और छोटा-मोटा सामान संत राम माया को उठवा देता था। दरअसल, उसने ही कुंदन को पाला था। यह सब कुछ कुंदन को एक रात दारू के नशे में दुर्गा ने बताया था।

संत राम नहीं चाहता था कि कुंदन के बाल मन पर श्मशान घाट जैसे वातावरण का बुरा प्रभाव पड़े। उसकी सदैव यही कोशिश रही कि कुंदन को उस काम से दूर रखा जाए। संत राम तो कुंदन को पढ़ाना चाहता था। उसे बस्ती के स्कूल में दाख़िल भी करवाया, पर कुंदन के तो कुछ पल्ले पड़ता ही नहीं था। स्कूल में कभी भी उसका मन पढ़ने को नहीं करता था। उसे सदैव यही लगता रहता कि वह स्कूल की चारदीवारी के अंदर नहीं, बल्कि किसी क़ैद में फँसा हो। छुट्टी होते ही वह तख़्ती-बस्ता लेकर माया के घर की ओर नहीं, बल्कि सीधा श्मशान घाट की ओर दौड़ता था। उसे वहाँ आया देख, संत राम बहुत खीझता, पर उसका मन तो संत राम के पास ही लगता था। माया उसे अपने बच्चों से भी बढ़कर समझती थी, पता नहीं क्यों माया को देखते ही कुंदन को ग़ुस्सा आने लगता।

कुंदन को बड़ा होते देख माया ने वहाँ आना कम कर दिया था। एक बार कुंदन कहीं बाहर खेल रहा था और माया ने संत राम के कमरे में घुसकर अंदर से कुंडी लगा ली थी। कुंदन कमरे की ओर गया तो दरवाज़े को बंद पाकर उसके तख़्ते तोड़ने लगा। जब माया ने दरवाज़ा खोला तो ग़ुस्से से भरा कुंदन रोए भी जा रहा था और साथ ही अपने छोटे हाथों से माया को पीट भी रहा था। संत राम ने कुंदन को गोदी में उठाकर बड़ी ही मुश्किल से चुप कराया था। उस दिन के बाद माया ने दिन में आना बहुत कम कर दिया था। रात-बिरात भी वह तभी आती थी, जब कुंदन सो जाता था।

वहाँ खड़े-खड़े कुंदन ने पीछे मुड़कर देखा तो यह सब कुछ उसे साक्षात् दिखाई दिया था। कुंदन ने गर्दन को झटका देकर पीछे छूट गए को और पीछे धकेल दिया। ज्यों-ज्यों बीती घटनाएँ उसे याद आ रही थीं, वैसे-वैसे वह भावुक होता जा रहा था। वहाँ खड़े-खड़े उसे लगा, जैसे उसके दोनों पैर सो गए हों। पैर उठाते हुए

उसकी टाँगों में झनझनाहट-सी पैदा होती तो उसे लगता, मानो वह अभी भरभराकर गिर पड़ेगा। एक-एक क़दम रखना उसे कठिन प्रतीत हो रहा था।

कुछ बड़ा होने पर दोनों कमरों की साफ़-सफ़ाई का काम कुंदन ने ख़ुद सँभाल लिया। कमरों के आगे फूलों की क्यारियों की देखभाल भी वह ख़ुद करने लगा था। इन कामों के लिए उसे किसी ने भी नहीं कहा था, पर कुंदन से ख़ाली नहीं बैठा जाता था। कुछ समय बाद सुबह-शाम की रोटी वाले बर्तन भी कुंदन ख़ुद ही साफ़ करने लगा था। पहले रोटी-सब्ज़ी संत राम बनाया करता था, पर धीरे-धीरे यह काम भी कुंदन ने अपने ज़िम्मे ले लिया।

फिर माया ने संत राम के पास आना बिलकुल ही बंद कर दिया। संत राम स्वयं ही समय-असमय बस्ती की ओर चक्कर लगा आता था। माया नहीं चाहती थी कि संत राम और उसके संबंधों का कुंदन के बाल मन पर बुरा प्रभाव पड़े। इस बात से संत राम स्वयं भी सतर्क रहने लगा था।

"कुंदन, आज रात तू सोना नहीं, जागते रहना। तेरे सोने के बाद तेरी आंटी संत राम को मिलने आएगी।" इस तरह की बातें कहकर दुर्गा कुंदन को खिझाता, तो कुंदन उनके पास से उठकर दूर भाग जाता था और तब तक उनके पास नहीं जाता था, जब तक उसका ग़ुस्सा ठंडा नहीं हो जाता।

"आज तो काम मंदा ही रहा।" एक रात श्मशान घाट के अहाते में ठंडी हो रही एक चिता के क़रीब बैठे दारू पी रहे बलराम ने बाक़ी लोगों को सुनाते हुए कहा था।

"अब बंदे कम मरने लगे हैं।" दुर्गा ने अपना गिलास ख़ाली करते हुए हुँकारा भरा था।

दिन भर श्मशान घाट में मुर्दे जलते रहने के कारण रात होने पर वहाँ काम करते लोगों के मन पर एक ऐसी बदबू हावी हो जाती थी, जो उन्हें तब तक हल्का नहीं होने देती थी, जब तक दारू के दो-चार पैग उनके गले से नीचे नहीं उतर जाते थे।

"यह काम तेरे लायक़ नहीं। तू नहीं जानता कि लोग हमें कितनी नफ़रत से देखते हैं, पर क्या करें। हमारे बग़ैर उनका गुज़ारा भी नहीं चलता।" जब कभी जल रही लाश के पास आकर कुंदन खड़ा हो जाता, तो अकसर ही संत राम उससे कहा करता था।

पर जैसे-जैसे कुंदन बड़ा होता गया, संत राम के न चाहने पर भी, वैसे-वैसे श्मशान घाट के भीतरी सारे गुर वह अपने आप सीखता चला गया। श्मशान घाट के अंदर अर्थी लाकर रखते समय, मुर्दे के पैर दक्खिन की ओर और सिर उत्तर की ओर। चिता को आग दिखाए जाने से पहले गायत्री मंत्र का जाप करना और कपाल-क्रिया की रस्म के समय चिता के अंदर जल रही खोपड़ी को बाँस से तीन बार ठोकर मारना आदि, ऐसी बहुत सारी अन्य रस्में कुंदन ख़ुद-ब-ख़ुद सीख गया था, पर इनके बारे में किसी को भी बताता नहीं था।

पहले कुंदन शराब नहीं पीता था, पर ठेके से दारू लेकर आने का काम वही करता था।

"ला चाचा आज मैं भी पीकर देखता हूँ।" एक रात कुंदन ने अपने आप ही संत राम के हाथ से दारू वाला गिलास पकड़ लिया था।

श्मशान घाट के काम करते हुए बाक़ी लोगों की देखादेखी कुंदन स्वयं भी संत राम को चाचा ही कहा करता था।

उस दिन भी श्मशान घाट के अंदर दस-बारह अर्थियाँ आई थीं। ज़्यादा लाशें आई होने के कारण सब अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। कुंदन कमरे के अंदर की सभी वस्तुओं की साफ़-सफ़ाई और रख-रखाव के बाद उधर निकल आया था। उस समय, वह कुछ अधिक ही बुझा-

बुझा-सा लग रहा था। उसका मन करता था कि कोई उसके साथ किसी भी तरह की बात करे ताकि उसके मन पर का बोझ हल्का हो जाए, लेकिन सभी अपने-अपने काम में मस्त थे। कुंदन के साथ बात करने के लिए किसी के पास भी समय नहीं था। यह देखकर कुंदन के मन के ऊपर का बोझ और भी भारी हो गया।

उसी समय एक चिता को आग दिखाने के बाद दुर्गा सिगरेट सुलगाकर एक ओर होकर खड़ा हो गया था। उसे खड़ा देखकर कुंदन छोटे-छोटे क़दम धरता उसके पास जा पहुँचा। कुंदन ने दुर्गा के हाथों से बाँस पकड़ लिया। दो-तीन बार बाँस को इधर-उधर घुमाकर देखा। फिर उसने जल रही चिता से बाहर गिर रही अधजली लकड़ियों को चिता के अंदर की ओर धकेल दिया। सिगरेट ख़त्म करने के बाद दुर्गा ने कुंदन के हाथ से बाँस लेना चाहा तो कुंदन दूर भाग गया।

"बताऊँ चाचा को!" दुर्गा ने संत राम को बताने के बारे में कहा तो कुंदन ने अपने आप ही बाँस दुर्गा को पकड़ा दिया।

उस दिन वह पूरा मुर्दा जलने तक दुर्गा के क़रीब खड़ा रहा था। उस दिन संत राम भी अपने काम में बहुत व्यस्त था। नहीं तो वह कुंदन को झिड़ककर वहाँ से भगा देता। चिताओं के अंदर जलती लाशों की गंध के कारण उस दिन कुंदन का सिर चकराने लगा था, मानो उसे उल्टी आ रही हो।

पहले कुंदन संत राम के साथ ही एक कमरे में रहता था, पर कुछ समय के बाद श्मशान घाट का प्रबंध समाज सुधारक कमेटी के हाथ में आया तो कमेटी ने अर्थी के संग आए लोगों के बैठने के लिए शेड्स बना दिए। दो-तीन नए कमरे भी बन गए। बैठने के लिए शेडों के नीचे बेंच भी आ गए। कुंदन के बड़ा हो जाने के कारण उसको अलग कमरा मिलने पर वह बहुत ख़ुश था। उसके बाद वही कमरा कुंदन का घर था और श्मशान घाट ही उसका संसार बन गया।

रात को संत राम और कुंदन ही श्मशान घाट के अंदर रहते थे, क्योंकि बाक़ी सबके घर थे। रात को घरों की ओर लौटने से पहले वहाँ काम कर रहे सभी लोग नहा-धोकर दारू के दो-दो पैग अपने अंदर उतारते और उस दिन के पूरे लेखे-जोखे के बारे में चर्चा करने बैठ जाते।

"ये बेचारे तो ग़रीब साथी ही लगते हैं।" अर्थी के साथ आए ग़रीब-से लोगों को देखने के बाद।

"यह बूढ़ा तो लड़कों के लिए अच्छा-ख़ासा धन छोड़ गया होगा, तभी तो पूरे ढोल-ढमाके के साथ अर्थी सजाकर लाए हैं।" शानो-शौकत से लाई गई एक बुज़ुर्ग की अर्थी देखने पर।

"इस लड़की ने तो यूँ ही बेकार में अपनी जान गँवा दी।" इश्क़ में नाकाम रही किसी लड़की द्वारा आत्महत्या करने पर। इस प्रकार की टिप्पणियाँ वे अकसर रात के समय किया करते थे।

अपने सुन्न हो गए पैरों को कुंदन ने बारी-बारी से झटका तो उसके पैरों में ख़ून पहले की भाँति तेज़ी से दौरा करने लगा।

एक दिन सब अपने-अपने काम में मग्न थे। एक चिता के पास खड़े कुंदन ने अहाते के अंदर जल रही सभी चिताओं की ओर नज़र दौड़ाई, पर संत राम उसे कहीं भी दिखाई नहीं दिया।

"चाचा कहाँ है?" अपने पास से गुज़रते हुए दुर्गा से कुंदन ने पूछा।

"तुझे नहीं पता?" दुर्गा ने खड़े होकर कुंदन से सवाल किया।

"पिछले दो-तीन दिनों से वह उखड़ा-उखड़ा तो फिरता था, पर मैंने सोचा, शायद तबीअत वग़ैरह ख़राब होगी। दूसरी बात का मुझे नहीं पता।" कुंदन ने दुर्गा के हाथ से सुलगती सिगरेट पकड़ी और लंबा कश लेते हुए कहा।

"तेरे से कैसा छिपाव? तू ख़ुद समझदार है।" बोलते-बोलते दुर्गा एकपल को रुककर आसपास देखने लगा।

"माया, अपने दोनों बच्चों को छोड़कर किसी के साथ भाग गई। पिछले दो दिनों से चाचा बस्ती के कई चक्कर मार चुका है, पर माया का कोई अता-पता नहीं लग रहा। मुझे लगता है, चाचा से माया के चले जाने का ग़म सहा नहीं जाता।" दुर्गा ने कुंदन के कान के पास होकर भेदवाली बात बताई।

कुंदन ने बात सुनकर एक गहरा निःश्वास भरा और सामने जल रही चिता की ओर देखा। एक पल को उसे लगा, मानो चिता में संत राम ही जल रहा हो।

"माया को पता नहीं, इस उम्र में क्या पागलपन सवार हुआ, अपने सिर की सफ़ेदी भी नहीं देखी!" यह कहकर दुर्गा स्वयं तो आगे बढ़ गया, पर कुंदन वहीं खड़े-खड़े ही, अपने कमरे में सवेरे से दारू पिए जा रहे संत राम को देखने लगा।

संत राम दारू भी पी रहा था और साथ-साथ बच्चों की तरह रोए भी जा रहा था। यह सब कुछ कुंदन ने अपने कमरे के दरवाज़े के पास खड़े होकर देखा था। सभी ने इकट्ठे होकर संत राम को समझाया था, पर न तो वह कमरे से बाहर निकला और न ही उसने दारू पीनी बंद की। कमरे से बाहर तो दो दिन बाद उसकी लाश ही निकली थी।

अंतिम चिता को आग दिखाने के बाद अकेले कुंदन को वहाँ छोड़कर बाक़ी लोग तेज़ी से संत राम की अर्थी की ओर बढ़ गए। बढ़ते जा रहे अँधेरे को देख, वे सभी तेज़ी के साथ संत राम की मिट्टी को समेटने के लिए तैयार की जा रही चिता में लकड़ियाँ चिन रहे थे। जो काम कुंदन स्वयं करना चाहता था, वही काम दूसरों को करते देख उसके मन में खीझ-सी उठी। ग़ुस्से में भरे कुंदन ने आख़िरी मुर्दे की कपाल-क्रिया करवाने के बाद जलती चिता के इर्द-गिर्द बिखरी पड़ी अंजली लकड़ियों के टुकड़ों को बाँस की सहायता से इकट्ठा किया और अर्थी के साथ आए लोगों को इकट्ठा होने के लिए कहा, ताकि वह दूसरे दिन फूल चुनने की रस्म के बारे में बता सके। तभी अचानक श्मशान घाट के मुख्य द्वार की ओर से औरतों के रोने-कुरलाने की आवाज़ें कुंदन के कानों में पड़ीं। कुंदन ने गर्दन घुमाकर उधर देखा, जिधर से आवाज़ें आ रही थीं। आसपास फैलते जा रहे अँधेरे में आहिस्ता-आहिस्ता क़दमों से चले आ रहे कुछ लोग कुंदन को दिखाई दिए। जब वे थोड़ा और आगे आए, तो चार आदमियों के कंधों पर उठाई हुई अर्थी देखकर कुंदन ने फूल चुनने की रस्म के बारे में सुनने के लिए सामने इकट्ठे हुए लोगों की ओर घूरकर देखा। उस पल ग़ुस्सा चक्रवात की तरह उसके दिमाग़ में चढ़ गया और सिर से पाँव तक वह पूरा का पूरा काँप उठा।

"क्या सभी को आज ही मरना था?" अपने हाथ में पकड़े हुए बाँस को दूर फेंकते हुए कुंदन संत राम की अर्थी की ओर तेज़ी से चल पड़ा।

जसबीर भुल्लर

अपनों की शिनाख़्त

उसके पैर फ़ौजी बूट से कटे हुए भी थे और थके हुए भी, पर घर के लिए वह पैर फिर भी बेसब्र थे।

डूब रहे सूरज के नज़दीक झुलसा-सा घर चुपचाप और उदास था। शाम की फैली हुई परछाइयों में उसे फ़सलें भी मुरझाई हुई लगीं।

घर के लिए तो सिपाही सुवेग सिंह कब का मर चुका था। जंग के मैदान में मिला पहचान-पत्र उसके मरने की गवाही था।

जंगी लिबास में तैयार होकर जब वह लड़ाई के लिए चला था तब उसके पास दो पहचान-पत्र थे। टीन के उन गोल टुकड़ों पर ख़ुदा नाम, नंबर उसकी पहचान थी। उसके नीचे उकेरा हुआ सैनिक का धर्म मरने के बाद उसे दफ़नाने या जलाने के फ़ैसले को आसान कर देता है। ख़ून के ग्रुप की जानकारी ज़ख़्मी सैनिक को फ़ौरी तौर पर ख़ून देकर बचाने में सहायक होता है।

उस रात हमले के समय भी मज़बूत धागे में गुँथा एक पहचान-पत्र उसके गले में लटक रहा था और दूसरा बाँह से बँधा हुआ था। पर लोहे का पहचान-पत्र उसकी ढाल नहीं था। एक गोली लोहे के पहचान-पत्र के पास बाँह की हड्डी को छलनी कर गई थी।

उसने अपनी राइफ़ल वहीं रख दी और दाहिने हाथ के आसरे बाँह को उठाने का यत्न किया। उसका हाथ बहते ख़ून से भीग गया। उसने पलटनी लेकर एक गड्ढे का आश्रय ले लिया।

गोलियाँ रात की कालिमा में लकीरें खींचती रहीं। जंगी हथियारों के शोर में चीख़ें गुम होती रहीं।

गड्ढे की पनाह में पड़े हुए की जान धीमे-धीमे निचुड़ रही थी।

उसने पेटी खोली, पिट्ठू उतारा और पानी वाली बोतल से रम की दो लंबी घूँट भरी। मरुस्थल की रात में ठर्रे हुए जिस्म ने कुछ आँच महसूस की। इस जैसे समय के लिए ही उसने बोतल में पानी की जगह रम भरी थी। उसे पता था, पानी तो वह किसी भी मुर्दे की बोतल से पी सकता था।

बाँह पर बँधा पहचान-पत्र ज़ख़्म में चुभ रहा था। उसने दाँत से धागे की गाँठ खोलकर पहचान-पत्र उतार दिया। रम से ज़ख़्म को धोकर पिट्ठू से रूई और पट्टी निकाली और ज़ख़्म को कसकर बाँध

पंजाबी कहानीकार जसबीर भुल्लर का जन्म 1941 में हुआ। पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। संपर्क : 582, फ़ेज़ 3ए, मुहाली, रोपड़ (पंजाब)

अनु. राजेंद्र तिवारी का जन्म 1956 में हुआ। हिंदी-पंजाबी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : पूरे सलई, कौड़िया 271122, गोंडा, (उ.प्र.)

दिया। किसी मुर्दे के जंगली बूट का एक पैर कुहनी के नीचे रखकर एक और पट्टी बाँध दी। राइफल की सलिंग का हार बनाकर उसने गले में डाल लिया और सलिंग के सहारे बाँह का भार उठा लिया।

इतने तरद्दुद ने उसे थका दिया था। उसने रम का एक घूँट और भरा और आँखें बंद कर लीं।

लड़ाई के बाद उनकी लाशों को मनुष्य होने का सम्मान मिलना चाहिए, यह बात उनके कमान अफ़सर ने सोची थी।

लाशों के अंतिम संस्कार के लिए भेजी गई टुकड़ी के जवान पहले लाशों की गिनती करते रहे फिर थक गए। उन्होंने पहचान-पत्र उतार-उतार लाशों को एक गड्ढे में फेंकना शुरू कर दिया था। अचानक दुश्मन के तोपख़ाने की गोलाबारी होने लगी। दुश्मन का तोपख़ाना चाहे वहाँ से पच्चीस-तीस किलोमीटर दूर था, पर उसकी भेजी हुई मौत दूर नहीं थी। काम अधूरा छोड़कर उन्हें वहाँ से हटना पड़ा था।

उस दिन उनकी पलटन के पास बहुत सारे पहचान-पत्र एकत्र हो गए थे। उनके बीच एक पहचान-पत्र सिपाही सुवेग सिंह का था। क्लर्कों ने लोहे के पहचान-पत्र से पलटन के शहीदों के नाम, नंबर पढ़े और पहले से तैयार चिट्ठियों की ख़ाली जगह को भर दिया। उस शाम चिट्ठियाँ विलाप का सुराग़ लेकर ख़ुशहाल बसते घरों को सेंध लगाने चल पड़ीं।

यह सारी घटना एक पुराने साथी ने बताई थी जो पिछले दिनों सिपाही सुवेग सिंह को रेजीमेंटल सेंटर में मिला था।

फ़ौज ने जब उसका सामान घर भेजा था तो जंग के मैदान में मिला पहचान-पत्र सामान का हिस्सा हो गया था।

दूसरा पहचान-पत्र अब तक उसके पास था।

बंद दरवाज़े को सिपाही सुवेग सिंह की प्रतीक्षा नहीं थी।

उसे देखकर पहले सभी हैरान हुए थे, फिर ख़ुश हुए थे, हँसे थे और कुछ क्षण बाद परेशान हो गए थे। उनके चेहरों पर तनाव और चिंता दिखने लगी थी।

निंदी सीधे उसकी ओर दौड़ी थी फिर झिझककर खड़ी हो गई थी।

उस समय दोनों के बीच बस थोड़ी-सी दूरी बाक़ी रह गई थी। सुवेग सिंह ने किटबैग कंधे से उतारकर नीचे रख दिया और लंबे-लंबे क़दमों से वह दूरी पूरी कर दी थी।

निंदी उसकी छाती से सर लगाकर आर्तनाद कर उठी। अगले क्षण वह सँभली और गिर गया पल्ला सिर पर लंबा खींच लिया।

संत कौर ने सुवेग सिंह का सिर सहलाकर माथा चूमा और मन भर आया।

गुरदीप ने बड़े भाई की गलबाँहों में आह-सा भरा, "भाऊ! तू पहले क्यों नहीं आया?"

सूबेदार ज्वाला सिंह ने सिपाही सुवेग सिंह की पीठ थपथपाई, "हौसला रख, सब ठीक हो जाएगा।"

सिपाही सुवेग सिंह की आमद के चाव को दीमक लगी हुई थी। उसने सोचा कटी हुई बाँह देखकर वे मुरझा गए थे। उसने दाएँ हाथ से कटी हुई बाँह को थपकाया और लंबी साँस भरकर हँसने की कोशिश की, "लड़ाई को कोई न कोई निशानी तो देनी ही होती है।"

चारपाई डालकर वे आँगन में ही चौके के समीप बैठ गए।

गुरदीप कुछ उखड़ा-उखड़ा बोला, "भाऊ! हमें तो तेरे मरने की ख़बर पहुँची थी। हमने तो तेरा भोग भी डाल दिया था और तू इतने वर्षों बाद अब आया है जब...।"

गुरदीप की अधूरी छोड़ी बात उस समय अधूरी ही रह गई थी। सिपाही सुवेग सिंह ने हँसते हुए कहा, "जो भला मैं वहीं ही मर जाता तो... ?"

"शुभ-शुभ की बोली बोल पुत्तर!" संत कौर

ने मीठी-सी झिड़की दी, ''शुक्र है जंग की साढ़े साती चुकी। मैं तो कहती हूँ, मेरी उम्र भी मेरे पूत को मिले!''

''पर यह सब हुआ किस तरह?'' सूबेदार ज्वाला सिंह ने बात को मोड़ देते हुए सिपाही सुवेग सिंह की कटी हुई बाँह की ओर इशारा किया।

निंदी ने आग जलाई और पतीले में पानी डालकर चूल्हे पर रख दिया।

कुछ देर बाद पानी उबलने लगा।

सिपाही सुवेग सिंह चूल्हे की आग से नज़र हटाकर आँगन में फैल रहे अँधेरे की ओर देखने लगा। उस रात अँधेरा उसकी आँखों में भी उतर आया था।

जंग के कोलाहल से बेख़बर वह पड़ा रहा था। पौ फूटते समय मरे सैनिकों को देखकर कौओं ने काँव-काँव की तो उसकी आँख खुली।

उसका शरीर बेपनाह दर्द का मारा हुआ था। वहाँ कौओं की गिनती बढ़ रही थी और अब गिद्ध भी पहुँचने ही वाले थे।

अपने पराये की एक फ़सल काटी जा चुकी थी। वह कटी हुई फ़सल के बिचकार पड़ा था। न वहाँ दुश्मन का सुराग़ था न अपनों का पता। वह कब के जा चुके थे।

दिन अपने शीत से बाहर आ रहा था। धीमे-धीमे दिन को तपना था और मृगजल हो जाना था। वहाँ से जाने की तैयारी में उसने पास वाले मुर्दे के पास से रोटी लेकर खाई। एक बार और वाटर बॉटल से पानी पिया। किसी और की पानी वाली बोतल पेटी से बाँध ली।

उसने दूर कहीं गोलियों के चलने की मद्धम-सी आवाज़ सुनी। उसने वहाँ से एक राइफल उठाई और आवाज़ों के भ्रम की दिशा में चल पड़ा। मृगजल की झील के सफ़र में उसकी प्यास तीखी हो गई। उसके होंठों पर पपड़ी जम गई। वह खड़ा हो गया। उसके पीछे लड़खड़ाते पैरों के निशान थे और सामने रेत का अंतहीन फैलाव।

उसके ज़ख़्म से बहुत सारा ख़ून निचुड़ चुका था। उसकी बाँह सूज गई थी। उसकी नज़रों के सामने धरती काँप रही थी, पर ज़ख़्म की पीड़ा से उसको रेतस्थल का ख़ौफ़ ज़्यादा था।

यह भी गनीमत थी कि उसके पाँव ने अभी तक उसके शरीर का बोझ सँभाला हुआ था। उसने उबले हुए पानी का घूँट भरा और चल पड़ा; पर शरीर की ताक़त उसके हौसले के बराबर नहीं थी। वह ठोकर खाकर मुँह के बल गिर पड़ा और फिर वहीं औंधा पड़ा हाँफने लगा।

उसे जी मचलाने वाली गंध आई। वह एक मानव खोपड़ी पर सिर रखे हाँफ रहा था। मरे सैनिक का बाक़ी शरीर भी रेत में दबा पड़ा था। वह उतावली के साथ वहाँ से आगे सरक गया।

निंदी ने उससे आख़िरी गलबाँहों के बीच ठिनकते हुए कहा था, ''तू मेरे लिए जीवित वापस आना।''

उसने गर्म पानी का आख़िरी घूँट भरा और बोतल औंधी कर दी। पानी की दो बूँदें रेत ने सोख ली।

पानी का घूँट और निंदी के बोल उसके हौसले का सहारा थे। सहारे के आसरे वह उठकर खड़ा हो गया।

अब वाली लड़ाई के लिए न हथियार की आवश्यकता थी और न गोली-सिक्के की। उसने पिट्ठू उतारकर फेंक दिया और राइफल अपने भाईचारे वाले की खोपड़ी के पास उलटी गाड़ दी। सावधान खड़ा होकर उसने बेनाम सैनिक को श्रद्धांजलि दी और भारी बोझ-सा पैर आगे को उठाया।

पसीना चूकर उसकी आँखों में पड़ रहा था। उसने क़मीज़ से पसीना पोंछा, पपोटों से आँखें मलीं और रेत के विशाल समंदर को देखा।

दूर बिस्कुटी रेत पर काले धब्बे थे।

जीने की ललक उसे काले धब्बे तक ले गई। वह काले धब्बे डक बोर्ड थे लोहे के पतरों में जकड़े लकड़ी के पटरे। फ़ौजी ट्रकों को रेत में धँस जाने के डर से डक-बोर्ड बिछाए जाते हैं। डक-बोर्ड के रेत पर बिछे होने का एक भाव यह भी था कि फ़ौजी बहुत दूर नहीं थे।

वह डक-बोर्डों के साथ चलता रहा। डक-बोर्ड अचानक ख़त्म हो गए। वह फिर भी चलता रहा।

उसकी बाँह का दर्द इंतिहा तक पहुँच चुका था। पर इस पीड़ा से प्यास बड़ी चीज़ थी जो उसे चला रही थी। पर पानी कहाँ था! उसने खीझकर अपनी प्यास को कहा, वह मर जाए, पर प्यास नहीं थी मर रही, वह ख़ुद मर रहा था।

उस पर बेहोशी तारी हो चुकी थी।

उसने कुछ पैर और आगे धरे और फिर रेत पर ढेर हो गया। भूखे गिद्धों ने पता नहीं कब से उसकी राह मापी हुई थी। वह एक-एक करके आसमान से उतर आए।

सिपाही सुवेग सिंह ने अपने शरीर पर तीखी चोंचों की पीड़ा महसूस की। उसने आँखें खोल लीं और बाँह उलारकर गिद्धों को हटाया।

गिद्धों के भारी परों की हवा के साथ कुछ रेत उड़ी।

सिपाही सुवेग सिंह की बाँह अगले पल ही नीचे गिर पड़ी। वह गहरी बेहोशी में उतर गया।

गिद्ध झिझककर कुछ देर दूर रहे और फिर निशंक होकर अपने भोजन पर चोंच मारने लगे।

वह बहुत देर अँधेरे में हाथ-पैर मारता रहा। अँधेरा कुछ छना तो उसने आँखें खोलीं।

एक अजनबी सैनिक उसके पास झुका हुआ था, "शुक्र है तुझे होश आ गया!"

सिपाही सुवेग सिंह दुश्मन देश के सैनिक अस्पताल में पड़ा हुआ था। उसका शरीर गिद्धों ने जगह-जगह से नोच लिया था। ज़ख़्मों पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं। और उसकी एक बाँह कुहनी से नीचे काटी जा चुकी थी।

"यदि गश्ती दल अचानक न पहुँच गया होता तो तुझे गिद्धों ने खा लिया होता।" दुश्मन फ़ौजी ने बताया।

यह फ़ौजी भी अजीब होते हैं, आप ही बंदे मारते हैं और फिर आप ही उनको बचाने का उपाय करते हैं। सिपाही सुवेग सिंह ने पराई वर्दी की ओर देखा तो उसकी आँखों से आँसू बह चले। दुश्मन सैनिक ने उसे टोक दिया, "तू रो ना। यह आँसू किसी और वक़्त के लिए सँभाल कर रख। सैनिक को आँसुओं की बड़ी ज़रूरत होती है।"

सिपाही सुवेग सिंह एक जंगी क़ैदी था। उसे आँसुओं का क्या करना था। अकेले जीने के लिए उसे तो सपने चाहिए थे। उसने आँसुओं को रेत हो जाने का श्राप दे दिया और ख़ुद कल्पना में जीने लगा।

धीरे-धीरे सिपाही सुवेग सिंह के ज़ख़्म भर गए, पर दोनों मुल्कों के ज़ख़्मों को राजी होते कुछ साल लग गए।

समझौते पर दस्तख़त होने के बाद जंगी क़ैदियों को आपस में बदला गया। फ़ौजी कार्रवाई के अधीन छानबीन हुई, काग़ज़-पत्तर पूरे किए गए और सिपाही सुवेग सिंह को फ़ौज से फ़ारिग़ कर दिया गया।

जब उसने खुली हवा में आकर साँस लिया तो जंग उसके ऊपर अपनी इबारत लिख चुकी थी। वह इबारत उसका अधूरा वजूद नहीं था और न ही जिस्म पर उकरे ज़ख़्मों के निशान। इस इबारत के हर्फ़ बीते समय के खंडहरों से मिले किसी पत्थर पर उकरे हर्फ़ों-से थे जो अब तक पढ़े नहीं जा सके थे।

चूल्हे में लकड़ी जलती रही। निंदी आग के सामने बैठी राख होती रही। बीते वर्षों में सच ने अपना चेहरा बदला था। सुवेग सिंह के घर लौटने से वह सच दरक गया था।



सिपाही सुवेग सिंह बेख़बर था। बातों की रौ में उसने अगली कड़ी जोड़ी, ''माँ, एक बार तो तेरे पूत का कीर्तन पढ़ा गया था।''

संत कौर ने उसे झिड़का, ''ठीक ज़बान मुँह से निकाला कर!''

''माँ! जंग की बातें जंग के बाद कुछ नहीं कहती होंती।'' वह हँसा और बात आगे बढ़ाई, ''एक रात मैं मोर्चे पर बैठा गोलियाँ दाग रहा था कि दुश्मन के टैंकों ने हमला बोल दिया। टीले, खंदक, झाड़ियों और मोर्चे को रौंदते टैंक आगे ही बढ़े आ रहे थे। गर्द के ग़ुबार आसमान छू रहे थे। गर्द-मिट्टी के बीच कभी कोई टैंक दिखने लगता था और कभी किसी और टैंक से उठे बगूले में छिप जाता था। टैंक लगातार गोले बरसा रहे थे। सैनिकों के चीथड़े उड़ रहे थे। क्या देखता हूँ, एक टैंक सीधा मेरी ओर आ रहा था। वह टैंक किसी भी समय मुझे कुचल सकता था। मैं चारों तरफ़ चलती गोलियाँ भूल गया। मैं मोर्चा छोड़कर सरपट भागा और एक लाश से ठोकर खाकर गिर पड़ा।''

संत कौर ने वाहि गुरु वाहि गुरु का नाम लिया।

सिपाही सुवेग सिंह एक पल रुका, फिर बोला, ''टैंक तो जैसे पागल हाथी था, चिंघाड़ता मेरे ऊपर से निकल गया।''

''हाय रब्बा!'' निंदी त्राहि-त्राहि कर उठी।

"समझ लो भाई ईश्वर ने हाथ देकर रख लिया। मैं टैंक के ट्रैकों के मध्य अडोल पड़ा रहा और मेरी राइफल की बैरल रौंदकर टैंक आगे लाँघ गया। मुझे खरोंच तक नहीं आई, लड़ाई चुकी तो सुख की साँस आई।"

"लड़ाई इस तरह नहीं चुकती होती। लड़ाई तो उम्र भर फ़ौजी के साथ चलती है।" सूबेदार ज्वाला सिंह ने गला साफ़ करने के लिए खँखारा और फिर उठता हुआ बोला, "हमारी शाम की प्रार्थना का समय हो गया। पाठ कर लूँ, फिर बैठकर तसल्ली से बातें करेंगे।"

संत कौर भी उठकर उसके साथ चली गई।

"सामान मैं अड्डे पर रूड़े हलवाई के यहाँ रख आया हूँ।" उनके जाने के बाद सुवेग सिंह ने गुरदीप से कहा।

"कोई बात नहीं, मैं भेजता हूँ किसी को।"

"अब क्यों भेजना है।" उसने उठते हुए गुरदीप को रोक दिया, "अँधेरा गाढ़ा होने को है, तड़के देखा जाएगा।"

"जैसा आप कहें!"

सुवेग सिंह चारपाई से उठकर चूल्हे की आँच के पास बैठ गया। वह ज़रा-सा हँसा, "देख किस तरह नज़दीक-नज़दीक फिरता है, मैं तो कहता हूँ अब चार फेरे लगवाकर इसका भी ब्याह निपटा दें।"

निंदी ने चोर आँखों से सुवेग सिंह की ओर देखा। सुवेग सिंह का चेहरा परमोल्लास से चमक रहा था। निंदी ने फिर सिर औंधा लिया और तिनके से ज़मीन पर लकीरें खींचने लगी।

सुवेग सिंह हँसा, "आज क्या लकीरें ही खींचनी है।"

वह चुप रही।

बाहरी दरवाज़े की चिटकनी लगी हुई थी। बंद दरवाज़े के कुंडे में खुला हुआ ताला लटक रहा था। गुरदीप बेचैन-सा दरवाज़े तक गया और ताले को बंद कर चाबी घुमा दी।

वह वापस आया तो चौके की मुँडेर के पास खड़ा होकर आगे को झुकता कुछ उखड़ा हुआ-सा बोला, "भाऊ, जो हम यहाँ ही बैठे रहे तो निंदी से कोई काम हो नहीं पाएगा। हम भी चलें यहाँ से!"

सिपाही सुवेग सिंह तड़प उठा। उसके कानों से सेंक निकलने लगी। क्या गुरदीप अब भाभी को निंदी कहने लगा था? उसकी सोच ने होनी की कल्पना के पिछले पाँच वर्षों के कई वर्के खोल लिए।

हवा के एक झोंके से उसके अंदर जलते दीए की लौ बुझ गई।

उसी क्षण एक भैंस तुड़ा गई। गुरदीप ने दौड़कर भैंस को पकड़ा और फिर खूँटे से बाँध दिया। उसने भूसे वाले कमरे में से झुल्ल निकाला और जानवरों को ओढ़ाने लगा।

गुरदीप की एक बात ने उसके मन में कई शंकाएँ पैदा कर दी थीं। इन शंकाओं को जाने बग़ैर सिपाही सुवेग सिंह की कही बात कलह डाल सकती थी। वह उठा और गुमसुम-सा चौबारे की सीढ़ियाँ चढ़ गया।

निंदी आज शाम से ही हाथ घिसा रही थी। वह नहीं चाहती थी कि चूल्हे-चौके का काम चूके।

वह सुवेग सिंह की साँसों में जियी थी। उसकी यादों में रातों जागी थी। उसकी सलामती के लिए मनौती मानी थी।...और फिर वह मर गया था। सिपाही सुवेग सिंह की मौत की ख़बर आने पर वह कई मौतें मरी थी।...और इस पल सुवेग सिंह का जीवित होना निंदी को मार रहा था।

सिपाही सुवेग सिंह की मौत की ख़बर पुरानी पड़ने के बाद सबकी सहमति से निंदी की गुरदीप के साथ चादर डाल दी गई थी।

मर्यादा क्या थी? धर्मशास्त्र क्या कहते थे? निंदी को कुछ पता नहीं था। इस कठिन घड़ी का सच उसकी नसों का ज़हर हो गया था।

"ओए रब्बा! मैं की करां?" निंदी बिलख पड़ी। उसने चुन्नी का पल्ला मुँह में ठूँस लिया।

कमरे की बत्ती जल रही थी और दरवाज़ा उढ़काया हुआ था। यह कमरा उसका नहीं था, पर वह उढ़काया दरवाज़ा खोलकर अंदर आ गया।

सामने दीवार पर उसकी तसवीर लटक रही थी। तसवीर में वह फ़ौजी तरीक़े से तना हुआ बैठा था। उसके बंद होंठों पर ज़रा-सी मुस्कुराहट थी। यही मुस्कुराहट उसकी आँखों में भी दिख रही थी।

तब उसका नया-नया ब्याह हुआ था। दोनों तरनतारण के गुरुद्वारे माथा टेकने गए थे। वहाँ उसने और निंदी ने इकट्ठे तसवीर खिंचवाई थी। यह उसी तसवीर का बीत चुका आधा था, जिसे बड़ा करवाकर टाँग दिया गया था।

तसवीर पर काले धागे से गुँथा उसका पहचान-पत्र लटक रहा था।

तसवीर के नीचे फ़र्श पर उसका किटबैग टेढ़ा पड़ा हुआ था। इस कमरे में तो वह यूँ ही आया था, फिर गुरदीप किटबैग यहाँ क्यों रख गया था?

उसने किटबैग वहाँ से उठाया और कमरे से बाहर आ गया। उसने आँगन की ओर झाँका। नीचे चौके में गुरदीप निंदी की ओर झुका कोई बात कर रहा था।

सिपाही सुवेग सिंह को लगा जैसे पड़ती हुई धुंध ने आँधी का लिबास पहन लिया हो।

उस वेला पूरा घर अँधेरे के घेरे में था। दूर जलतीं भट्ठल गाँव की इक्का-दुक्का बत्तियाँ उस अँधेरे में खिड़कियाँ बनाने का यत्न कर रही थीं।

उसकी बत्तीसी बजने लगी।

उसने अपने कमरे का दरवाज़ा खोलकर बत्ती जलाई और किटबैग नीचे रख दिया। बिजली के उजाले में उसके अपने संशयों के अर्थ बिखरे हुए दिखे। निंदी और गुरदीप की तसवीर स्टील के फ्रेम में मढ़ी हुई थी। इसी फ्रेम में पहले उसकी और निंदी की तसवीर होती थी।

निंदी और गुरदीप के पार्श्व में एक शीशमहल था। फूलों से घिरे शीशमहल के सामने एक फव्वारा चल रहा था। तसवीर में वे दोनों हँस रहे थे। उनकी हँसी के साथ परदे पर पेंट किया हुआ शीशमहल, फव्वारा और रंग-बिरंगे फूल असली हो गए थे।

खूँटी पर निंदी और गुरदीप के कपड़े टँगे हुए थे। दोनों के कुछ कपड़े बिस्तर पर भी पड़े हुए थे। धोकर सुखाने के बाद निंदी को उन्हें सँभालने का अवसर नहीं मिला था।

उसे पछतावा हुआ कि वह उस कमरे में क्यों आया? वह उस घर का कोई नहीं था। वह तो जंगल में गँवाचा कोई अजनबी था जो रात भर ठहरने भर को वहाँ रुका था।

सुवेग सिंह ने अपनी बियाबान हथेली की ओर देखा। उसके पास तो कुछ भी बाक़ी नहीं बचा था। जिन सपनों को दोनों देशों की भयानक जंग नहीं मार सकी थी, जो सपने कटे-बिखरे और लहूलुहान अंगों की भीड़ में जीवित रहे थे, उन सपनों को घर के आँगन ने मार दिया था।

वह निढाल हुआ-सा बैठ गया।

उसे रंगरूटी समय की स्कीम याद आई।

उसके आगे-पीछे गोलियाँ चल रही थीं। सिर पर से गोलियाँ गुज़र रही थीं। वह लगातार दौड़ता रहा था। उसने गड्ढों, कीचड़ और चहलों को पार किया, कँटीले तारों की बाधा को लाँघा, गहरे पानी में तैरा और हाँफता हुआ आख़िरकार अपना मोर्चा जा सँभाला। राइफ़ल को सँभालता वह टीन के सिपाहियों पर गोलियाँ दागने लगा।

गोलियाँ तब भी असली ही चल रही थीं। चाँदमारी के कान फाड़ने वाले शोर ने जंग का माहौल बनाया हुआ था। इस स्कीम का मंतव्य बस इतना भर था कि रंगरूटों के मन से जंग का डर निकल जाए।

छुट्टी पर आए सुवेग सिंह ने उत्साह से कहा था, "बापू जी, मुझे पता लग गया कि जंग क्या होती है?"

सूबेदार ज्वाला सिंह उस समय ज़रा-सा हँसा था, "पुत्तर, गोलियों की आवाज़ और हथियारों का शोर ही जंग नहीं होती।"

सिपाही सुवेग सिंह को बूढ़े बाप की गाहे-बगाहे की गई बातें कभी पूरी समझ न आई थीं। आज उन बातों के सारे अर्थ कीलें बनकर उसके माथे में धँस गए थे।

खड़ाक सुनकर सुवेग सिंह ने सिर ऊपर उठाया। उसके चेहरे का दर्द उसकी चुप्पी में भी था। इस दर्द की ताब गुरदीप से झेली न गई। वह आगे होकर भाई के पैरों में झुक गया, सहमा हुआ बोला, "भाऊ! सच मानो तेरा मुज़रिम हम दोनों में से कोई भी नहीं है। हम दोनों भी कौन से संताप से होकर न गुज़रे। ना माँ-सी भाभी को घरवाली कहना सहज होता है, ना पुत्र-से देवर को घरवाला मानना।"

गुरदीप के इतना कहने से उन पलों की तरतीब न बदली, जो पल सुवेग सिंह की हथेली पर धर दिए गए थे।

कमरे के बाहर धुंध पड़ रही थी। धुंध ने रात के घुप्प अँधेरे के साथ मिलकर टिमटिमाते तारों को खा लिया था।

कमरे के अंदर उदासी की ख़ला थी। सिपाही सुवेग सिंह कुछ देर उस ख़ला को घूरता रहा। जिन आँसुओं की लगाम उसने अब तक सँभाली हुई थी, वह लावारिश-से आँसू आँखों में फैल गए। उसने मुँह फेरकर आँखें पोंछ लीं। सुन्न श्मशान में मुये हुए सपनों के मरसीये-से बोल उभरे, "मुझे क्या पता था कि मेरे साथ इस तरह होगा! मैं न भी आता तो क्या था?"

हवा के झोंके से दरवाज़ा खुल गया। काले नभ में खोये हुए तारों की टिमटिमाहट का दृश्य दिखा। वह उठकर खड़ा हो गया। उसके ठर्रे हुए होंठों ने सिर उठाया, "अब...क्या है?"

गुरदीप को सिपाही सुवेग सिंह के बोलों से पता नहीं कैसी अनहोनी की बू आई थी कि वह घबराया हुआ माँ-बाप के कमरे की ओर दौड़ा।

सिपाही सुवेग सिंह ने किटबैग उठाया और धीमे-धीमे सीढ़ियाँ उतर गया।

निंदी अभी भी चूल्हे के आगे गड़ी बैठी थी। उस समय वह सुवेग सिंह की निंदी नहीं थी, किसी भी लापता सैनिक की पत्नी थी, जो सदियों से चूल्हे की बुझ रही आग के सामने बैठी सुलग रही थी।

सुवेग सिंह को देखकर वह घबराई-सी उठ खड़ी हुई। सुवेग सिंह ने आख़िरी बार नज़र भरकर निंदी की ओर देखा, "अच्छा...अच्छा फिर...मैं चला।"

वह अकेला था, आख़िर किस किस मुहाज़ पर लड़ता। वह अपनी जंग हार चुका था।

उसने दूसरा पहचान-पत्र चौके की मुँडेर पर रख दिया और वहाँ से चल पड़ा। वह कुछ क़दम चला फिर ठिठककर खड़ा हो गया।

बाहरी दरवाज़े पर ताला लगा हुआ था। उसने पीछे घूमकर देखा। निंदी के अलावा कुछ और जने आँगन में आकर खड़े हो गए थे। उसे किसी भी चेहरे की पहचान न हुई। उस वक़्त उसके लिए किसी को पहचान सकना संभव भी नहीं था। वे जो भी थे कई योजन दूर खड़े थे।

उसके 'होने' या 'न होने' के बीच का अंतर उस समय बाक़ी न रहा था। उसने अँधेरे में हाथ पसारा और ज़ोर का आर्तनाद किया। हाँफता हुआ वह बंद दरवाज़े के नज़दीक ज़मीन पर बैठ गया।

मनमोहन बावा

उदांबरा

[यह कहानी आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले की है। पृष्ठभूमि में वर्तमान का रोपड़ है, जो उस समय रूपनगर के नाम से जाना जाता था। परुष्णी नदी आज की रावी है, और शतद्रू वर्तमान की सतलुज नदी है। त्रैगर्त कांगड़ा, साकल सियालकोट और सुनेत्रा लुधियाना है।]

जयदेव की शिक्षा के जब तक पाँच वर्ष पूरे हुए, तब तक आचार्य कल्याण मित्र की पुत्री कल्याणी भी युवती हो गई थी। जयदेव आश्रम के सभी विद्यार्थियों में निपुण, परिश्रमी तथा बुद्धिमान था। उसकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि एक बार सुना हुआ अक्षरशः याद हो जाता था। कल्याणी जब भी आश्रम के विद्यार्थियों के निकट से गुज़रती, सभी चोर नज़रों से उसे देखे बिना रह नहीं पाते थे। मदभरी आँखें और होंठों पर विस्माद भरी मुस्कान। पर क्या मजाल कि कल्याणी की सुंदरता या पायल की झनकार जयदेव की एकाग्रता भंग कर सके।

शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् जयदेव अपने घर रूपनगर लौटने की तैयारी कर रहा था तो उस समय की परंपरा के अनुसार आचार्य कल्याण मित्र ने अपनी पुत्री कल्याणी का विवाह अपने प्रमुख शिष्य जयदेव से कर दिया।

जयदेव कल्याणी को लेकर घर की ओर चल दिया। चलने से पूर्व उन दोनों ने एक रात एक कमरे में बिताई। पर जब कल्याणी जयदेव के बिस्तर पर आकर बैठी तो वह उठकर धरती पर बिछी चटाई पर लेट गया। जब वह उसके पास चटाई पर आकर लेटी, तो जयदेव बिस्तर पर जाकर बैठ गया। सारी रात इसी प्रकार बीत गई। कल्याणी ने सोचा, अभी शरमा रहा है, या शायद यह विवाहित जीवन के संबंधों से परिचित नहीं है। ख़ैर, कोई बात नहीं। एक-दो दिन में सब समझ जाएगा यह ब्रह्मचारी। आनेवाले समय की कल्पना करके वह मन-ही-मन हँस पड़ी।

अब जयदेव के साथ-साथ चलते हुए कल्याणी सोच रही थी, अजीब आदमी है! क्या इसे मेरे अंगों से अगन-ताप अनुभव नहीं हो रहा है? क्या मेरी चमकती आँखों, शहद जैसे होंठों में कोई आकर्षण दिखाई नहीं दे रहा है? क्या इस जंगली पगडंडी पर

पंजाबी रचनाकार मनमोहन बावा का जन्म 1932 में हुआ। कहानी, यात्रा-वृत्तांत एवं उपन्यास की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : वाई-30, हौज़ ख़ास, नई दिल्ली 110016 फ़ोन : 26518455

अनु. कहानीकार, कवि, समीक्षक, अनुवादक घनश्याम रंजन का जन्म 1935 में हुआ। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : 65, कैंट रोड, उदयगंज, लखनऊ 226001

चलते हुए चहकते पक्षी, मस्त हिरणों के जोड़े इसे कोई संदेश नहीं दे रहे हैं? और यह चलता चला जा रहा है, चुपचाप, मेरी उपस्थिति से बेख़बर! अच्छा, आज रात हो जाने दो। मैं भी देखूँगी कितना संयम है इसमें!

सूरज छिपने तक वे परुष्णी नदी के किनारे आकर रुक गए। नाव किनारे पर बँधी हुई थी, पर नाविक नहीं था। शायद घर चला गया था।

लकड़ी की आग जलाकर वे उसके पास बैठ गए। घर से लाई रोटियाँ खाने के बाद कल्याणी ने अपनी बाँहें ऊपर करके अँगड़ाई ली तो उसकी पीठ पर बँधी गाँठ खुल गई या उसने जान-बूझकर पहले ही आधी खोल दी थी। कल्याणी ने अंग ढँकने का यत्न नहीं किया और मदभरी आँखों से जयदेव की ओर देखती हुई उससे सटकर बैठ गई। जयदेव चौंककर उठा और उससे दूर जाकर बैठ गया।

कल्याणी की आँखों में क्रोध झलक उठा और वह ज़ख़्मी सिंहनी की तरह उसकी ओर देखती हुई बोली, "क्या तुम्हें मेरे अंगों के उभारों, गोल-सुडौल बाँहों में कोई आकर्षण नहीं दिखता? क्या मेरा स्त्रीत्व तुम्हारे पौरुष को ललकारता अनुभव नहीं होता?"

जयदेव को अपने अंदर कुछ जागता, उभरता महसूस हुआ, नदी में आई बाढ़ की लहरों की तरह। पर शीघ्र ही उसने स्वयं को सँभाला और शीत स्वर में बोला, "मुझे क्षमा करना देवी कल्याणी! तुम मेरे पूजनीय गुरु की पुत्री हो। और...।"

"गुरु-पुत्री!" वह उसकी बात काटते हुए व्यंग्य से बोली, "क्या मैं तुम्हारी पत्नी नहीं हूँ?" और फिर अचानक ही उसके मुँह से निकल गया, "या...या तुम पूर्ण पुरुष नहीं, नपुंसक हो?"

"बैठ जाओ कल्याणी। और मुझे भी बैठ जाने दो। मैं बहुत थक गया हूँ।" फिर कुछ देर बाद बोला, "मेरा पास तुम्हारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है, सिवाय इसके कि मैं तुम्हारा पति होने के योग्य नहीं हूँ। यह बात मैंने गुरु जी से भी कही थी। पर उन्होंने मेरी एक न मानी। जो तुम देख रही हो वह मैं नहीं हूँ और तुम्हें मुझसे निराशाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं मिल सकता। अभी भी समय है, कुछ बिगड़ा नहीं है! मैं यही सलाह दूँगा कि तुम घर वापस चली जाओ..."

वह बहुत देर तक इसी प्रकार बोलता रहा, बे-सिर पैर की। कल्याणी की समझ में कुछ नहीं आया कि वह क्या कह रहा है। वह भी बहुत थकान अनुभव कर रही थी, दिन-भर चलते रहने के कारण और मानसिक तनाव के कारण। वह अपने घुटनों पर सिर रखकर बैठ गई। फिर उसे पता ही नहीं लगा कि कब उसे नींद ने आ घेरा।

सुबह आँख खुली तो देखा, एक भूरे रंग का कंबल उस पर पड़ा हुआ है। जयदेव वहाँ नहीं था और घाट पर खूँटे से बँधी नाव भी ग़ायब थी।

राजा विष्णु वर्मन अपने कुछ सैनिकों के साथ शिकार करने के लिए जंगल में घूम रहे थे कि नदी के किनारे उदांबर (अंजीर) के वृक्ष पर एक सुंदर लड़की को बैठे देखकर आश्चर्यचकित रह गए। लड़की वृक्ष पर चढ़ी अंजीर खाने में मग्न थी। राजा को देखकर वह नीचे उतर आई।

"तुम कौन हो? और अकेली इस जंगल-बियाबान में क्या कर रही हो?" राजा ने प्रश्न किया।

कल्याणी ने पहले राजा की ओर फिर उसके सैनिकों की ओर देखा। कुछ देर सोचती रही। फिर बोली, "मैं जो भी कहूँगी उस पर आपको विश्वास नहीं आएगा। बस यही समझ लीजिए कि मैं इस संसार में अकेली हूँ। न कोई आगे है, न पीछे।"

"मुझे क्या लेना है तुम्हारा आगा-पीछा

जानकर।'' राजा ने उसकी ओर देखते हुए मन-ही-मन कहा। फिर बोला, ''क्या तुम मेरे साथ चलना चाहोगी?''

''इसमें पूछने की क्या बात है?'' पास खड़े एक सेवक ने राजा की नीयत भाँपते हुए कहा, ''शास्त्रों में लिखा है, जो वस्तु यूँ ही पड़ी मिले और जिसका कोई स्वामी न हो, वह राजा की होती है।''

''तुम्हारा नाम क्या है?'' राजा ने पूछा।

''मैं अपना अतीत भूल जाना चाहती हूँ। अपना नाम भी।''

''यह भी ठीक है! तुम मुझे उदांबर के वृक्ष पर बैठी मिली हो। मैं तुम्हें उदांबरा के नाम से संबोधित करूँगा।''

उदांबरा कुछ दिन रखैल के तौर पर राजा के रनिवास में रही। पर शीघ्र ही वह अपनी सुंदरता, सूझबूझ और चतुराई के कारण उसकी चहेती रानी बन गई। विद्वान पिता के पास रहने के कारण वेद-शास्त्रों का बहुत ज्ञान हो गया था। बात-बात में शास्त्रों की बातें सुनाकर सुनने वाले को प्रभावित कर देती। कभी-कभी राजा उससे राज्य के कामों और समस्याओं के विषय में भी विचार-विमर्श कर लेता।

एक दिन जब राजा विष्णु वर्मन उदांबरा के साथ नदी से सैर करके वापस लौट रहे थे तो एक ब्राह्मण हाथ जोड़कर सामने आ खड़ा हुआ। पूछने पर बोला, ''मैं एक विद्वान ब्राह्मण हूँ। मुझे पता लगा है कि आपके संदेश-लेखक का स्वर्गवास हो गया है। यदि मुझे उसके स्थान पर आपकी सेवा करने का अवसर प्राप्त हो जाए तो अपने को भाग्यशाली समझूँगा।''

''आपने ठीक सुना है। पर मुझे एक अनुभवी और कुशल लेखक चाहिए।'' राजा उसकी आयु का अनुमान लगाते हुए बोले।

''मेरी आयु देखकर अनुमान न लगाएँ राजन! आप देखें कि मैं अपनी कुशलता से बहुत कम ही माँग कर रहा हूँ।''

उदांबरा को ब्राह्मण की आवाज़ जानी-पहचानी लगी। उसने गर्दन घुमाकर देखा तो वह और कोई नहीं जयदेव ही था।

उस समय जयदेव की निगाहें भी उससे मिलीं और उसने रानी उदांबरा के आगे आदरपूर्वक सिर झुकाकर आँखें निवा लीं। उदांबरा को लगा जैसे जयदेव ने उसे पहचाना नहीं। उसकी दृष्टि में कोई ऐसा संकेत नहीं था।

उदांबरा के मस्तिष्क में परुष्णी नदी के किनारे बिताई रात का दृश्य घूम गया। उसने जयदेव की ओर देखा और अपने मन में उठ रहे क्रोध को दबाते हुए व्यंग्य से पूछा, ''कभी कहीं कोई काम भी किया है या वेदशास्त्र ही रटते रहे सारी उम्र?''

यह देखकर कि उसने नहीं पहचाना, उदांबरा के मन में उसके प्रति क्रोध और उभर आया। उसने शायद कभी मेरी ओर ध्यान से देखा भी नहीं होगा। ख़ैर! अब लूँगी सभी बदले इस आदमी से।

''मैंने पाटलिपुत्र के पुस्तकालय में शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार की हैं और कुछ समय त्रैगर्त के राजा की भी सेवा की है।''

उदांबरा ने आँखों-ही-आँखों में राजा को संकेत किया। उसका संकेत समझकर राजा जयदेव को संबोधित करते हुए बोला, ''ठीक है! कल उपस्थित हो जाना। देखूँगा, कितनी कुशलता है आप में।''

पर यह उदांबरा की भूल थी कि जयदेव ने उसे पहचाना नहीं। वह इस राज्य में आया ही उसके यहाँ होने के विषय में सुनकर था। उदांबरा को भुलावे में रखने की सफलता पर उसे प्रसन्नता थी। और यह भी वह जान गया था कि उदांबरा ने उसे पहचान लिया है।

पिछले तीन-चार वर्षों की अवधि में जगह-

जगह भटकते हुए उसके मन में कल्याणी को देखने और उसके विषय में जानने की इच्छा उत्पन्न हो गई थी! अब वह काफ़ी चतुर और अनुभवी हो गया था। दो-तीन जगह उसे ब्राह्मणों के हाथों जलील भी होना पड़ा। यहाँ आकर वह क्या करेगा, इस बारे में उसने कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई थी। पर इतना विश्वास अवश्य था कि रानी उदांबरा उसकी ब्याहता है। सच्चे मन से कभी उसने प्यार भी किया होगा उससे। और यहाँ आने का परिणाम यदि सुखदायी न भी होगा तो हानिकारक भी नहीं होगा।

छह महीने बीत गए।

वह पत्र-लेखक का पत्र-लेखक ही रहा। कोई पदोन्नति नहीं हुई। न राजा की तरफ़ से कोई पूछताछ हुई। रहने के लिए भी दो कमरों का एक छोटा-सा मकान। इन छह महीनों में कुछ ऐसे अवसर भी आए जब उदांबरा और जयदेव एक-दूसरे के सम्मुख अकेले थे। पर जयदेव ने कभी भी उससे अपनत्व, अपना कोई अधिकार जताने का यत्न नहीं किया। और मन-ही-मन वह चाहने लगी थी कि जयदेव कुछ ऐसा प्रकट करे। रात को लेटी-लेटी कभी-कभी वह इस संबंध में सोचने लगती और उसका शरीर उसका स्पर्श प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठता।

"नहीं-नहीं। यह नहीं होना चाहिए। मुझे इस बारे में ऐसा नहीं सोचना चाहिए। मैं रानी हूँ। अपनी मान-मर्यादा क़ायम रखने के लिए आवश्यक है कि यह दूरी बनी रहे। मैं उसे न पहचानूँ, वह मुझे न पहचाने!"

पर साथ-ही-साथ उसके मन में उसके प्रति उत्सुकता, रोष और क्रोध भी उत्पन्न हो उठते। किस कारण इसने मेरे रूप, मेरे स्त्रीत्व की अवज्ञा की? मुझे अकेला, बेसहारा, जंगल में छोड़कर भाग गया। यदि विष्णु वर्मन न आते तो क्या दशा होती मेरी? किसी जंगली जानवर का भोजन बनती या जंगली लोग उठाकर ले जाते मुझे।

और फिर उदांबरा ने अपनी एक विश्वासी, सुंदर दासी कंचनमाला को सब कुछ भली प्रकार सिखाकर उसकी ओर भेज दिया।

अगली सुबह जब जयदेव नदी से स्नान करके लौट रहा था तो लोगों ने झाड़ियों से किसी स्त्री की चीख़-पुकार सुनी। पास जाकर देखा तो कंचनमाला के कपड़े फटे हुए थे और वह कह रही थी कि जयदेव ने उसका शीलभंग करने की नीयत से उसकी यह दशा की है।

मामला राजा विष्णु वर्मन तक जा पहुँचा। उदांबरा ने क्रोधित होते हुए कहा, "इसने मेरी दासी के साथ बलात्कार करने का यत्न किया है। इसे सख़्त दंड मिलना चाहिए, कोड़ों का!"

राजा का विचार था कि जयदेव और कंचनमाला, दोनों को अलग-अलग बुलाकर भली प्रकार पूछताछ की जाए। क्या पता, इसमें बात कोई और ही हो! और यदि सच भी हुआ तो उसे उसके पद से हटाकर राज्य से बाहर निकाल देना ही काफ़ी होगा। ब्राह्मण विद्वान है, कोड़ों की सज़ा देना उचित नहीं है।

उदांबरा घबरा गई। यदि वास्तविकता प्रगट हो गई तो बाज़ी उलटी पड़ जाएगी।

राजा ने जयदेव को बुलाकर पूछा, "जो हमने सुना है, क्या यह सच है?"

जयदेव ने तीखी निगाह से पास खड़ी उदांबरा को देखा। उसकी आँखों में इस बार उदांबरा को पहचानने का भाव था और तिरस्कार भी। फिर राजा को संबोधित करते हुए बोला, "मैं एक ग़रीब ब्राह्मण हूँ और वह महारानी की दासी है। यदि वह कहती है तो ठीक ही होगा!"

"ठीक है या ठीक ही होगा! साफ़-साफ़ कहो।"

"यह क्या कहेगा साफ़-साफ़!" उदांबरा ने जयदेव को तीखी दृष्टि से देखते हुए कहा, "मैं अच्छी तरह जानती हूँ इस तरह के व्यक्तियों

को! अब भोला-भाला और निर्दोष बनने का नाटक कर रहा है। पता नहीं किस-किसके जीवन से खेलता रहा है यह ब्राह्मण!'' उसके शब्दों में तल्ख़ी थी और बदले की भावना भी।

जयदेव चुपचाप खड़ा सुन रहा था।

''अब तुम्हारे आगे दो विकल्प हैं।'' राजा ने कुछ सोचते हुए कहा, ''मेरे राज्य से निकल जाना या कोड़ों का दंड भोगना।''

''आदमी अनजाने में बहुत-सी ग़लतियाँ कर बैठता है।'' उसने राजा को कम और उदांबरा को अधिक सुनाते हुए उत्तर दिया, ''भावुकतावश या किसी और कारणवश वह ऐसा कुछ कर बैठता है जिसके उचित-अनुचित होने के विषय में भी मन में शंकाएँ उत्पन्न हो उठती हैं। यदि...यदि कोड़ों के दंड के बाद मेरा अपराध क्षमा कर दिया जाए और राजा की सेवा करने का अवसर इसी प्रकार बना रहने दिया जाए तो मैं स्वयं को भाग्यशाली समझूँगा।''

राजा ने एक बार रानी की ओर और फिर किवाड़ के पीछे खड़ी कंचनमाला की ओर देखते हुए कहा, ''ठीक है! जैसी आपकी इच्छा।''

कंचनमाला हैरान खड़ी सोचती रही कि रानी ने यह सब षड्यंत्र क्यों किया? क्या वैर है इसे इस बेचारे ब्राह्मण से? और यह भी क्यों सह रहा है चुपचाप, यह सब कुछ? राजा यदि उसे अलग बुलाकर पूछता तो शायद वह साफ़-साफ़ बता देती।

और जब सैनिक उसे पकड़कर ले जा रहे थे तब कंचनमाला ने हिम्मत करते हुए जाकर सैनिकों से कहा, ''महाराज का आदेश है कि इनको कोड़े हल्के-हल्के मारे जाएँ। बहुत चोट न लगे।'' वैसे मन-ही-मन महाराज विष्णु वर्मन की भी यही इच्छा थी शायद।

एक दिन राजा शिकार खेलने गए हुए थे तो उदांबरा ने कंचनमाला के हाथ संदेश भेजकर बुलाया कि रानी कोई संदेश लिखवाना चाहती हैं। जयदेव आया तो उदांबरा उससे संबोधित होती हुई बोली, ''मैं एक संदेश भेजना चाहती हूँ, उस आदमी को, जो मुझे परुष्णी के तट पर रात के अँधेरे में अकेला छोड़कर चला गया था।'' जयदेव ने पहली बार उदांबरा की आँखों में आँखें डालकर देखा, फिर बोला, ''जब तुमने पहचान ही लिया था तो यह नाटक करने की क्या ज़रूरत थी?''

''वैसे नाटक तो तुम भी करते रहे हो मेरे साथ! पहचान तो तुमने भी लिया था। मेरा तो केवल यही दोष है कि मैं तुम्हारी वास्तविकता बताकर तुम्हें किसी दुविधा में नहीं डालना चाहती थी।''

''और आज क्यों याद किया?''

''मैं केवल यह जानना चाहती हूँ कि क्या कारण था जो तुम मुझे जंगल में छोड़कर चले गए। क्या मैं लँगड़ी-लूली थी? कुरूप थी? या किसी उच्च कुल परिवार से नहीं थी?''

''क्रोधित मत हो, कल्याणी!''

''कल्याणी!'' उदांबरा के मुँह से निकला, ''तो याद है तुम्हें मेरा नाम!''

''सब कुछ याद है। और यह भी कि तुम एक विद्वान ब्राह्मण की पुत्री हो। इसी कारण मैं तुम्हें छोड़कर चला गया था।''

''इसी कारण?''

''यदि सच पूछो तो मैं तब भी नाटक कर रहा था। मैं नहीं जानता कि सच जानने के बाद तुम मुझे क्षमा कर सकोगी कि नहीं!''

''मुझे साफ़-साफ़ बताओ, और अधिक मत उलझाओ।''

''सच यह है कल्याणी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, एक निर्धन शूद्र-पुत्र हूँ।''

उदांबरा का मुँह खुला का खुला रह गया और वह आश्चर्यचकित आँखों से उसको देखने लगी।

जयदेव ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, ''मेरे पिता एक नाविक थे। जब मेरा जन्म हुआ, और फिर जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो मेरा रंग-रूप, समझ-बूझ देखकर लोग कहने लगे, यदि किसी क्षत्रिय-ब्राह्मण के घर पैदा हुआ होता तो...! ज़रूर इसके पुरखों में कोई क्षत्रिय या ब्राह्मण रहा होगा। जब मैं चौदह-पंद्रह वर्ष का हुआ तो एक छोटी-सी घटना घट गई। वैसे इस प्रकार की घटनाएँ निम्न जाति के लोगों के साथ घटती ही रहती हैं। उस दिन मेरे पिता शतद्रू नदी के आर-पार कई चक्कर लगा चुके थे। बहुत थक गए थे। माँ रोटी लेकर प्रतीक्षा कर रही थी। उससे रोटी लेकर खाने बैठे। अभी आधी ही रोटी खाई थी कि उच्च कुल के पाँच-छह व्यक्ति नदी के तट पर आ पहुँचे। उनमें से एक ब्राह्मण और शेष सभी क्षत्रिय थे। शायद बहुत जल्दी में थे। आते ही उन्होंने बापू से कहा, ''उठ और जल्दी से हमें उस पार पहुँचा दे।'' बापू बोले, ''ज़रा मैं रोटी खा लूँ, फिर चलता हूँ।''

''रोटी फिर आकर खा लेना। हमें बहुत जल्दी है।'' एक ने रोब से बापू को घूरते हुए कहा। बापू डर गए। आधा खाना वहीं छोड़ दिया। जल्दी-जल्दी नदी के पानी से हाथ धोकर झाड़े तो शायद दो-चार छींटें ब्राह्मण पर पड़ गईं। ब्राह्मण क्रोध में आकर कहने लगा, ''मेरा जन्म भ्रष्ट कर दिया इस नीच ने। अब मुझे स्नान करना पड़ेगा। और देर हो जाएगी।'' और उन क्षत्रियों ने मेरे बापू को बहुत मारा। यदि उन्हें नाव में बैठकर नदी पार न जाना होता तो शायद वे उन्हें पीट-पीटकर मार ही डालते।''

''फिर?'' उदांबरा ने पूछा।

''पता नहीं मेरे बापू के मन पर क्या बीती! इस प्रकार की और कितनी ही घटनाएँ घटी होंगी उन पर। अपने क्रोध पर नियंत्रण रखते हुए बापू ने चप्पू उठाए। उन छहों की ओर ख़ूनी दृष्टि से देखा और सभी को किश्ती में बैठाकर चप्पू चलाना शुरू कर दिया। मैं और मेरी माँ विवश-से नाव को नदी में जाते हुए देखने लगे। बापू ने एक-दो बार हमारी ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा, जैसे कुछ कहना चाहते हों। नाव जब नदी के बीच में पहुँची तो हमने देखा वह डाँवाँडोल होने लगी। और फिर एकदम से उलट गई। वे छह और बापू पानी में डूबकर मर गए।''

''तुम्हारा बापू भी?'' उदांबरा ने कुछ सोचते हुए पूछा।

''मेरे बापू अच्छे तैराक थे। पर उन छहों में शायद एक तैरना जानता था। जब वह तैरने लगा तो बापू ने उसे पकड़ लिया। और इस प्रकार वे दोनों भी पानी की लहरों में समा गए।''

उदांबरा कुछ देर चुपचाप बैठी रही। लगता था, इस घटना का उस पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था। जयदेव ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, ''अच्छा हुआ कि इस घटना को किसी और ने नहीं देखा था। नहीं तो इसकी सज़ा हम दोनों को भुगतनी पड़ जाती। नाविक की मृत्यु पानी में और सैनिक की मृत्यु युद्धक्षेत्र में हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कुछ दिन रोने-धोने के बाद जब मैंने चप्पू सँभाले तो माँ ने मुझे बुलाकर कहा, 'देख बेटा, मैं नहीं चाहती कि तू भी हमारी तरह पशुओं का-सा जीवन बिताए। तू हमारी तरह मूर्ख भी नहीं है! तू होशियार है। तुझमें सूझ-बूझ है। तू किसी अच्छे गुरु से जाकर विद्या प्राप्त कर। परुष्णी पार, सुना है, जात-पात के बारे में कोई बहुत जाँच-पड़ताल नहीं करता।' और मेरी माँ ने स्वयं को किसी श्रेष्ठी के पास बेचकर मुझे स्वर्ण-मुद्राओं की थैली पकड़ाकर तुम्हारे पिता के पास भेज दिया। उसने मेरी ख़ातिर स्वयं को बेचा, इसका पता मुझे बाद में लगा।''

''इसका तात्पर्य यह है कि तुमने मेरे पिता के पास आकर भी झूठ बोला। इस प्रकार का झूठ बोलना अपराध ही नहीं, पाप भी है।''

"इस विषय में भी मैं बहुत सोचता रहा हूँ और अब भी सोच रहा हूँ। एक आदमी को आदमी न समझना, उसके साथ बिना किसी कारण पशुओं से भी गया-बीता व्यवहार करते रहना, इससे बड़ा अपराध एवं पाप और कोई हो नहीं सकता। पता नहीं किस समय, किस प्रकार के लोगों ने बैठकर यह षड्यंत्र रचा कि आधे से अधिक लोगों को अपना दास बना लिया, जनम-जनम के लिए।" जयदेव को लगा जैसे वह कुछ ज़्यादा ही बोल गया है। वह चुप हो गया। और उदांबरा उसके चेहरे पर पसरी हुई वेदना और बेबसी देखती रही।

"शायद तुम अब समझ ही गई होगी," उसने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "यही कारण था कि मैं तुम्हें परुष्णी के तट पर रात को छोड़कर भाग गया। मैं नहीं चाहता था कि तुम्हारे सामने उम्र-भर ब्राह्मण होने का नाटक खेलता रहता या तुम्हें भी शूद्रता की दरिद्रता में घसीटता। दरिद्रता, ग़रीबी बड़ी घातक वस्तु हैं। नपुंसक बना देती है आदमी को।"

"जो कुछ तुमने कहा..." उदांबरा कुछ देर चुप रहने के बाद बोली, "मैं बेशक, सब कुछ तो नहीं, थोड़ा-बहुत समझ सकती हूँ। पर मेरे बारे में भी सोचा है कभी? तुम बताओ मैं क्या करूँ?"

"समझ लो कल्याणी कि अग्नि के सम्मुख जो फेरे हमने लिए थे, वह नाटक था और जो आज है वही वास्तविकता है।"

"कहने से तो सच झूठ और झूठ सच नहीं हो जाता।"

"सच को जानना बहुत गहन समस्या है कल्याणी। सच को जाने बिना सच को जाना नहीं जा सकता।"

कई महीने और बीत गए।

जयदेव संदेश-लेखक से संधि-मंत्री बन गया। उसने विष्णु वर्मन के साथ सांकल, सुनेत्रा, त्रैगर्त और सबसे महत्त्वपूर्ण मगध के सम्राट चंद्रगुप्त के साथ संधि करवाने में विशेष योगदान दिया। पाटलिपुत्र के संधि-मंत्री ने संधि-पत्रों का विनिमय करते हुए तीखी निगाहों से जयदेव की ओर देखते खिसियायी-सी हँसी-हँसते हुए कहा, "आशा है कि आर्य जयदेव पाटलिपुत्र के साथ अपने पिछले संबंधों को ध्यान में रखते हुए सम्राट चंद्रगुप्त के हित का ध्यान रखेंगे।"

राजा विष्णु वर्मन अधिकतर दिन राजभवन से बाहर ही बिताते थे। कभी राज के कामों से और कभी शिकार करते हुए। जब वह इस प्रकार बाहर होते तो उदांबरा अपनी दासी कंचनमाला को भेजकर किसी-न-किसी बहाने से जयदेव को अपने पास बुला लेती।

उस दिन भी राजा शिकार खेलने गए हुए थे। उदांबरा ने दासी कंचनमाला से कहा, "जयदेव से कहना, रानी ने बुलाया है, ज़रूरी काम है।" कंचनमाला ने अर्थपूर्ण दृष्टि से रानी की ओर देखा और जयदेव को संदेश दिया।

"क्या काम हो सकता है रानी को मुझसे?" जयदेव ने समझते हुए भी कंचनमाला से प्रश्न किया।

"मुझे क्या मालूम? आप जानें या रानी जाने।" उसके स्वर में व्यंग्य छिपा था।

"ठीक है।" कहकर जयदेव तैयार होने लगा। कंचनमाला गई नहीं। वह जयदेव के कमरे में बिखरे सामान को सलीके से रखने लगी। वह जब कभी भी रानी का संदेश लेकर या और किसी काम से आती तो यही किया करती थी। शुरू-शुरू में, जब जयदेव का कोई दास-नौकर नहीं था, तो कंचनमाला चौके में जाकर रोटी भी बना देती थी। अब उसके कमरे की चीज़ें सलीके से रखते समय कंचनमाला खड़ी हो गई और चुपचाप जयदेव की ओर देखने लगी।

"क्या बात है? कुछ कहना चाहती हो

कंचनमाला ?'' जयदेव ने उसे इस प्रकार ताकते हुए देखकर पूछा।

''नहीं, कुछ नहीं!'' उसने लजाते हुए उत्तर दिया।

''फिर भी! निःसंकोच कहो। कई बार मनुष्य साफ़ सुनने और साफ़ सोचने की मनोवस्था में होता है।''

''सोच रही हूँ, मैंने आप पर तोहमत लगाई, कोड़ों की मार पड़वाई, पर आपने फिर भी मेरे प्रति किसी प्रकार का रोष प्रकट नहीं किया।''

''इसमें तुम्हारा क्या दोष है! रानी ने जो कहा तुमने उसी के अनुसार किया।''

''तो फिर दोष किसका है? मैं यूँ ही पूछ रही हूँ, बस सोच रही हूँ। और यह भी कि आप वह नहीं हैं, जो दिख रहे हैं।''

''तुम ठीक ही कह रही हो कंचन। सच वह नहीं, जो दिखता है। सच वह है जो आदमी सोचता है। वैसे सच वह भी नहीं है। सच की भी एक सीमा होती है, हर आदमी की; अपनी विचारशक्ति के अनुसार।''

''आप मेरी विचार-सीमा की बात कर रहे हैं?''

''नहीं कंचन। तुम भी वह नहीं हो जो तुम्हें करना पड़ रहा है। यदि तुमने किसी ऊँचे कुल में जन्म लिया होता तो शायद...'' कहते हुए और कंचनमाला की ओर देखते हुए वह चुप हो गया।

रानी उदांबरा ने जयदेव का हालचाल पूछा। फिर बहुत देर तक इधर-उधर और राज्य की गतिविधियों के विषय में बातें करती रही। जब अँधेरा पसरने लगा तो जयदेव ने उठने का यत्न करते हुए कहा, ''अब आज्ञा दें, मुझे जाना चाहिए।''

''यदि जाना ही था तो आए ही क्यों?'' उदांबरा अर्थपूर्ण दृष्टि से देखती हुई बोली।

''यह भी मेरी ग़लती थी। अब सोचता हूँ, मेरा यहाँ से चले जाना ही उचित होगा। तुम्हारे और मेरे, दोनों के लिए।''

''उचित?'' उदांबरा के चेहरे पर दुख और क्रोध झलकने लगा, ''क्या वह उचित था जब मुझे परुष्णी के तट पर अकेला छोड़कर चले गए थे?''

''बार-बार मेरी ग़लतियों की ओर संकेत करके मुझे लज्जित मत करो कल्याणी। मैं तुम्हारी भावनाओं को समझता हूँ।''

''समझते हो? मैं उस आदमी के साथ एक पत्नी के तौर से रह रही हूँ जिसने मुझसे पूरी तरह विवाह भी नहीं किया। और जिसके साथ अग्नि को साक्षी मानकर फेरे लिए उसके सामने पराया होने का नाटक करना पड़ रहा है मुझे!''

''यह बात नहीं कल्याणी कि इसके बारे में मैंने कभी सोचा ही न हो। अगर सच पूछो तो इसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ और है ही नहीं सोचने को। तुम मेरा दुखांत भी देखो कल्याणी। वास्तव में हमारा दुखांत यह है कि हम दोनों ही बहरूपिए हैं, और अपने वास्तविक रूप में आने का साहस हममें नहीं है।'' और फिर कुछ देर मौन रहने के बाद वह बोला, ''मेरे पिता जन्म से ही हारे हुए व्यक्ति थे। पर उन्होंने अपने अंतिम समय में जीत का अनुभव किया था। मैं...मैं इतना कुछ प्राप्त करने के बाद भी स्वयं में हारा-हारा टूटा-टूटा अनुभव कर रहा हूँ।''

उदांबरा कुछ देर उसके उदास चेहरे की ओर देखती रही। फिर बोली, ''खंडित मनुष्य को कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं तो यही राय दूँगी कि भूल जाओ अपने अतीत को कि तुमने किसी नाविक के घर जन्म लिया था। वास्तविकता यह है कि तुम ज्ञानी पंडित-पुरुष हो। इस राज्य के संधि-मंत्री हो। भविष्य में और भी बहुत कुछ हो सकते हो। जो है उसे स्वीकार करो, जो नहीं है उसके पीछे क्यों दुखी होते हो?''

''जो मैं वास्तव में हूँ, वही होना चाहता हूँ।

पर मेरी वास्तविकता क्या है? मुझे अभी तक यही नहीं पता। मैं शूद्र हूँ या पंडित? तुम्हारा पति हूँ कि राजा का विश्वासघातक? लगता है मैं...।''

''यूँ सोच-सोचकर स्वयं को व्यर्थ में दुखी मत करो। मनुष्य स्वयं में कुछ नहीं है। समय और परिस्थितियों की लहरों पर बहता चला जाता है जीवन-भर। मनुष्य पल-पल बदलता हुआ चलता चला जाता है। ना तुम वह हो जो उस दिन परुष्णी के तट पर थे और ना मैं वह कल्याणी हूँ जो उदांबर के वृक्ष पर चढ़ी अंजीर खा रही थी।''

उदांबरा ने एक लंबा श्वास लिया और जयदेव के पास बैठकर उसके कंधे पर सिर रखते हुए बोली, ''समय बहुत शक्तिशाली है जयदेव! हमें ही ढालना पड़ेगा स्वयं को समय और परिस्थितियों के अनुसार।''

राजा विष्णु वर्मन इस बार शिकार खेलने नहीं 'शिकार की तैयारी' करने गए थे। जयदेव के राजा की निगाह में ऊँचा उठने और संधि-मंत्री की पदवी प्राप्त करने के बाद वह कई मंत्रियों, सामंतों की आँखों में खटकने लगा था। जब उन्हें जयदेव और रानी उदांबरा के बढ़ते हुए संबंधों के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा के कान भरने शुरू कर दिए। और यह भी बताया कि जब भी महाराज कुछ दिनों के लिए बाहर जाते हैं, तो इस अवसर का लाभ उठाया जाता है।

इसी कारण राजा शिकार का बहाना करके गए थे, पर शीघ्र ही लौट आए। उन्होंने अपने सैनिकों को रानी के भवन के चारों ओर घेरा डालने के लिए कहा और स्वयं चुपचाप, दबे पैर रानी के कक्ष की ओर बढ़ने लगे। रात के दो पहर बीत चुके थे। उसी समय दासी कंचनमाला ने उदांबरा के कमरे का दरवाज़ा धीरे-से खोला और बोली, ''क्षमा करना रानी महाराज विष्णु वर्मन आ रहे हैं।''

उदांबरा घबराकर पलंग से उठी और भयभीत आँखों से जयदेव की ओर देखने लगी। जयदेव ने भी प्रश्नसूचक आँखों से उदांबरा की ओर देखा जैसे कह रहा हो, ''अब छिपाने का कोई लाभ नहीं। एक ही उपाय है कि साफ़-साफ़ बता दिया जाए। एक ही झटके में छुटकारा पा लिया जाए इस दुविधा से।''

राजा की पग-ध्वनि सुनाई देने लगी। राजा के द्वारा कमरे का दरवाज़ा खोले जाने से कुछ पहले दासी कंचनमाला एकदम से दूसरे दरवाज़े से भीतर आ गई और उदांबरा की बाँह पकड़कर दरवाज़े की राह कमरे से बाहर करते हुए जयदेव के पास आ खड़ी हुई।

क्रोध से लाल-पीले होते, और अपनी तलवार की मूठ पर हाथ कसते हुए राजा ने दरवाज़ा खोलकर कमरे में पैर रखा तो कंचनमाला अपने अर्धनग्न अंगों को अपने अंगवस्त्रों से ढँकने का यत्न कर रही थी।

उर्दू ग़ज़ल

ओम प्रभाकर

ज़िंदगीनामा

ज़िंदगानी में पेचो-ख़म क्यूँ हैं
उनको ख़ुशियाँ, हमें अलम क्यूँ हैं?

किसने बाँटी हैं, इस तरह चीज़ें
कुछ पे ज़ाइद हैं, कुछ पे कम क्यूँ हैं?

जिन पे हर दौर में गिरी बिजली
सरहदों के वो गाँव हम क्यूँ हैं?

जिनकी बातों से, जिनकी आँखों से
शोले झरते थे, आज नम क्यूँ हैं?

क्यूँ हैं लोगों के हाथ जेबों में
उनमें बेहिस[1] लगे क़लम क्यूँ हैं?

जब इरादे हैं आपके पुख़्ता
लड़खड़ाते हुए क़दम क्यूँ हैं?

दुनिया

लोगों से, चीज़ों से भरी हुई दुनिया
आधी ज़िंदा, आधी मरी हुई दुनिया।

ज़ाहिर से तो ये टकराती रहती है
बातिन[2] से है लेकिन डरी हुई दुनिया।

सहरा-सहरा धूल उड़ाती फिरती है
जंगल-जंगल कैसे हरी हुई दुनिया?

राम, कृष्ण, ईसा, मूसा, गौतम आए
फिर भी क्या जुर्मों से बरी हुई दुनिया?

थोड़ी-थोड़ी सब बच्चों को दे देता
होती शीरीनी[3] से भरी हुई दुनिया!

---

1. संवेदनहीन, 2. आंतरिक, 3. मिठाई।

1941 में जन्मे ओम प्रभाकर की कविता, कहानी, समीक्षा आदि की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् और उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 7, क़िला रोड, भिण्ड 477001 (म.प्र.)

अनु. स्वयं

गुज़नी

घिसे-पिटे मंज़र में गुज़री
दो कमरों के घर में गुज़री।

बढ़ी उम्र, कुरता-पाजामा
बचपन तो नेकर में गुज़री।

रोज़ी-रोटी की तलाश में
दर-दर, नगर-नगर में गुज़री।

कभी शहादत के जज़्बे में
कभी मौत के डर में गुज़री।

जच्चाख़ाने से मरघट तक
दुनिया एक सफ़र में गुज़री।

आदमी

ज़रूरी हैं अब जब भले आदमी
नहीं हैं कहीं तब भले आदमी।

न दैरो-हरम[1] में, न महफ़िल में हैं
कहाँ जा छिपे सब भले आदमी ?

न दिन में सही, ख़्वाब में ही कभी
दिखा दे तू या रब! भले आदमी।

ये बच्चे भी टुक[2] देख लेते उन्हें
मिलेंगे कहाँ, कब भले आदमी ?

पुरानी किताबों, तसावीर[3] में
मिलें ग़ालिबन अब भले आदमी।

लड़कपन में देखा-सुना था ज़िन्हें
वो क्या थे लबालब भले आदमी ?

---

1. मंदिर-मस्जिद, 2. किंचित्, 3. तसवीरों।

सदा अंबालवी

तीर कोई

निगाहे-नाज़ का ख़ाली गया न तीर कोई
किसी की जान गई और हुआ असीर कोई

विसाले-यार का रस्ता दिखा रही है जो
हमारे हाथ में दिखती नहीं लकीर कोई

न भूलकर भी भरोसा करो हसीनों का
न इन बुतों का ख़ुदा है न इनका पीर कोई

कभी-कभी मुझे सबसे अमीर लगता है
गली के मोड़ पे बैठा हुआ फ़क़ीर कोई

कहाँ तलक यूँ अकेले सफ़र करोगे 'सदा'
तुम्हारे साथ न रहबर न राहगीर कोई

हर शै है

हर शै है कायनात की, अपनी जगह अहम
बरतर कोई किसी से, न कोई किसी से कम

समझे रज़ा ख़ुदा की, तो आँखें हुईं हैं नम
ज़ाहिर में जो थी सज़ा, हक़ीक़त में था करम

ग़ाज़ी बड़ा है कोई, न छोटा ग़ज़लसरा
अपनी जगह पै तेग़ है, अपनी जगह क़लम

इस ख़ाकदाँ को किसलिए कहते हैं हम चमन
गो फूल हैं कहीं-कहीं, काँटे क़दम-क़दम

सूरज ढले कि चाँद खिले हमको क्या ख़बर
गुज़रे जो शामे-ग़म, तो फिर आए शबे-अलम

दे के 'सदा' ख़ुदा मिरे, तू रोकना मुझे
जब राहे-मुस्तक़ीम से भटकें मिरे क़दम

सदा अंबालवी का जन्म 1951 में हुआ। तीन ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 3-बी, हुडको प्लेस, एंड्रयूज गंज, नई दिल्ली 110049

अनु. चरनजीत सिंह के हिंदी-उर्दू में परस्पर अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : प्रबंधक, पंजाब एंड सिंध बैंक, सी.एम. डी. कार्यालय, 'बैंक हाउस', 21 राजेंद्रा प्लेस, नई दिल्ली 110008, मो. 9811116003

मुसन्ना रिज़वी

ज़ख़्म

ज़ख़्मों को दिल में हँस के छुपाए हुए तो हैं
चेहरे पे अपने फूल खिलाए हुए तो हैं।

माना भटक रहे हैं वो मंज़िल की खोज में
पलकों पे कोई ख़्वाब सजाए हुए तो हैं।

ऐ दिल तेरे ख़याल में हम नातवाँ सही
अपने गमों का बोझ उठाए हुए तो हैं।

हाँ सच है हम दुखों का मदावा न कर सके
बारिश में आँसुओं की नहाए हुए तो हैं।

टोपी जनाबे शेख की ऊँची सही मगर
दरबार में वो सर को झुकाए हुए तो हैं।

आँखें छलक ही जाती हैं अब भी कभी-कभी
यूँ मुद्दतों से उसको भुलाए हुए तो हैं।

हम लोग

बोलते बेतकान हैं हमलोग
किस क़दर ख़ुशगुमान हैं हमलोग।

पिघली जाती है पाँव की ज़ंजीर
कितने शोला बयान हैं हमलोग।

तीर तरकश में कम नहीं लेकिन
ईक शिकस्ता कमान हैं हमलोग।

कौन ढूँढ़े यक़ीन की मंज़िल
जबकी ख़ुद ही गुमान हैं हमलोग।

ज़िंदगी है के प्यास का सहरा
किस क़दर सख़्त जान हैं हमलोग।

हर तरफ़ क़िस्सा ए-सलीब व दार
दर्द की दास्तान हैं हमलोग।

तूने समझा है क्या दिवानों को
आप अपना निशान हैं हमलोग।

मुसन्ना रिज़वी की उर्दू-हिंदी में ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : ताज गेट, व्हाईट हाउस कंपाउंड, गया 823001
मो. 9431207661

अनु. स्वयं

नारसाई नसीब-ए-इश्क़ सही
ज़िंदगी तेरी जान हैं हमलोग।

दोस्त

दोस्त की तरहा बहुत याद आए
हमने दुश्मन भी ग़ज़ब के पाए।

बेनियाज़ी का गिला क्या करते
उसकी महफ़िल से निकल ही आए।

अब कहाँ वैसे समन बर यारों
जिनकी गुफ़्तार से ख़ुशबू आए।

लुटने वाले चमनज़ारों . को
ढूँढ़ते फिरते हैं गुल के साए।

ख़ून से टकरा गए जाम-व-मीना
इस तरह झूम के बादल आए।

थाम ले हाथ बढ़ाकर उसको
क्या अजब है वो सँभल ही जाए।

सरफ़राज़ शाक़िर

टेढ़ी-मेढ़ी डगर

टेढ़ी-मेढ़ी डगर का नक़्शा मैं
जो भी पढ़ ले उसी का क़िस्सा मैं

ख़ार[1], पत्थर, चट्टान जैसा वो
ख़ाक, पानी, गुलाब जैसा मैं

याद कर लो किसी भी वक़्त मुझे
हूँ जो गुज़रा हुआ ज़माना मैं

ऐब[2] मुझमें तलाशने वाले
तुझको पहचानता नहीं क्या मैं?

1. काँटा, 2. बुराई

सरफ़राज़ शाक़िर का जन्म 1956 में हुआ। संपर्क : सिवाँची गेट, मंगलियों की गली, जोधपुर (राज.)

अनु. स्वयं

कैसे आबो-हवा[1], शजर[2] देखूँ
हूँ अज़ल[3] से झुलसता सहरा[4] मैं

कौन से रुख़[5] चलूँ नहीं मालूम
हो गया हूँ हवा का झोंका मैं

देख ले कोई नींद में 'शाकिर'
एक भटका हुआ हूँ सपना मैं।

सिंधी

एम. कमल

समझा गया

रंग रुख़ इस दौर का समझा गया,
चोरी चोरी करके यूँ धमका गया।

वो ज़माने का ख़ुदा हो जाएगा,
जिससे था शैतान भी शरमा गया।

आज क्यों उसने मेरी तारीफ़ की?
इक निराली सोच में उलझा गया।

अर्ज़ सुनकर चुप रहा फिर हँस दिया,
दश्ते मानी मुझे भटका गया।

उसको सारा दोष मुझमें ही दिखा।
ज़ख़्म दिल के पोंछकर चमका गया।

भूला किए

धुंध याद है, रोशनी भूला किए
उम्र याद है, ज़िंदगी भूला किए।

किस शजर की छाँव जंगल में जची?
शहर याद है, घर गली भूला किए।

ऐ सितमग़र वक़्त! तूने क्या किया?
दिलबर अपनी दिलबरी भूला किए।

सिंधी रचनाकार एम. कमल का जन्म 1925 में हुआ। इनके 17 कविता-संग्रह तथा 6 एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। साहित्य, अकादेमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : सी-540/1079, उल्हास नगर 421004 (महा.)

अनु. ढोलण राही का जन्म 1949 में हुआ। इनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। राजस्थान सिंधी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 6, सावर हाउस, श्रीनगर रोड, अजमेर 305007,
फ़ोन : 0145-2420184

---

1. जलवायु, 2. पेड़, 3. शुरूआत से, 4. मरुस्थल, 5. चेहरा, दिशा।

दरियादिल यारों की वो जादूगरी,
याद सहरा, तिश्नगी भूला किए।

शोख़ रुख़ था, ख़ून पर अपना ही था,
ख़ूँ न भूले, बेरुख़ी भूला किए।

बू थी जिस मिट्टी की अपने ख़ून में,
हम उसी मिट्टी को भी भूला किए।

हिंदी ग़ज़ल

राजेंद्र तिवारी

ज़बानी चाहिए

थरथराते होंठों के लफ़्ज़ों को मानी चाहिए
एक मिसरा है अकेला एक सानी चाहिए

सिर्फ़ बीनाई नहीं आँखों में पानी चाहिए
झील दरिया हो तो सकती है रवानी चाहिए

जिसको दुनिया याद रक्खे वो कहानी चाहिए
ज़िंदगी में ज़िंदगी की तर्जुमानी चाहिए

बादशा बेचैन हैं दुनिया पे क़ब्ज़े के लिए
हम फ़क़ीरों को दिलों पर हुक्मरानी चाहिए

रात में सूरज उगे दिन लेके घूमे चाँद को
लोग क्या क्या सोचते हैं शर्म आनी चाहिए

कोशिशें तो कोशिशें हैं कामयाबी के लिए
कोशिशों के साथ उसकी मेहरबानी चाहिए

कर लिया इकरार दिल ने कह दिया आँखों ने हाँ
हमको लेकिन फ़ैसला तुमसे ज़बानी चाहिए।

राजेंद्र तिवारी का जन्म 1960 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित। कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : 'तपोवन', 38-बी, गोविंद नगर, कानपुर 208006
फ़ोन : 0512-2617920

नहीं होती

जब ख़ुशी के मिलने पर भी ख़ुशी नहीं होती
इससे बढ़ के दुनिया में बेबसी नहीं होती

इक निगाह मिलते ही प्यार हो तो सकता है
दिल मिले बिना लेकिन दोस्ती नहीं होती

लोग बारहा ख़ुद को रोज़ क़त्ल करते हैं
यार क्या करें हमसे ख़ुदकुशी नहीं होती

बाहरी उजालों से सूरतें चमकती हैं
दिल में इन चराग़ों से रोशनी नहीं होती

सुन सको तो आँखों में लफ़्ज़ गुनगुनाते हैं
ख़ामोश ज़बानों की ख़ामोशी नहीं होती

तश्नगी भटकती है ज़िंदगी के सहरा में
जो दिखाई देती है वो नदी नहीं होती

ख़्वाहिशों के जंगल में दूर तक नहीं जाना
ख़्वाहिशों के जंगल से वापसी नहीं होती।

अच्छी लगीं

हमको उसकी याद की गहराइयाँ अच्छी लगीं
इसलिए महफ़िल में भी तनहाइयाँ अच्छी लगीं

चिलचिलाती धूप नंगे पाँव जलती रेत पर
तश्नगी को झील-सी परछाइयाँ अच्छी लगीं

ये मुहब्बत का असर ही था मुझे महबूब की
ख़ूबियाँ तो ख़ूबियाँ थीं ख़ामियाँ अच्छी लगीं

जब गिरीं हैं आशियाने पर तो गुज़रीं नागवार
जब गिरीं दिल पर तो मुझको बिजलियाँ अच्छी लगीं

मेरी मजबूरी का उसने भी उठाया फ़ायदा
वरना उसको क्यों मेरी मजबूरियाँ अच्छी लगीं!

योगेंद्र दत्त शर्मा

देख लिया

योगेंद्र दत्त शर्मा की ग़ज़लें, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : के.बी. 47, कवि नगर, ग़ाज़ियाबाद 201002 (उ.प्र.)

हम ख़ुद हैं हैरान कि आख़िर कैसा मंज़र देख लिया,
हमने उनकी आँखों में ख़ामोश समंदर देख लिया।

एक अँधेरा सिसक रहा था रौनक के पहलू में,
हमने हर जलवा देखा है, हर जलसाघर देख लिया।

अमन-चैन, हमदर्दी की बातें कितनी बेमानी हैं,
हमने लहूलुहान वफ़ा का एक कबूतर देख लिया।

ये मासूमी, ख़ूबसूरती, शोख़ी और नज़ाकत भी,
पर भीतर क्या कुछ है, वह भी मन के अंदर देख लिया।

जो हमको दिन-रात नचाता अपने एक इशारे पर,
उसे नचाता अपनी धुन पर एक क़लंदर देख लिया।

दर्शन, चिंतन, ज्ञान उधर, पर इधर क्रूरता का चेहरा,
अफ़लातून वहाँ देखा था, यहाँ सिकंदर देख लिया।

तुम तो कहते थे, उसके शब्दों में खरी सच्चाई है,
खरी सच्चाई भी देखी, वह खरा सुखनवर देख लिया।

देखेंगे

तहख़ानों में पड़े-पड़े कब तक अँधियारे देखेंगे,
हमने सोचा है, अब चलकर चाँद-सितारे देखेंगे।

ऊब चुके हैं देख-देखकर उजड़े-उजड़े मंज़र को,
जाने कब इन आँखों से सरसब्ज़ नज़ारे देखेंगे।

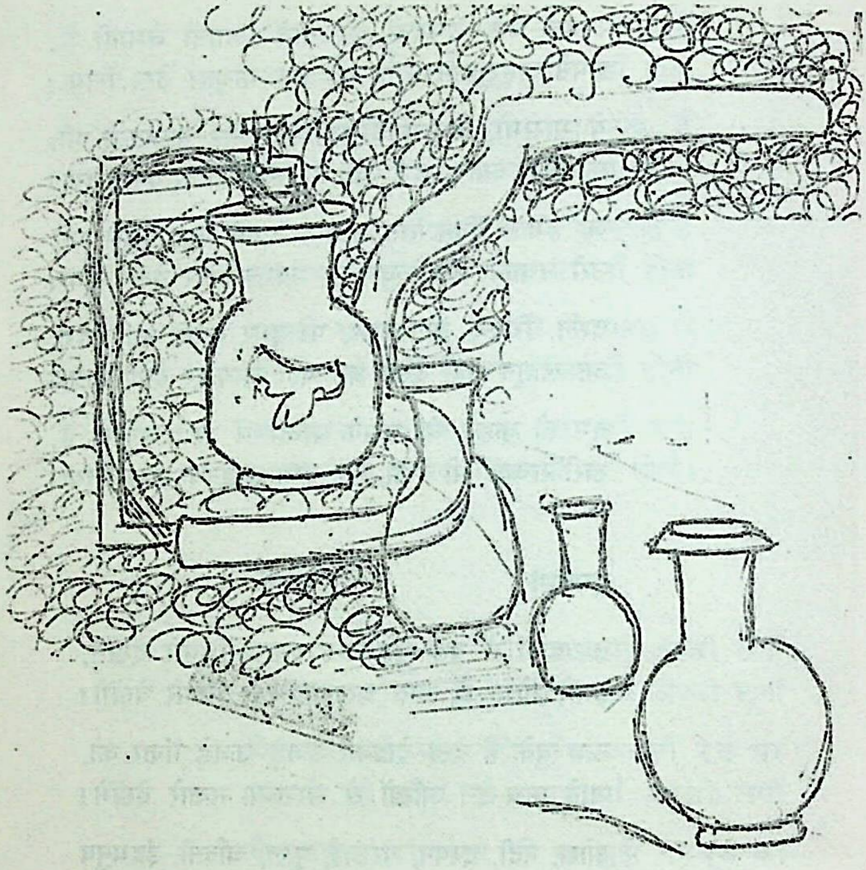
ओस, नदी, दरपन, परछाईं, फूल, चाँदनी, इंद्रधनुष
शायद हम भी कल ऐसे ही साँझ सकारे देखेंगे।

बुझे-बुझे चेहरों ने पाला एक अनोखा-सा सपना,
किसी एक दिन आँखों में जलते अँगारे देखेंगे।

माथे पर सूरज दमकेगा, धूप हँसेगी पलकों में,
जाने कब वो नई सुबह सोए बनजारे देखेंगे।

बंद गली ने तंग सड़क से आँखों में क्या बात कही,
आँगन क्या दालानों के ख़ामोश इशारे देखेंगे।

पिंजरे के सच से वाक़िफ़ हैं, खुली हवा से नावाक़िफ़,
कल शायद इन तोतों को हम पंख-पसारे देखेंगे।



हरीश कुमार 'अमित'

निकाली जाएगी

तरक़ीब दुनिया बदलने की जो न निकाली जाएगी,
तब तलक मियाँ तुम्हारी पगड़ी उछाली जाएगी।

गर बनोगे किरकिरी तुम आँख की सज्जाद की,
बैठने को इज़्ज़त तुम्हारी ही बिछा ली जाएगी।

और-और भरने को तिजोरी सेठ-साहुकारों की,
फटी हुई जेब तुम्हारी फिर-फिर खँगाली जाएगी।

जो ज़रा-सा उठ गई पलक तुम्हारी आँख की,
आँख ऐसे में तुम्हारी तो उड़ा ली जाएगी।

है क्या इतनी हिम्मत जो कर सको मुक़ाबला,
ऐसी ज़ुर्रत पे अर्थी तुम्हारी उठा ली जाएगी।

हरीश कुमार 'अमित' की ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 304, एम.एस. 4, केंद्रीय विहार, सेक्टर 56, गुड़गाँव 122003 (हरियाणा)

शांति छेत्री

पैर

वह एक श्रमिक विधवा माँ थी। उसका एक बच्चा था तीन साल का—दोनों एक-दूसरे पर आश्रित और मोहित।

सब माँ अपने-अपने बच्चों को सजा-धजाकर कहीं ले जा रही थीं।

उसने पूछा, "कहाँ और क्यों ले जा रही हो?"

किसी ने कहा, "बच्चों का मेला है उधर।"

वह भी अपने लाड़ले को गोद में उठाए उधर ही चल पड़ी। पार्क के बीचों-बीच खड़े उस सफ़ेद बड़े मकान के अंदर वह घुस गई। सचमुच! वहाँ बच्चों का अच्छा-ख़ासा मेला लगा हुआ था। सब बच्चे तीन पहियों वाली साईकिल पर सवार इधर-उधर घूम रहे थे। उसका बेटा भी माँ की गोद छोड़कर एक साईकिल पर सवार हो गया। सब माताएँ एक क़तार में खड़ी इंतज़ार कर रही थीं।

एक कर्मचारी से उसने पूछा, "इन बच्चों के पैर में इतनी बड़ी-बड़ी पट्टियाँ क्यों बँधी हुई हैं?"

वह बोला, "उधर डॉक्टर सा'ब हैं, उनसे पूछिए।"

वह उस केबिन में घुस गई। एक अच्छे-ख़ासे लंबे आदमी ने मीठी मुस्कान के साथ उसका अभिवादन किया। फिर पूछा, "क्या उस नीली साईकिल पर बैठा लड़का आपका है?"

"जी हाँ।" उसने सिर हिला दिया।

"बहुत प्यारा है। बहुत शरारत भी करता होगा?"

"जी हाँ!" बच्चों की शरारत अच्छी होती है सा'ब!"

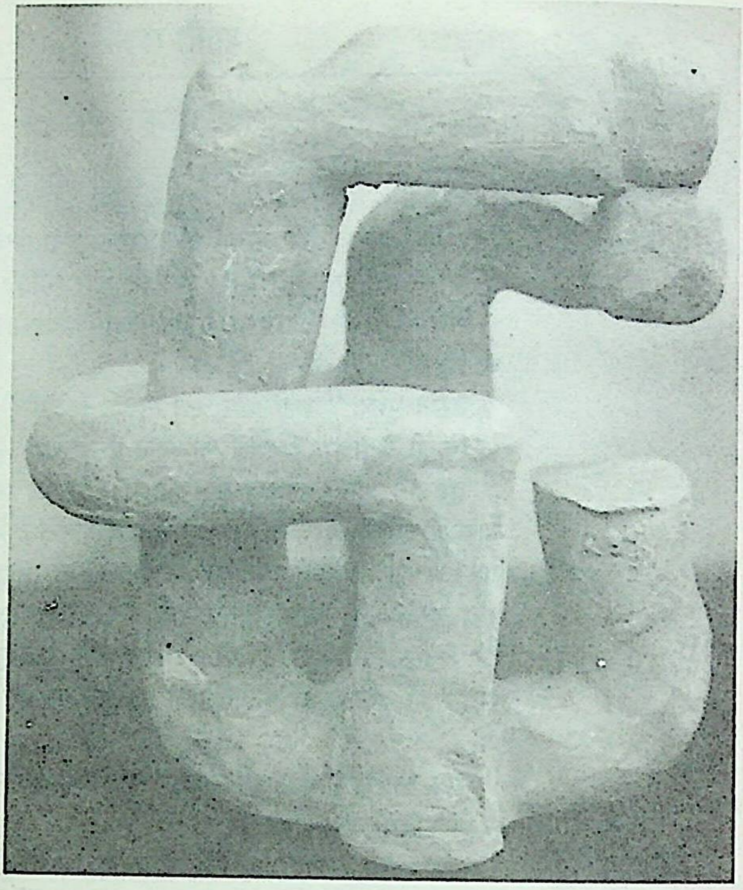
"तब तो उसके पैर का भी ऑपरेशन करना पड़ेगा।"

"वह क्यों?" वह चौंक गई।

"देखिए न, ये बच्चे इतनी जल्दी बड़े हो जाते हैं कि इन्हें सँभालना अब मुश्किल होता जा रहा है। हमारी संस्था ने बच्चों के पैर का ऑपरेशन करके उनका बढ़ना कम कराने के लिए रिसर्च किया है। आपके बच्चे का कल ऑपरेशन होगा—उसके दोनों पैर काट दिए जाएँगे। उसे पेन-किलर दिया जाएगा, नींद की गोली भी। उसे दर्द का अहसास भी नहीं होगा और ख़ून की एक बूँद भी नहीं निकलेगी।"

नेपाली रचनाकार शांति छेत्री का जन्म 1948 में हुआ। कविता, कहानी, समीक्षा एवं यात्रा-संस्मरण की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : चंद्रलोक, लोअर आरीयाड, गांतोक 737101 (सिक्किम)

अनु. स्वयं



"माँऽऽऽऽ!" उसी क्षण उसका बेटा बाहर ज़ोर से चिल्लाया।

वह बाहर की ओर दौड़ पड़ी। उसका बच्चा साईकिल से गिर गया था—4-5 साईकिलें एक साथ भिड़ गई थीं। उसे अपने बच्चे के पैर दिखाई नहीं दिए। कोई उसे पीछे से घसीट रहा था।

वह माँ फिर केबिन में वापस लौट आई, हाथ बढ़ाया और उस डॉक्टर की काली टाई पकड़कर बाहर निकाला। सब माताएँ बच्चों को जल्दी-जल्दी साईकिल से उठाकर ज़मीन पर खड़ा करने की कोशिश कर रही थीं।

वह चिल्लाई, "ऑपरेशन तो कल होनेवाला था। तुमने उसके पैर आज ही क्यों काट दिए?" उसने डॉक्टर को चारों ओर हवा में घुमाया। सब अचरज में थे कि उसके अंदर इतनी सारी शक्ति कहाँ से आ गई? उसने डॉक्टर को ज़मीन पर पटक दिया और अपने पैरों से उसका सिर कुचलती रही, मसलती रही। एक 'आह' भी कहीं सुनाई नहीं दी। इतना बड़ा भयानक सिर उस ज़मीन पर सपाट हो गया लेकिन सचमुच ख़ून की एक बूँद भी कहीं दिखाई नहीं दी। माँ के पैर लज-लज हो गए थे। उसे घिन आ रही थी। उसी क्षण एक नन्हे से हाथ ने उसके स्तन टटोले। वह धीरे-धीरे उसके पैर सहलाने लगी।

"अरे, ये तो सही सलामत हैं!" वह चीखकर उठ बैठी। पसीने से तरबतर वह बुख़ार से तप रही थी। आधी रात का वक़्त था और यह तो सिर्फ़ एक सपना था!

समीरण छेत्री 'प्रियदर्शी'

अँधेरा हो जाए

किसी-किसी को अँधेरा प्रिय लगता है। सोचते हैं—यह संसार और सौरमंडल एक ही बार अँधेरे में डूब जाए...हम सब उसी में विलीन हो जाएँ...शाम ढल चुकने के बाद भी मगरनी बूढ़ी ने ढिबरी नहीं जलाई थी।

बग़ल के घर से पातली कांछी तीन-चार बार देखने गई। बूढ़ी का हर समय ध्यान रखना भी पातली के लिए संभव नहीं है। फिर भी दिलदार पातली पड़ोसी के नाते बूढ़ी का बहुत ख़याल रखती है। पकाकर भी देती है गरम ठंडा, यदि उसके पास होता है तो; नहीं हो तो क्या देगी? शाम होते ही पातली बहुत परेशान हो जाती है—ठूले भात माँगता है, सानी नींद से रोने लगती है और बच्चों का बाप नदी से आता नहीं है। एक ओर बच्चों के गंदे चिथड़े सूखते ही नहीं हैं। सूखेंगे भी कैसे, चार दिन से निरंतर बारिश जो हो रही है। सारे संसार में बरसने वाला पानी इस बार कहीं न बरसकर इसी मंगन में बरस रहा है!

पातली फिर सानी को बग़ल में चेपकर बूढ़ी को देखने गई। बूढ़ी का घर अँधेरे में डूबा देखकर पातली ने कहा, "बज्यू! ढिबरी क्यों नहीं जलाती हो?"

"क्या कहूँ कांछी, तेल नहीं है मेरी ढिबरी में...अब तो मुझे अँधेरा ही प्रिय लगता है। ज़िंदगी के अँधेरे को ढिबरी की रोशनी क्या कम कर सकती है?...मैं सो रही हूँ...तुम मेरी चिंता न करो...।"

पातली ने दोनों बच्चों को खिला-पिलाकर सुला दिया। भात भी पक गया है, बाप मछली लेकर आएगा तो भाजकर झोल डाल दूँगी। लेकिन जाने क्यों उसके आने में देर हो रही है। नदी उफनने लगी है, कहीं उस पार अटक तो नहीं गया?

रेणु भाभी भी पातली को देखने आई। आज वह तीन बार आ चुकी है। उसका पति परसों ही सिलीगुड़ी गया था, लौटा ही नहीं है। संतानरहित पत्नी को पति का प्रेम ज़्यादा ही सताता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन सब झूठ है। पातली के बच्चे हैं, पति के प्रति उसका प्रेम क्या कम हो गया है? बच्चे होने के बाद तो पति-पत्नी के बीच प्रेम और बढ़ जाता है। बच्चे हों या न हों, इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है, जिसका दिल प्यार से भरा होता है, वह सबसे प्रेम करता है। चार बच्चों की माँ भी दूसरी शादी करती है। एक भी बच्चा न होने के

नेपाली के कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार समीरण छेत्री 'प्रियदर्शी' का जन्म 1935 में हुआ। पाँच कहानी-संग्रह, दो उपन्यास, एक नाटक प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : कोलाबारी, चंपासरी, सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग 734003

अनु. बिर्ख खडका डुवर्सेली का जन्म 1954 में हुआ। हिंदी-नेपाली में लेखन एवं अनुवाद। संपर्क : दुर्गागढ़ी, प्रधान नगर, दार्जीलिंग 734003

बावजूद भी अपने पति के साथ जीवनभर रहती हैं औरतें, पातली जानती है। बच्चे न होने की वजह से रेणु भाभी अपने पति को ज़्यादा प्यार करती है, ऐसी बात नहीं है।

''जानती हो पातली, फेन्सोङ तो सब धँस गया है, कहते हैं...इधर राङराङ का पुल भी टूट रहा है। बेचारा बुख़ार से ग्रस्त था, उधर ही रास्ते में फँस गया होगा। जानती हो, यह उत्तर सिक्किम रहने की जगह नहीं है। ऊपर मयूल के बीस–तीस घर धँसकर ढह गए हैं।'' रेणु भाभी खटिया की चादर एक तरफ़ सरकाकर बैठ गई।

''भाभी बात ऐसी है—जो होनी है वह ईश्वर के हाथ में है—आदमी के चिंता करने से क्या होगा? चिंता करके तुम भईया को उठाकर गंगतोक से यहाँ ला सकोगी? आदमी चिंता करके कुछ भी तो नहीं कर सकता है! कल जो होनी है वह होकर ही रहेगी...आदमी चिंता करके पहले ही मर जाता है।''

''क्या कहूँ पातली, इस मन में चिंता अपने आप घुस जाती है चोर की तरह...यूँ ही कैसी–कैसी दुर्भावनाएँ मन में घर बनाती हैं!...'' रेणु भाभी ने कहा।

''भाभी, पड़ोस की बूढ़ी बज्यू की स्थिति सोचिए तो ज़रा...गत वर्ष इसी समय की बात है...बूढ़ा और उसका जवान बेटा तिस्ता में जाल डालने गए थे, आज तक वापस नहीं आए हैं। मरने और बचने में अंतर कहाँ रह गया है? तिस्ता उफनने लगती है तो बूढ़ी की उम्मीदें जागती हैं, कहीं उछाल उसके पति और बेटे को उठाकर उसके पास न ला दे। परसों बूढ़ी को नदी ले जानेवाली थी, उन्होंने पकड़कर निकाला। बूढ़ी क्या कह रही थी, जानती हो! निर्दयी तिस्ता अब तुम मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकोगी। ताज़ी मछली खाया करती थी, अब तो किनारों पर पड़ी सड़ी मछली खाकर जी रही हूँ। मेरी जान लेकर तुम ख़ुश न होना। तुमने मेरी असली जान गत साल ही ले ली है।''

पातली का पति अभी तक नहीं आया है। पातली को घबराहट होने लगी है। आदमी औरों को मुसीबत के समय उपदेश दे सकता है लेकिन ख़ुद मुसीबत में फँसते ही कमज़ोर हो जाता है। बूढ़ी भी दो बार उठकर आई और पातली से पूछा, ''कांछा आया?''

बूढ़ी जान गई, उस समय पातली का स्वर अवरुद्ध हो गया था जब उसने कहा, ''कहाँ, अभी तक नहीं आए हैं! दस बज गया होगा?''

पातली ने बाहर निकलकर उस पार दूर तक देखने की कोशिश की, लेकिन घनघोर अँधेरा होने की वजह से कुछ नहीं दिखाई दिया। हाथीसूँड़ बारिश ने नीचे चाँदे, उस पार सङ्कलान, हिग्याङ और इस ओर ननसामदुङ, राङराङ अर्थात् मंगन का सब इलाका ढक लिया है। कहीं–कहीं से लोगों के चिल्लाने की आवाज़ सुनाई पड़ती है। मनचली तिस्ता के घोर गर्जन में कुछ भी पता नहीं चलता है। बड़े–से चपटे पत्थर पर चढ़कर पातली ने देखा तो उसे लगा, दूर कहीं से उसका पति उसे बुला रहा है। वह मुझे क्यों बुलाएगा! ऐसी तिस्ता से वह हार मानने वाला नहीं है। पातली को अपने पति के साहस और शक्ति पर पूरा भरोसा है, उसे कुछ नहीं होगा।

भाभी फिर आई। उसने कहा, ''ए पातली कांछी! बच्चों को ले लो। हमें अब इस मंगन से भागना होगा। ऐसे भूस्खलन का कोई विश्वास नहीं है! चार दिन हो गए बारिश को। तुम्हारे पति भी कहीं अटक गए होंगे। बच्चों को लेकर तुम्हें ज़िंदा रहना तो होगा! चलो...तुम्हारे ढूले को मैं ढो लूँगी।'' एक बार फीकी हँसी हँसकर पातली ने कहा, ''नहीं भाभी, मैं नहीं जाऊँगी। यदि वे आकर हमें नहीं पाएँगे यहाँ, तब उन पर क्या बीतेगी? भाभी मरना ही लिखा है तो कहीं भी मरेंगे!''

पातली नहीं गई। सब लोग राङराङ छोड़कर दूसरी ओर चले गए। एकाएक पातली को रामनाम का डर हो गया। अभी तक कांछा नहीं आया।

नदी में मछली मारकर पेट पालने का काम ठीक नहीं है। इससे तो रास्ते पर पत्थर तोड़कर या माटी ढोकर खाना ही बहुत अच्छा है। मैं तो नहीं भागूँगी। मरना ही पड़ेगा तो बच्चों को छाती से लगाकर मरूँगी...आख़िर मर ही चुके तो हैं।

पातली चूल्हे के पास बैठकर छाती सेकने लगी। अकेली होती है तो अजीब-अजीब-सी बातें उसके मन में आती हैं। शरीर में शक्ति होने की वजह से अशुभ बातें उसके मन में घर नहीं बना पातीं। पुरानी बातें और मज़ाक़ उसे याद आते हैं।

उसे अच्छी तरह याद है, रेणु भाभी जब मंगन आई थी भईया के साथ दार्जीलिंग के सिङ्ला बाज़ार से, तब वह मोटी थी। इसी मंगन में आने के बाद वह दुबली होने लगी। यहाँ के आदमी ज़हरीले हैं, पानी भी ज़हरीला है। यहाँ लोगों का शोषण होता है। पहले रेणु पातली के साथ ख़ूब मज़ाक़ करती थी। पातली की बेटी सानी गर्भ में नहीं आई थी, तब एक दिन उसे आँगन की धूप में उत्तान सोती देखकर कहीं से आई रेणु ने उसके वक्ष पर चिकोटी काटकर उठाते हुए कहा, "अरे पातली! क्यों इस तरह धूप में सो रही हो? बुदुना मछली खाकर तुम जैसी तरुणी ऐसे सोती है तो बिना पुरुष-संपर्क के ही गर्भधारण हो सकता है, जानती हो! इस संसार की हवा ही दूषित है—स्वर्ग के देवता सपने में तुम्हारे भीतर घुस सकते हैं।"

पातली ने शर्म से मुख छुपाया। रात को पातली ने यह बात अपने पति से कही तो उसी रात सानी गर्भ में आ गई। इन बातों को याद करके पातली हँस पड़ी।

ऊपर सड़क पर बहुत ज़ोर से शोरगुल होने लगा। हाथ में टॉर्च लिए हुए युवक मंगन बाज़ार से लोगों को निकालकर सुरक्षित जगहों में भेज रहे थे। सब निकल रहे थे। रेणु भी निकल गई, लेकिन पातली और बूढ़ी नहीं निकलीं।

पातली चूल्हे के पास सो गई। उसे पता ही नहीं चला नींद कैसे आ गई...वह रोक न सकी। आदमी यदि नींद को रोक सकता तो शायद मृत्यु को भी रोक सकता था।

पातली चौंककर उठ गई। कांछा तो बहुत पहले आ गया है।

"कब आए?" हर्षित होकर पातली ने पूछा।

"कैसी हो! सूअर की तरह सोती हो...मैं अभी आया हूँ।" कांछा ने जवाब दिया।

"क्या कहूँ, मेरे तो होश ही उड़ गए थे!"

"दुत पगली! मरण के लिए काल की ज़रूरत होती है। मैं भी मर ही चुका था यह सोचकर कि कहीं तुम सब रेणु भाभी के साथ ही तो नहीं निकल पड़े! अगर निकलते तो आज नहीं रहते! तैरकर किसी तरह पाँच लोगों को बचा पाया...रेणु भाभी को नहीं बचा सका। भँवर में फँस गई वह। नदी से दोपहर में ही निकला था मैं, पर गाँव के लोगों को नदी पार कराने में लग गया तो देर हो गई। लो मूली काट दी है, ज़्यादा ही तेल डालकर अच्छी तरह भाजना।"

मदहोशी की तरह अपनी पीठ खुजलाकर कांछा ने फिर कहा, "नदी में मछलियाँ नहीं हैं। हमें तो अब ग्रेफ में रास्ता खोदने का काम ढूँढ़ना होगा, नहीं तो दार्जीलिंग की ओर ही जाना पड़ेगा। बोझा ढोकर ही पेट पाल लेंगे।"

भात खाने के बाद पातली और कांछा खटिया पर गए। पेड़ की मोटी छाल से बने दरवाज़े में मनुष्य की आँखों से बड़ा छिद्र होने के बाद भी इस दंपत्ति को किसी की परवाह नहीं है। पातली ने नींद में अपना हाथ कांछा की छाती पर रखा। इसके पहले रज़ाई से ढके संसार में बहुत-सी कृतियों की रचना हुई।

कांछा पातली को अपने छोर की रज़ाई ओढ़ाकर उठा। चूल्हे में आग सुलगाते हुए वह गुनगुनाने लगा। वह बहुत ख़ुश दीख रहा था। उसका मन-प्राण अपने ही देश दार्जीलिंग के आलेबुङ में पहुँच गया था।

कृष्ण चंद्र टुडू

अंतिम परीक्षा

एक दिन डॉ. मदन टुडू एक बरतुहार के साथ लड़की देखने सगा-डीह गाँव गया। लड़की देखने के बाद घर लौटते समय डॉ. मदन ने कहा, ''इस संसार को बनाने वाले भगवान ही जानते हैं कि कौन-सा मनुष्य, किस तरह सजाने से सुंदर लगता है। वे उसे उसी अनुसार सजाते, बनाते, सँवारते और रंग-रूप प्रदान करते हैं।''

इस बात को सुनकर रायबार ने कहा, ''इस संसार को बनाने वाले भगवान ने सभी को अलग-अलग रूप, गुण प्रदान किए हैं। जीवन दिया है लेकिन कुछ लोग अपने रूप, गुण की अवहेलना कर बुरा काम करते हैं और अंततः उन्हें सज़ा भी मिलती है।''

रायबार और डॉ. मदन बड़ी-बड़ी बातें करते हुए अपने-अपने रास्ते चले गए। डॉ. मदन अपने घर जाने के लिए झोराडीह बस स्टैंड गया। बहुत देर तक बस स्टैंड पर खड़े रहने के बाद भी वहाँ एक भी गाड़ी नहीं आई, तब डॉ. मदन बस स्टैंड के पास स्थित एक मोयरा दुकान के पास गया और दुकानदार से पूछा, ''टाटा जाने के लिए बस कब आएगी?''

मोयरा दुकानदार ने बताया, ''आज गाड़ी नहीं चलेगी।''

डॉ. मदन ने कहा, ''भाई ज़रा ये तो बताइए, आज गाड़ी क्यों बंद है?''

दुकानदार ने कहा, ''बाबू, आप इस परचे को पढ़िए। आज वीर जंगल संताल ने गाड़ी बंद का एलान किया है कि सभी गाड़ियाँ बंद रहेंगी।'' यह कहकर दुकानदार ने डॉ. मदन के हाथ में एक परचा थमा दिया। डॉ. मदन ने परचा पड़ा। परचे में लिखा था, ''सभी भाई-बहनों को जोहार! इस भारत देश में हम सभी आदिवासी, हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध भाई-भाई हैं। हम सभी भारत माता की संतान हैं, हम सभी भारत भूमि के भारतवासी हैं। हमारी न कोई जात है, न छुआ-छूत, न भेद-भाव। इस देश में हम लोगों को कोई नहीं बाँट सकता, इसलिए सभी भारतवासियों को नाम के साथ गोत्र नहीं लिखना चाहिए। इस बात को सरकार से मनवाने के लिए आज गाड़ी बंद रहेगी।'' निवेदक—''पद्वी उन्मूलन संघ, वनांचल।''

संताली रचनाकार कृष्ण चंद्र टुडू का जन्म 1952 में हुआ। इनके नाटक, कहानी, कविताएँ, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची 834008 (झारखंड)

अनु. स्वयं

कुछ देर बाद, मायनो भी उसी झोराडीह बस स्टैंड पर आई। डॉ. मदन को देखते ही मायनो ने हैरानी से कहा, ''क्या आप लोगों को अभी तक गाड़ी नहीं मिली?'' दुखी मन से डॉ. मदन ने कहा, ''हाँ, अभी तक तो गाड़ी नहीं मिली। शायद आज गाड़ी बंद है!''

यह सुनते ही झट से मायनो ने कहा, ''तब, आज मैं मामा के घर नहीं जाऊँगी। घर वापस चली जाऊँगी।'' उसकी बात सुनकर डॉ. मदन ने कहा, ''तुम तो अपने घर लौट जाओगी लेकिन मैं कहाँ जाऊँ?''

मायनो ने कहा, ''मुझे क्या मालूम, आप कहाँ जाएँगे? कहाँ रहेंगे? मैं कैसे बता सकती हूँ?''

डॉ. मदन ने कहा, ''क्या आप मुझे अपने घर ले चलेंगी? कैसा रहेगा?''

''यह कैसे हो सकता है? यदि आप मेरे साथ मेरे घर जाएँगे तो समाज के लोग मुझे क्या कहेंगे? क्या सोचेंगे? समाज के सामने मैं आपका क्या कहकर परिचय दूँगी?'' मायनो ने कहा।

मायनो की बात सुनकर डॉ. मदन बोला, ''जो जी में आए, वही कह देना।''

मायनो बोली, ''एक उपाय हो सकता है।''

''कौन-सा उपाय?'', डॉ. मदन ने उत्सुकता से पूछा।

''उपाय तो आपके परिचय का ही ढूँढ़ना है। आपका परिचय मैं एक कुटुंब के रूप में, एक नौकर के रूप में या एक पति के रूप में दे सकती हूँ। अब आप ही बताइए समाज के सामने मैं आपका क्या परिचय दूँ?''

मायनो की बात सुनकर डॉ. मदन चुप रह गया। वह मन-ही-मन सोचने लगा, ''यह मेरी अंतिम परीक्षा है।'' एम.बी.बी.एस. परीक्षा में उत्तीर्ण लड़का, आज मायनो के प्रश्न का उत्तर देने के लिए सोचने के लिए मजबूर था। अंततः वह बोला, ''मायनो, मैं तो तुम्हारा कोई रिश्तेदार नहीं हूँ। इसलिए तुम समाज के सामने एक कुटुंब के रूप में मेरा परिचय नहीं दे सकती। बिना रिश्तेदारी किए कुटुंब कहलाना समाज के लिए एक कलंक है। और फिर मैं तो पढ़ा-लिखा लड़का हूँ। मेरे पास डॉक्टर की डिग्री भी है। एक नौकर के रूप में मेरा परिचय देने का मतलब है, डिग्री का अपमान करना।''

अब मायनो का अंतिम प्रश्न बचा था, ''पति के रूप में परिचय देना।'' कुछ देर सोचने के बाद डॉ. मदन ने कहा, ''मायनो, तुम मेरे दिल की बात को जानना चाहती हो तो सुनो, मैं तुम्हें अपनी अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार करना चाहता हूँ। तुम मेरा परिचय एक पति के रूप में दे सकती हो।''

डॉ. मदन की बात सुनते ही मायनो ने कहा, ''बिना विवाह किए, आप पति कैसे हो सकते हैं? आप तो पढ़े-लिखे हैं, आपके पास डिग्री है, लेकिन मेरे पास कोई डिग्री नहीं है। फिर भी मुझे मालूम है बिना विवाह किए कोई पति-पत्नी नहीं हो सकता। यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं तो चलिए उस पीपल के पेड़ के पास, वहाँ एक देवस्थल है। वहाँ एक पुजारी भी है। पुजारी हमारा विवाह करा देंगे और भगवान को साक्षी मानकर आप मेरी माँग में सिंदूर भर दीजिए।''

ऐसी अनेक बातें हुईं। अंततः वे दोनों पीपल के पेड़ के पास स्थित देवस्थल गए और पुजारी से कहा, ''पुजारी जी, आप हम दोनों का विवाह करा दीजिए।''

पुजारी ने कहा, ''ठीक है—मैं तुम दोनों का विवाह करवा देता हूँ।''

तीनों ने देवालय में प्रवेश किया। पुजारी ने डॉ. मदन एवं मायनो को एक पंक्ति में खड़ा किया तथा दोनों के हाथों में अरवा चावल तथा फूल की मालाएँ रख दीं। पुजारी ने देवस्थल पर फूल चढ़ाए, पूजा-अर्चना की। पूजा समाप्त करने के बाद पुजारी ने डॉ. मदन एवं मायनो को अपने-



अपने गाँव, नाम, गोत्र, जाति तथा धर्म के बारे में पूछा। यह बात सुनते ही डॉ. मदन ने कहा, "पुजारी जी, आप तो इस देवालय के पुजारी हैं। आप तो ब्राह्मण हैं। आपके पास तो धर्म-अधर्म की बात होनी चाहिए थी लेकिन आप हमसे जाति और गोत्र का नाम पूछ रहे हैं? यह कितने आश्चर्य की बात है। इस संसार में धर्म, जाति के नाम पर हम और कितने दिन तक लड़ते-भिड़ते रहेंगे?" डॉ. मदन ने मायनो से कहा, "मायनो, यहाँ से चलो। इस पुजारी के सामने हमारा विवाह नहीं हो सकता चूँकि यहाँ अभी भी जात-पात, छुआ-छूत, धर्म की बातें होती हैं। चलो, हम दोनों अपने गाँव चलें। वहीं हमारे गाँव के प्रधान एवं पंच के सामने विवाह होगा।"

मायनो बोली, "हाँ आपकी बात सही है लेकिन इस देवता के सामने अपने हाथ में लिए हुए अरवा चावल तथा फूल-मालाएँ हम कैसे

फेंक दें। मैं इस भगवान को साक्षी मानकर तुम्हारे गले में फूल माला पहना रही हूँ। मैं तुम्हें पति के रूप में स्वीकार करती हूँ।'' यह कहकर मायनो ने डॉ. मदन के गले में फूल माला पहना दी। तब डॉ. मदन ने भी मायनो के गले में फूल माला डाल दी। भगवान तथा पुजारी को प्रणाम कर दोनों ने विदाई ले ली और वहाँ से वे लोग चले गए।

रातों-रात दोनों, जंगल की पगडंडी के रास्ते से राजदोहा गाँव पहुँच गए। सुबह होते ही डॉ. मदन मायनो को अपने घर ले आया। डॉ. मदन ने अपनी माँ को मायनो के साथ अपने विवाह की सारी घटना बताई।

उसकी माँ ने डॉ. मदन की बात सुनकर कहा, ''बेटा, जो काम तुम्हारे पिता के साथ मुझे करना चाहिए था, उस काम को तुमने पूरा किया, यह कितनी ख़ुशी की बात है। फिर भी मैं जानना चाहती हूँ बेटा कि बहू कौन-से गाँव की है? वह किसकी बेटी है?''

डॉ. मदन ने कहा, ''माँ, लड़की सगाडीह गाँव की है, इनके पिता काफ़ी धनवान हैं, इनके घर अनेक गाय-बैल हैं। चारों ओर खपराली घर हैं, ज़मीन-जायदाद भी काफ़ी है।''

डॉ. मदन की बात सुनकर उसकी माँ ने कहा, ''क्या लड़की साधूबाबा घर की है?''

''हाँ माँ, लड़की साधूबाबा की छोटी बेटी है।'' यह सुनकर रोते हुए उसकी माँ ने कहा, ''बेटा तुमने क्या किया! ये लोग तो गोंडवार गोत्र के हैं, गोंडवार गोत्र से हमारे टुडू गोत्र का विवाह नहीं होता।''

माँ बेटे की यह बात सुनकर मायनो की आँखों में आँसू आ गए। उसने आँचल में अपना मुँह छुपा लिया।

तब डॉ. मदन दौड़कर मायनो के पास गया और बोला, ''मायनो कहो, माँ ने जो बात कही है क्या वह सच है?''

तब मायनो ने रोते हुए कहा, ''हाँ, यह बात सच है, हम लोग संताल समाज में गोंडवार गोत्र के हैं। गोंडवार गोत्र से समाज में जाने जाते हैं। इसलिए हम लोगों से अन्य गोत्र वाले विवाह संबंध नहीं जोड़ते। आप तो पढ़े-लिखे हैं। मैं आप से दो प्रश्न पूछती हूँ। पहला प्रश्न है—संताल समाज में कितने गोत्र हैं और उनके नाम क्या-क्या हैं? समाज में बेसरा के साथ किस्कू, टुडू के साथ बेसरा तथा चेंड़े के साथ टुडू का विवाह संबंध क्यों नहीं होता है? दूसरा प्रश्न है—संतालों का जन्म कहाँ और कैसे हुआ था? मनुष्य का जन्म, हंस-हंसनी चिड़िया से हुआ था या मुरूमएगों से या अन्य जीव जानवरों से?'' मायनो के इन प्रश्नों को सुनकर डॉ. मदन की माँ ने कहा, ''बेटा मदन, बहू आज जो प्रश्न तुमसे पूछ रही है, ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। बेटा हमने तुम्हें बड़ी लाचारी तथा कष्ट से पढ़ाया है। इसलिए मैं तुम्हें फिर से पढ़ने के लिए तथा शोध के लिए इजाज़त तथा अवसर देती हूँ और शोध करके ये प्रमाणित करो कि समाज में ऐसी अवस्था कब तक बनी रहेगी? ऐसी कुरीतियाँ समाज के लिए ही नहीं बल्कि पूरे विश्व के लिए अभिशाप हैं। बेटा यही तुम्हारी अंतिम परीक्षा है।''

माँ ने फिर कहा, ''बेटा, जाओ बहू को मेरे सामने ले आओ! आज समाज के सामने बेटा और बहू के रूप में मैं तुम दोनों के पाँव धोऊँगी और गोंडवार की बेटी को बहू के रूप में स्वीकार करूँगी।''

इन बातों को सुनकर गाँव के प्रधान तथा पंच ने माँ की बातों को सराहा। माँ ने डॉ. मदन और मायनो के पैर धोए और दोनों को घर के अंदर ले गई तथा सुखमय संसार बसाने के लिए आशीर्वाद दिया।

सुभाष शर्मा

कुदेशन*

तब टुनमुनिया फूट-फूटकर रोने लगी। उसके मुँह से निकला, "हाय भगवान! हाय रे करम! ई कोखी के कवन दोख भइल जे इ दिन देखइला भगवान! इ कोखिया, इ दुधवा के इहै मोल मिलल? पथरा गइल छाती फाटत काहे नइखे भगवान!" यह कहते-कहते और आँसू पीते-पीते टुनमुनिया बेहोश हो गई।

उस साल ऐसी घनघोर बारिश नेपाल और उसके सीमावर्ती इलाक़ों में हुई कि पूरा इलाक़ा डूब गया। पानी में घर डूबा, खेती डूबी, तन डूबा, मन डूबा और डूब गया समूचा गाँव-जवार। सरकार ने राहत की घोषणा की। नेताओं और अफ़सरों ने अपनी-अपनी तोंद पर हाथ फेरा। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र तैयार किए, जैसे कोई पहलवान अपना अखाड़ा तैयार करता है— 'अंधा बाँटे रेवड़ी अपने को चीन्ह-चीन्ह' की तर्ज़ पर राहत सामग्री बाँटी गई। कुछ लोगों को राहत के नाम पर कुछ धन मिला, कुछ को अनाज मिला, कुछ को कपड़ा मिला और कुछ को कुछ नहीं। कोई वाह कहता, तो कोई आह। बाढ़ के लिए कुछ लोग इंद्र देवता को कोस रहे थे, कुछ नेपाल के मत्थे पर सारा दारोमदार डाल रहे थे, कुछ केंद्र सरकार की अकर्मण्यता पर भड़ास निकाल रहे थे और कुछ सूबे की सरकार तथा प्रशासन को दोषी ठहरा रहे थे। भीखनपुर में कुछ पुराने ख़याल के लोग भी थे जो इस नरक के लिए अपनी तक़दीर को कोस रहे थे। एक बुज़ुर्ग टेवाराम ने कहा, "होइहें सोइ जो राम रचि राखा।"

सो दसवीं पास राम भरोसे एक दिन अपने साथियों से विचार-विमर्श करने लगा, "पानी से घिरे हुए हम लोग क्या रास्ता अख़्तियार करें? कहाँ जाएँ, क्या करें?" क़रीब एक हफ़्ते तक वे सभी सोचते-विचारते रहे। राम भरोसे ने ऊहापोह के बादलों को छाँटते हुए सलाह दी, "अब हमें भीखनपुर से बाहर निकलना ही होगा। सिर्फ़ तक़दीर को कोसने से काम नहीं चलेगा। सरसों से अपने आप तेल नहीं निकलता, उसे कोल्हू में पेरना पड़ता है। गोसाईं जी ने कहा है— *कर्म प्रधान विश्व करि राखो*। सो कर्म करना होगा

सुभाष शर्मा का जन्म 1959 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह, दो कहानी-संग्रह तथा अन्य विधाओं की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : ए-3/2, राजवंशी नगर, बेली रोड, पटना 800023
फ़ोन : 0612-2291013

* दूसरे प्रदेश की स्त्री

हमें।'' उसके दिमाग़ में इससे ज़्यादा कुछ नहीं था। कोई धुँधला नक़्शा नहीं था कि किस ढर्रे से कहाँ जाएँ। लेकिन वह अपने जीवन में एक बार सूबे की राजधानी गया था। स्कूल की ओर से जादूघर, तारामंडल, चिड़ियाघर वग़ैरह देखने गया था। मगर जब रामभरोसे जैसे कुछ नौजवान एक क़दम आगे बढ़ने की बात करते, तो बुढ़वन उसे दो पग पीछे खिसका देते। बाहरी दुनिया में फैले चोर-उचक्कों, छल-फ़रेब, दारू-नशा के गिरोह वग़ैरह के ऐसे क़िस्से वे सुनाते कि कई नौजवानों का दिल दहल जाता। फिर कोई ज़बर्दस्ती कोठों पर औरतों को खींच ले जाने की घटना बयान करता मानो उसकी आँखों के सामने वह घटना घटी हो। यह घोरमट्ठा दस दिनों तक चलता रहा मगर बाढ़ ने भागने का नाम नहीं लिया।

जब राहत की चीज़ें भी ख़त्म हो गईं तो रामभरोसे की अगुवाई में कई नौजवानों ने बाहर जाने का फ़ैसला एक दिन कर लिया। टुनमुनिया ने भी हुँकारी भरी और बोली, ''हाथ पे हाथ धरे से काम ना चली। हम मानुष हईं, जनावर ना।'' जब रामभरोसे ने बाढ़ के पानी में बहते हुए टुनमुनिया को बाहर निकाला था, तब से वह उसे मन-ही-मन पूजती है। धीरे-धीरे पूजा से प्रेम की पंखुरी निकल आई। टुनमुनिया के घर में उसकी बूढ़ी माँ के सिवाय कोई नहीं था। मगर दोनों की मुलाक़ात नज़रों तक सीमित थी। कुल पच्चीस औरत-मर्द-बच्चे रेलगाड़ी से किसी तरह सूबे की राजधानी पहुंच गए। उस समय सरकार बाढ़ से घिरे लोगों को बाहर पहुँचाने में मदद कर रही थी, सो टिकट लेने का झंझट नहीं था।

उन लोगों ने प्लेटफ़ॉर्म नंबर सात पर अपना डेरा जमा लिया। रामभरोसे पूछताछ कार्यालय में पता करने गया कि दिल्ली और पंजाब के लिए कोई गाड़ी कब आएगी। उसने अपनी पढ़ाई के दौरान जाना था कि पंजाब में उन्नत खेती होती है और वहाँ के किसान ख़ुशहाल हैं। वहाँ पता चला कि हावड़ा-अमृतसर एक्सप्रेस रात में डेढ़ बजे आएगी।

सो दाना-पानी कर लेने के बाद रामभरोसे ने सभी साथियों को सोच-विचारकर बताया, ''एक आदमी का चालू किराया दो सौ रुपए है। कुल बारह मर्द, आठ औरतें और पाँच बच्चे हैं। बच्चों के लिए आधा टिकट हम नहीं लेंगे क्योंकि बीस सवारियों के पूरे टिकट में ही चार हज़ार रुपए लगेंगे। हमारे पास कुल मिलाकर केवल डेढ़ हज़ार रुपए हैं।'' उसने जोड़ा-गाँठा। उसने कभी बाहर बेटिकट यात्रा नहीं की थी सो उसे ऊभ-चूभ हो रही थी कि पकड़े जाने पर क्या गति होगी? फिर उसने सोचा, ''जेल की चक्की पीसनी होगी। बदन पर कोड़े पड़ेंगे और सोने का जुगाड़ भी नहीं होगा। मगर रूखा-सूखा कुछ तो मिलेगा? भीखनपुर में तो सूखी रोटी भी नहीं मिल सकती।'' आठों औरतों के लिए ही सोलह सौ रुपए की ज़रूरत थी। औरतों को बेटिकट ले जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। यदि वे बेटिकट पकड़ ली जाएँगी, तो जेल जाएँगी और उन पर न जाने क्या-क्या जुल्म होंगे। टुनमुनिया के पास एक पाई नहीं थी। मगर उसके गले में चाँदी की एक हल्की ज़ंजीर थी। वह रामभरोसे की पशोपेश को ताड़ गई और बोली, ''हमार इ निहोरा बा। एकरा के मत ठुकराई। जिनगी रही त ढेर गहना बनी! गहना तो जिनगिए ख़ातिर होला। सांसत में जिनगी पड़ जाय त इ सब ना सोचल जाला।'' रामभरोसे ने अंदाज़ लगाया कि कम-से-कम तीन-चार सौ रुपए में वह बिक जाएगी। राजधानी होटल के पास पान की एक सजी हुई दुकान खुली थी। आधे घंटे तक मोल-तोल करने के बाद पान दुकानदार ने दो सौ रुपए ज़ंजीर के बदले उसे दे दिए।

अब रामभरोसे ने गणित लगाना शुरू किया, ''यदि हम आठ टिकट ले लेंगे, तो सिर्फ़ एक

सौ रुपए बचेंगे। तो रास्ते भर तीस-बत्तीस घंटों में हम लोग क्या खाएँगे? सो पाँच टिकट अमृतसर के लिए, तीन टिकट मुगलसराय के लिए और दस प्लेटफ़ॉर्म टिकट ले लेते हैं।'' क़रीब बारह सौ रुपए ख़र्च हो गए। डेढ़ बजे रात में धड़धड़ाती हुई हावड़ा-अमृतसर एक्सप्रेस प्लेटफ़ॉर्म नंबर सात पर आ गई। सभी लोग अपनी-अपनी गठरी-मोटरी लेकर और बच्चों को पकड़े हुए चालू डिब्बे में घुस गए। कुछ मिनटों में ही गाड़ी सीटी बजाते हुए चल दी। एक साथी से वह फुसफुसाया, ''ज़्यादा भीड़ न होने से टिकट चेकिंग में बेटिकट मुसाफ़िरों के पकड़े जाने की ज़्यादा गुंजाइश होती है। ज़रा सँभलकर रहना।'' तभी टुनमुनिया उसकी ओर ताकने लगी। दोनों की आँखें मिलीं, तो पलकें झपकने का नाम ही न ले रही थीं। मगर रात में उन्हें कहीं भी टी.टी. का दर्शन नहीं हुआ।

कई बार चढ़ते-उतरते वे लोग किसी तरह अमृतसर पहुँच गए। रास्ते में उन लोगों ने पेट की आग बुझाने के लिए भूँजा फाँककर पानी पी लिया था। प्लेटफ़ॉर्म से बाहर निकलने के बाद टुनमुनिया को उल्टी होने लगी। रामभरोसे का जी घबरा गया। वहाँ उसकी दवा का इंतज़ाम नहीं हो सकता था। मालूम हुआ कि उसने दो दिनों से कुछ नहीं खाया था, सिर्फ़ बार-बार पानी पी लेती थी। उसे ज़मीन पर लिटाकर हवा की जाने लगी। रामप्यारी ने उसका मुँह धोया। फिर उसने उसके सिर के बाल खोल दिए जिससे हवा लगे। थोड़ी देर में उसकी तबीअत ठीक हो गई। फिर एक अधेड़ सरदार गुरिंदर सिंह ट्रैक्टर लेकर वहाँ पहुँच गए। उन्होंने इन लोगों से पूछा, ''क्यों जी, तुम लोग मेरे यहाँ काम करोगे?''

''बिलकुल मालिक!'' रामभरोसे के मुँह से निकला। उसे लगा कि बिल्ली के भाग्य से सिकहर टूटने वाला है।

''मज़दूरी क्या लोगे?'' उन्होंने पूछा।

''आप क्या देंगे?'' रामभरोसे ने उनका मन टटोला, ''बाज़ार में मज़ूरी का रेट तो आपको भी मालूम ही है?''

''साठ रुपए रोज़।'' सरदार जी ने कहा।

और रामभरोसे चौंक गया, ''साठ रुपए दिन भर का?'' अपने गाँव में उन्हें पचास रुपए से ज़्यादा मज़दूरी कभी नहीं मिलती थी। सो वह भीतर-ही-भीतर मगन था। सरदार जी ने सोचा कि रेट कम होने से शायद उसे मंज़ूर नहीं है। सो उसने अपनी मूँछे ऐंठते हुए कहा, ''देखो जी! तुम लोगों के ठहरने के लिए भी बंदोबस्त कर देंगे। वाहे गुरु की कृपा से खेत पर ही मेरा ट्यूबवेल है। वहाँ नहाने-धोने और बिजली की भी दिक़्क़त नहीं होगी।'' और उसने उसको स्वीकार कर लिया। सरदार समझ गया कि पच्चीस लोगों के झुंड का अगुआ रामभरोसे ही है। सो उसने रामभरोसे को अपनी सीट के पास बिठा लिया। उसने बाक़ी सबको अपने ट्रैक्टर में पीछे की तरफ़ बिठा लिया और रवाना हो गया।

सरदार जी ने अपने फ़ार्म पर उन सबको उतार दिया। वहाँ छप्पर की बड़ी कुटिया-सी थी जिसमें पहले मज़दूर रहा करते थे। बग़ल में सरदार जी की ट्यूबवेल थी। दूसरी ओर आम का बड़ा बग़ीचा था। अगले दिन से रोपनी का काम उन्हें शुरू कर देना था, इसलिए सरदार गुरिंदर सिंह ने पाँच किलो भुने हुए चने और दो किलो गुड़ लाकर उन्हें खाने को दे दिए। रामभरोसे ने सबको चना-गुड़ खाने के लिए बाँट दिया। एक घंटे के बाद सरदार जी फिर आए और एक हज़ार रुपए एडवांस दे गए। उन्होंने पास की दुकान भी उन सबको बता दी। सो वे लोग वहाँ से झटपट राशन-पानी ख़रीद लाए। दोपहर को गोंइठा जलाकर, आटा गूँधकर, आलू पकाकर लिट्टी-चोखा तैयार किया गया। सभी ने जमकर खाया। तब सबके शरीर में फुर्ती आई और आँखों की रोशनी तेज़ हो गई।

अगले दिन से शुरू हो गई धनरोपनी। बच्चों को छोड़कर सभी औरत-मर्द रोपनी में जुट गए। रामभरोसे ने टुनमुनिया को रोपनी करने के बजाय एक-दो दिन आराम करने को कहा, तो वह बोली, "बिना काम के कै दिन चली? सुतले पेट भर जाए के रहित त परदेस में कोई काहे आइत। जांगरचोर हम नइखी। हो गइल आराम। रउवा बताईं कवन काम करे के बा।" एडवांस तो पहले ही दिन पट गया, बाक़ी मजूरी भी तुरंत मिल गई। खड़ी मजूरी, चोखा काम। सारे औरत-मर्द भीतर-बाहर से ख़ुश रहने लगे। पंद्रह दिनों में सरदार जी के यहाँ की धनरोपनी ख़त्म हो गई। सो उनकी राय-सलाह से वे लोग दूसरों के यहाँ भी रोपनी आदि का काम करने लगे। फिर निकाई और सिंचाई का काम मिला। फिर खाद और कीटनाशक दवाओं के छिड़कने का काम शुरू हुआ।

कीटनाशकों से अनाज में ज़हर फैलने की बात सुनकर रामभरोसे का माथा ठनका। उसने अपने सभी साथियों को बताया, "हम लोग जो कुछ भी बाज़ार से ख़रीदते हैं और खाते हैं उसमें ज़हर मिला होता है। यानी हम ज़हर महँगा ख़रीदते हैं, ज़हर खाते भी हैं और कई रोगों को जन्म देते हैं।" मगर ज्यादातर लोग कहने लगे, "अब जहर-माहुर के बात हमनी के नइखे बुझात। सोचे के बात बा कि पेट कइसे भरी। गाँवे रहला पर केतना आदमी बाँस घाट पहुँचल जाइत। बेमारी में डकटरवा देह के कपड़वो बेचवा देले रहतन स। पेट में अन मिले, देह पर कपड़ा, इहे बहुत बा।" रामभरोसे ने भी उन सबकी बात ऊपर से मान ली मगर उसके भीतर-ही-भीतर कुछ सुलगने लगा। उसकी तरफ़ सिर्फ़ टुनमुनिया थी लेकिन दूसरी ओर तेइस लोगों का बहुमत था। लोकतंत्र में जिसके जितने हाथ, उसकी उतनी ऊँची आवाज़ होती है।

जब उनके खाने-पीने, रहने, पहनने-ओढ़ने का चौचक इंतज़ाम हो गया, तो उन्हें अपने गाँव वालों की याद बुरी तरह सताने लगी—उनकी हर साँस में भीखनपुर होता था। सो उन लोगों ने टुनमुनिया के प्रस्ताव पर गाँव के बुज़ुर्ग बच्चू राम के नाम पर तीन हज़ार रुपए का मनीऑर्डर भेज दिया और लिख दिया कि अपने टोले के सभी घर-परिवारों में उसे बराबर-बराबर बाँट दें। उन सबने सोचा कि अपने गाँव-जवार को याद करने का यहीं सच्चा तरीक़ा है, चिट्ठी से झूठमूठ की तसल्ली देने का कोई मतलब नहीं।

कुछ हफ़्तों के बाद उन लोगों ने एक रेडियो ख़रीद लिया और सरदार जी के ट्यूबवेल से मिले बिजली कनेक्शन से रेडियो भी चलने लगा। सो उन्हें दुनिया-जहान की घटनाएँ रोज़ाना मालूम होने लगीं। फ़िल्मी गीत, लोक गीत वग़ैरह भी वे आसानी से सुनने लगे। उधर दुधारू गाय-भैंसों के चारा-पानी की व्यवस्था भी उनके ज़िम्मे आ गई। धीरे-धीरे सरदार जी के फ़ार्म पर क़रीब पचास गाय-भैंसें हो गईं जिन्हें चारा देना, जगह बदलना, नहलाना-धुलाना वग़ैरह उनकी ड्यूटी में शामिल हो गया। वे जर्सी गायें और मुर्रा भैंसें एक-एक बाल्टी दूध देती थीं। उनका दूध दुहने के लिए तीन मज़दूर अलग से थे। सरदार जी उन लोगों को रोज़ाना मुफ़्त में छाछ देते थे। सरदार जी खाने-पीने के बेहद शौक़ीन थे। वह इन लोगों को भी जमकर काम करने और छककर खाने को कहते थे। सरदार जी मस्त-मौला थे।

क़रीब दो महीने बाद रामभरोसे ने टुनमुनिया को देखा तो उसमें ग़ज़ब का निखार आ गया था जैसे पुराने गहने साफ़ करने पर चमक उठते हैं। अब वह दूसरी महिलाओं के साथ पाउडर, महकउवा तेल वग़ैरह लगाने लगी। दुकान नज़दीक ही थी सो सिंगार के सारे सामान आसानी से उन्हें मिल जाते थे। अब झुंड की महिलाएँ पंजाबी महिलाओं से मिल-जुलकर दिल बहला लेतीं। शुरू में पंजाबी भाषा न समझने की समस्या

थी मगर धीरे-धीरे प्रेम-रस ने उन मेंड़ों को काटकर एक में मिला दिया था जिससे कई दिलों के पानी का प्रवाह बढ़ गया था।

एक शाम सरदार गुरिंदर सिंह ने रामभरोसे को अकेले में बुलाया। फिर वह मुस्कुराने लगे। उसने पूछा, "सरदार जी! आपकी मुस्कान का क्या राज़ है?"

"देख रामभरोसे !मेरी ज़िंदगी तेरे भरोसे है। यार, तू चाहे तो मेरी ज़िंदगी बना दे, ना चाहे तो बिगाड़ दे।" सरदार जी ने धीरे-धीरे कहा जिससे बग़ल के पेड़-पौधे भी यह गुफ़्तगू न सुन सकें। उन्हें हवा की तेज़ गति और पत्तों की सरसराहट पर भी शक था।

"यह कैसे हो सकता है? हम लोग तो आपके अधीन रहकर मजूरी-धतूरी करते हैं। सो आप ही हम लोगों की ज़िंदगी बना या बिगाड़ सकते हैं। सरदार जी, कहीं किसी ने कुछ गड़बड़ तो नहीं की? यदि हमारे किसी आदमी या औरत से कोई ग़लती हो गई हो, तो मैं माफ़ी माँगता हूँ।" रामभरोसे ने हाथ जोड़ते हुए कहा। सरदार जी ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में थाम लिया और आहिस्ता-आहिस्ता दबाने लगे। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। कुछ साल पहले तब पंजाब में आतंकवादियों का जलवा था, उसकी याद आते ही वह डर गया। लेकिन ऐसी विपरीत परिस्थिति में वह कुछ कर भी नहीं सकता था। अब तो बकरी का गला बाघ की पकड़ में था। डर से उसकी आवाज़ मिमियाहट में बदल गई थी। उसे लगा कि मैं सचमुच बकरी बन गया हूँ। वह अपना माथा, कान, नाक, मुँह, पेट, हाथ, पैर वग़ैरह बार-बार छूने लगा। उसकी इस अजीब हरकत का पीछा सरदार जी की नज़रें करने लगीं। वह ताड़ गए और उसे सीने से लगाते हुए बोले, "क्यों रामभरोसे! तू मुझसे डर गया? मैं तो तेरा भाई हूँ, बड़ा भाई। अब बड़ा भाई छोटे भाई से कोई मदद माँगेगा, तो क्या वह मुकर जाएगा या डर जाएगा? देखो जी, मेरी घर वाली नहीं है। वह कुछ साल पहले बीमारी से मर गई।" सरदार जी यह कहकर चुप हो गए मानो तेज़ गति से चल रही गाड़ी में अचानक ब्रेक लगी हो।

"तो दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेते, सरदार जी?" रामभरोसे ने कहा।

"मगर रामभरोसे! अब कहाँ शादी! मेरे घर-परिवार में और कोई नहीं है। अब कोई औरत घर में बिठा लो । जब उसके बच्चा हो जाए तो उसे पालो-पोसो। ऐसे वह हमारी औलाद हो जाएगी। फिर वह औरत अपने घर जाए। हाँ, इसके एवज़ में मैं उसे इतनी दौलत दे दूँगा कि वह ज़िंदगी भर किसी चीज़ की मोहताज़ नहीं होगी। हमारे यहाँ इसे कुदेशन प्रथा कहते हैं..."

"सरदार जी! अजीब रिवाज है आपके यहाँ। महाभारत की द्रौपदी से भी ज़्यादा बदतर हालत होगी उस बेचारी की। जोरू को प्लास्टिक की गुड़िया मानकर उसके साथ ऐशो-आराम करो और फिर फेंक दो जैसे आजकल स्याही ख़त्म होते ही क़लम को कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है। ग़ज़ब का बाज़ार है—इस्तेमाल करो और फेंक दो। लेकिन हमारे मुल्क में ऐसा-वैसा रिवाज नहीं है वरना..." उसने कहा।

"देख, रामभरोसे भाई! तू इसे मज़ाक़ में मत टाल यार, मेरा मखौल मत उड़ा। मेरी मदद कर इसमें। यह मेरी ज़िंदगी का सवाल है।" सरदार जी ने फिर बीरबल की तरह पहेली बुझाई। रामभरोसे हँसने लगा ठठाकर। तभी टुनमुनिया ने उसे खाने के लिए ज़ोर से आवाज़ दी। उसने सरदार जी से कहा, "अभी चलता हूँ, सरदार जी! मैं नहीं पहुँचूँगा तो सारे लोग परोसा हुआ भोजन शुरू नहीं करेंगे। आपके मज़ाक़ से ख़ूब मज़ा आया। वो क्या कहते हैं, कुदेशन कि कुलच्छन? वाह रे पंजाब! हरित क्रांति खेती में ही नहीं हुई, औरतों में भी हो गई। क्यों न हो,

आख़िर औरत भी तो एक खेती ही होती है! कौन उसे सँभालकर नहीं रखता? वाह री धरती, वाह री औरत!'' और वह हाथ से इशारा करते हुए सरदार जी को विचारों के गहरे दरिया में अकेले छोड़कर अपनी राम कुटी में खाना खाने चला गया।

वहाँ जाते ही वह हँस-हँसकर सारा वाक़या सभी लोगों को सुनाने लगा। सभी लोग ठठाकर हँसने लगे मगर टुनमुनिया बिलकुल गंभीर और ख़ामोश थी। रामभरोसे ने उसकी ओर देखा, तो वह उबल पड़ी, ''ई मरद लोगन लुगाई के सिरिफ खेती समझे लें। पहिले तैयार करे लें, फिर काट ले लें। झाड़ू मारे इ रेवाज के। कवन अइसन मेहरारू होखी, जे आपन कोखी के जामल लइका के दे दी? लाखों रुपया पर हमनी के इहाँ के मेहरारू कोख न बेची। ई मरद से ऊ मरद, कवनो पतुरिये नू जा सकेले। लइका जनमावे के हमनी के कारखाना नइखी जा। मेहरारू जनावर ना होले कि बच्चा आउर दूध दुह के हटिया में केहू बेच दे।''

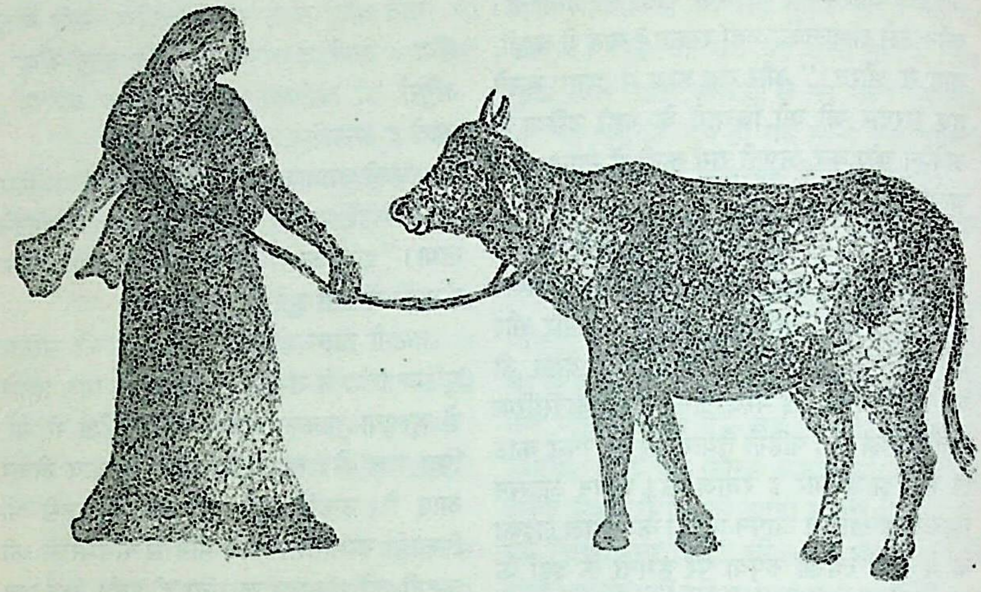
वह टुनमुनिया का रौद्र रूप देखकर अवाक् था। वह चकित था कि अनपढ़ टुनमुनिया इतनी गहरी समझ की बातें कैसे कर रही है? वह काफ़ी देर तक ग़ुस्से में थी। खाना छोड़कर वह अपने बिस्तर पर लेट गई। दूसरी औरतों के समझाने-बुझाने पर ही टुनमुनिया ने देर रात में खाना खाया। रामभरोसे रात भर सोचता रहा।

काफ़ी समय के बाद धान पक गया था। उसकी सुनहली बालें ऐसे लटक रही थीं मानो स्त्रियों के कानों की बालियाँ हों। अगले दिन वे सभी धान की कटाई में लग गए। धूप कुछ ज़्यादा कड़ी थी मगर समूह में होने तथा औरतों के कटनी गीत गाने के आगे धूप की एक नहीं चलती थी। टुनमुनिया को दर्जनों गीत याद हैं जो बुआई-निराई-कटाई के समय गाए जाते हैं। सो वह झूम-झूमकर गा रही थी और उसी रफ़्तार से वह धान के पौधे भी काट रही थी—

मति बोलूँ सैंया, रात अँजोरिया, मति बोलूँ सैंया / आवे द अन्हरिया, मति बोलूँ सैंया / अँगुरी की बिछिया है लाल आउर करिया / आवे द अन्हरिया, मति बोलूँ सैंया॥

उसकी आवाज़ का जादू रामभरोसे के सिर पर ही नहीं, सरदार जी के सिर पर भी बोलने लगा। ''इतने अच्छे-अच्छे गीत मैंने आज तक पंजाबी में नहीं सुने।''

कटनी ख़त्म होने के बाद शाम को सरदार गुरिंदर सिंह ने रामभरोसे को अपने पास इशारे से बुलाया। उनका इशारा पहले आँख से था, फिर हाथ से। वह एक थर्मस में चाय लेकर आए थे। उन्होंने ख़ुद चाय पी और उसे भी पिलाई। गरमागरम चाय पीने से रामभरोसे की कटनी की थकावट छू मंतर हो गई। फिर वह बोले, ''देख, रामभरोसे भाई! मेरी नैया तो यही टुनमुनिया है। तू उसकी गोद में मुझे बैठा दे, तो मैं तुम्हारा अहसान ज़िंदगी भर नहीं भूलूँगा। कई हफ़्तों से मैं उसके बारे में सोच-सोचकर पागल हो गया हूँ। उसे जितना ज़्यादा भूलने की कोशिश करता हूँ, उतना ही मैं अपने को उसके क़रीब पाता हूँ। मैं तेरे से पक्का वादा करता हूँ कि उसे कोई तकलीफ़ नहीं होगी। मैं उसके नाम पच्चीस हज़ार रुपए फ़िक्स्ड डिपॉजिट में जमा कर दूँगा और अनाज-पानी, कपड़ा वग़ैरह मुफ़्त देता रहूँगा। सिर्फ़ एक साल तक वह मेरे साथ ज़िंदगी गुज़ार दे और मुझे एक औलाद दे दे।'' ये शब्द रामभरोसे के दिल में बाण की तरह सीधे चुभ गए। उसका माथा झनझना उठा। जो बात वह अपने लिए टुनमुनिया से नहीं कह सका, उसे दूसरे के लिए कैसे कह पाएगा? जो दूसरी औरत के कुदेशन बनने पर बिदक गई हो, उसे ख़ुद कुदेशन बनने के लिए वह कैसे कह सकेगा? भयंकर उधेड़बुन में उसके मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला, ''सरदार जी! मैंने आपका नमक खाया है, इसलिए उसे चुकाने की कोशिश करूँगा।''



फिर वह वहाँ से चला गया। मगर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि टुनमुनिया से वह यह बात कैसे कहे। उसने सोचा—यह सुनते ही गरम तवे पर पड़ी पानी की बूँद की तरह वह छनछना उठेगी, शायद हाथापाई भी कर बैठे। सो उससे कहने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण उसने रामप्यारी से पूरी बात कह दी। उसे भी टुनमुनिया से यह सब कहने की हिम्मत नहीं हुई तो रामभरोसे ने उसकी हिम्मत बढ़ाई, "देखो! औरत ही ऐसे मामलों में दूसरी औरत को संजीदगी से समझा सकती है। मेरे कहने से उसका दर्द दुगुना हो जाएगा। शायद वह मुझे ही इस कांड का खलनायक मान ले।"

उस रात अकेले में टुनमुनिया को ले जाकर रामप्यारी ने सरदार जी की ख़्वाहिश बता दी। यह सुनते ही फनफना गई टुनमुनिया, "रामप्यारी! ई का कहत बाड़ू तू! ऊ दढ़िजरवा, सरदरवा हमरा सामने कहले रहित त मुँहवे नोच लेती। हम हाड़ तोड़िके पेट भरे खातिर मजूरी करत बानी। ओकर रखैल बने खातिर नइखे आइल। हम एको पल एइजा ना रहब। हमनी के गरीबी में एइजा आइल बानी मजूरी खातिर, देह बेचे खातिर ना!"

सुबह होने पर रामप्यारी ने रामभरोसे को सारा वाक़या सुना दिया। उसे ऐसी ही प्रतिक्रिया की आशा थी। उसने सरदार जी से अपनी असफलता बता दी। मगर वह समझने को तैयार नहीं थे। उन्होंने रामभरोसे से फिर हाथ जोड़कर चिरौरी की। वह रोज़ाना शाम को उससे इस बाबत दरयाफ़्त करते मगर रामभरोसे अभी तक एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे की स्थिति में था। उसने पाया कि सरदार गुरिंदर सिंह के चेहरे पर काई लगने से चमक धीरे-धीरे ग़ायब हो रही है। वह काम करते समय जो चुहलबाज़ी और हँसी-मज़ाक़ किया करते थे और चुटकुला सुनाते थे, वह अब अतीत का अध्याय था। सुदूर मुल्क से आई मज़दूर स्त्री को न पाने का ग़म उन्हें घुन की तरह भीतर-ही-भीतर खाए जा रहा था। सरदार जी ने क़रीब एक माह बाद फिर रामभरोसे को उस काम के लिए टोका। उसने अपनी मजबूरी

उनके सामने बयान कर दी। मगर सरदार जी ने बहुत दबाव दिया तो उसने एक प्रस्ताव पेश किया, ''सरदार जी ! आप स्वयं टुनमुनिया से अपनी बात कहिए। ज़रूरत पड़ेगी तो मैं आपकी ओर से ज़ोर दूँगा। आपके कहने का ज़्यादा असर होगा। शायद वह आपकी बातों से कुछ पिघल जाए!''

सरदार जी को थोड़ा जोश आया। अगले दिन सुबह-सुबह सरदार जी पूरी तैयारी के साथ फ़ार्म पर आए। वह ट्यूबवेल पर बैठे थे कि टुनमुनिया एक बाल्टी लेकर पानी लेने आई। सरदार जी ने उसे कौतूहल से देखा। उसने सरदार जी को घूरा और पूछ बैठी, ''का बात बा?''

''कुछ नहीं टुनमुनिया!'' सरदार जी की सीटी-सपाटी गुल हो गई। वह पानी लेकर चली गई। उसके चले जाने के थोड़ी देर बाद सरदार जी ने रामभरोसे से कहा, ''यार! यह औरत है कि आग का अंगार? इसकी बेधती नज़रों के आगे मेरी हिम्मत जवाब दे जाती है। मैं तो भूल ही गया था कि मुझे क्या कहना है?''

रामभरोसे को लगा कि सरदार जी भीतर से घायल हैं सो उसने कहा, ''आप ठहरकर दुबारा कोशिश करें। हो सकता है, कुछ बदलाव आ जाए।''

और क़रीब पंद्रह दिनों तक वह कठिन रिहर्सल करते रहे। उसके बाद एक शाम को, जब आकाश में बादल खेल रहे थे, सरदार जी ने टुनमुनिया से उसकी कोख किराए पर लेने का प्रस्ताव बड़ी सादगी और विनम्रता से रख दिया, ''देखो, टुनमुनिया! तुम इसे ज़ोर-ज़बर्दस्ती बिलकुल मत समझो। यह हमारे यहाँ का पुराना रीति-रिवाज है। अपना हिंदुस्तान तो परंपराओं का देश है। मैं तुम्हारी बहुत इज़्ज़त करता हूँ। मैं वाहे गुरु को साक्षी मानकर वचन देता हूँ कि मेरे साथ एक साल तक मेरी औरत बनकर रह जाओ और एक बच्चा जनने के बाद मैं तुम्हें वापस आने दूँगा। मैं पच्चीस हज़ार रुपए के अलावा सारा खाना-खर्चा ज़िंदगी भर तुम्हें देता रहूँगा।''

नागिन-सी फनफनाती हुई टुनमुनिया ने टके-सा जवाब दे दिया, ''सरदार जी! ई रेवाज राउर मुलुक में बा। हमरा मुलुक में अइसन मेहरारू से लोग नफरत करेलें। रंडी-रखैल केकरा के कहल जाला। हमरी जान भले जाये बाकिर अइसन काम हम ना करब। इ त अधरम बा।''

रामभरोसे ट्यूबवेल के कमरे के भीतर से सब कुछ सुन रहा था। उसे देखते ही टुनमुनिया गुस्से में बोली, ''नेता जी! सुनत बानी सरदार जी के बात। रउरा हमरा के टिकस कटा दी। अब एको पल एइजा न रहब!''

रामभरोसे बिलकुल चुप रहा। तभी सरदार जी ने घी चुपड़ते हुए कहा, ''रामभरोसे! क्या मेरी अरदास को आप दोनों ठुकरा दोगे? मैं ज़िंदगी भर के लिए इसके भरण-पोषण का इंतज़ाम कर दूँगा। आप दोनों मेरी नीयत पर शक मत करो। बस एक साल का सवाल है। समय बीतते देर नहीं लगती।''

रामभरोसे ख़ामोश रहा। टुनमुनिया भी चुप रही। काफ़ी देर तक भीतर-बाहर सन्नाटे का छंद गूँजता रहा। सरदार जी ने रामभरोसे की ओर कातर नज़रों से देखा, फिर टुनमुनिया को निहारा। टुनमुनिया की आँखें भर आई थीं। रामभरोसे की ओर देखते हुए उसने कहा, ''नेता जी! गाँव में भूख-पियास से मर जइती। बाढ़ में बह जइती बाकिर हम ना अइती। रउरे पर भरोसा रहे। काली माई के किरिया खाके कहत बानी. रउरा आग में जरे के कहब, त जर जाइब। नदी में डूबे के कहब, त डूब जाइब।'' यह कहते हुए वह चलने के लिए उठ खड़ी हुई। सरदार जी ने बड़ी बेसब्री और विनम्रता से फिर कहा, ''रामभरोसे! अब बचा लो मेरी ज़िंदगी की नैया। तुम इस मौक़े पर मुँह नहीं मोड़ो। अय्याशी नहीं, ज़रूरत के लिए मैं इसे चाहता हूँ।''

ज़मीन से उठते हुए रामभरोसे ने दबी ज़ुबान से कहा, "टुनमुनिया! सरदार जी का ख़याल रखो।"

"आउर हमार खयाल तोहरा के नइखे, नेता जी?" टुनमुनिया ने घूरते हुए ऐसा सवाल दागा कि रामभरोसे चित हो गए। वह उसका जवाब धरती से आकाश तक कहीं भी रंचमात्र नहीं ढूँढ़ पा रहा था, सो सोच की भँवर में डूबे-डूबे अचानक उसे चक्कर आ गया। टुनमुनिया अपने आँचल से उसे हवा करने लगी। वह उसके माथे पर पानी के छींटे दे चुकी थी। उसने सिसकते हुए कहा, "नेता जी राउर जिनगी से बड़ हमार जिनगी कुछ नइखे। रउरा खातिर कुआँ में कूदे में हमनी ना हिचकब।"

और एक दिन टुनमुनिया 'कुदेशन' बन गई।

अब वह सरदार जी के हवेलीनुमा विशाल घर में रहने लगी। लोगों के वापस चले जाने के बाद टुनमुनिया इतने बड़े घर में ऊबने लगी। कभी-कभी वह खो जाती। उसे अपनी टोली की याद आती, गाँव भीखनपुर की याद आती और याद आती नेता रामभरोसे की। मगर वह इन यादों की पोटली किसी के सामने नहीं खोल सकती थी। धीरे-धीरे यादों का भारी बोझ उसके दिलो-दिमाग़ पर लदा रहने लगा। उसका मन करता कि वह रामप्यारी, रामभरोसे और गाँव से आई टोली के दूसरे लोगों से मिल ले, मगर अब उसे फ़ार्म पर जाने की मनाही थी और उस टोली को सरदार जी के यहाँ आने की मनाही हो गई थी। कर्फ़्यू में दूध-भात का स्वाद भी ख़राब लगता है। अपनों से बिछड़ने का ग़म उसे बुरी तरह सताने लगा। सरदार जी उसे लेकर अमृतसर चले गए। गुरुद्वारा, स्वर्ण मंदिर, बाज़ार वग़ैरह सब जगह उसे उन्होंने घुमाया मगर उसे भीतर की शांति कभी नहीं मिली। उसने ज़िंदगी में पहली बार इतनी दौलत देखी मगर अकूत दौलत की सेज पर उसे चैन की नींद नहीं आती थी।

कई हफ़्तों के बाद सारा माजरा सरदार गुरिंदर सिंह ने समझ लिया। सो उन्होंने रामप्यारी और रामभरोसे को हर इतवार को अपने घर के बरामदे में आकर मिलने का बंदोबस्त कर दिया। सरदार गुरिंदर सिंह के मन के छोटे-से कोने में एक बड़ा चोर छिपा था, "यदि रामभरोसे अकेले आने का मौक़ा पाएगा, तो दोनों की देह में एक साथ आग लग सकती है? या दोनों कहीं भाग सकते हैं या दोनों मिलकर उसकी दौलत को नुक़सान पहुँचा सकते हैं या दोनों उसकी जान को ख़तरा पहुँचा सकते हैं। कहते हैं कि मोहब्बत और जंग में सब कुछ जायज़ है। इसलिए दोनों अलावों के बीच में चौकीदार की तरह हमेशा मौजूद रहेगी रामप्यारी।" मगर टुनमुनिया तन-मन दोनों की पक्की थी। अब उसका रामभरोसे के प्रति झुकाव मोह-माया से पूरी तरह मुक्त था।

फिर यौवन की हल्की-हल्की फुहारें टुनमुनिया के तन-मन को सींचने लगीं। उसकी पुरानी खिलखिलाहट अब वापस लौट आई। उन दोनों की ज़िंदगी में नया अंकुर फूटने लगा। तीन माह बीतने के बाद उसे बार-बार मितली होने लगी। सरदार गुरिंदर सिंह उसे डॉक्टर हरजीत कौर के पास दिखाने ले गए। डॉक्टर ने मुस्कुराते हुए कहा, "आपकी बीवी माँ बनने वाली है। सब कुछ चंगा है, सरदार जी। ये आयरन की गोलियाँ इसे नियमित रूप से लेनी है। बीच-बीच में चेकअप करा लेना कि गर्भ में बच्चे की हालत कैसी है?"

क्लीनिक से निकलते ही सरदार जी ने टुनमुनिया को अपनी बाँहों में भर लिया, उसका माथा चूम लिया और उसके पेट पर हाथ फेरने लगे। और कहने लगे, "तू मेरी हीर है। तू मेरे मन की रानी है। तू ही मेरा सब कुछ है!"

उस दिन से सरदार गुरिंदर सिंह टुनमुनिया का और ज़्यादा ख़याल रखने लगे। वह कहते,

"आहिस्ता, आहिस्ता! तू आराम कर। मैं सारे काम निपटा लूँगा। दाई तेरी मालिश भी कर देगी, तेरे कपड़े भी धो देगी, खाना-वाना सब बना लेगी वह। मेरे बाहर जाने पर भी तू कोई काम नहीं करना।" मगर वह पलंग तोड़ते-तोड़ते थक जाती। टी.वी. देखते-देखते ऊब जाती। सो वह घर के सामने के बाग़ और फुलवारी में टहलती, फुदकती हुई तितलियाँ देखती, हवा में झूलती डालियाँ देखती, पत्तों की सरसराहट सुनती, फूलों की सुगंध सूँघती, कलियों की नींद परखती, मिट्टी से निकलते नए अंकुरों को निहारती, आकाश की ऊँचाई की तरफ़ ताकती रहती और क्षितिज के उस पार जाने का दिवास्वप्न देखती रहती। कभी-कभी वह पेट के बढ़ते आकार को देखकर ख़ुश हो जाती कि एक दिन उसकी अपनी संतान इस दुनिया में आ जाएगी और उसे माँ कहेगी।

और एक सुबह उसने एक नर्सिंग होम में बेटे को जन्म दिया। गुरिंदर सिंह ने पहले से ही उसका नाम सोच लिया था—'राजपाल'। राजपाल ने आते ही गुरिंदर सिंह की ज़िंदगी के चमन में बेपनाह ख़ुशबू चारों ओर बिखेर दी।

सरदार गुरिंदर सिंह ने बेटे के जन्म पर अच्छा-ख़ासा जलसा किया। सभी लोगों ने राजपाल की बलइयाँ लीं और टुनमुनिया एवं गुरिंदर सिंह को दिल से बधाई दी। उस दिन रामभरोसे और रामप्यारी के अलावा टोली के सभी लोग जलसे में शरीक हुए थे और सबने छककर दावत खाई थी। दाई ने राजपाल की सेवा तन-मन से करनी शुरू कर दी। वह टुनमुनिया की भी तेल-फुलेल से मालिश करती। वह राजपाल को नहलाती-धुलाती, उसका गू-मूत सब साफ़ करती। उसके लिए एक पालना सरदार जी ने ख़रीद लिया था। टुनमुनिया जब उसे स्तन-पान कराती, तो उसे एक विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव होता। उसे लगता कि काश यह सुख उसे पहले मिलता। वह राजपाल को दिन में कई बार चूमती-चाटती। वह ख़ुद भूल गई थी कि एक दिन उसे ये सब त्याग देने हैं। जब वह क़रीब छह माह का हो गया तो तरल खाद्य-पदार्थ खाने लगा। सो एक दिन सरदार गुरिंदर सिंह ने उससे कहा, "मैं नहीं चाहता कि तू यह घर छोड़कर चली जाओ। लेकिन मेरी-तेरी क़रार एक साल की थी और अब सोलह-सत्रह महीने हो गए हैं। मेरी ओर से ये हैं पच्चीस हज़ार रुपए। जो कुछ तुम्हें चाहिए, मुझे बता दो।"

मगर टुनमुनिया कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थी। वह राजपाल के पालने की ओर टुकुर-टुकुर देख रही थी। उसे कभी अपने क़रार की याद आती, कभी टोली के लोगों के चेहरे सामने घूमने लगते और कभी राजपाल की किलकारियाँ याद आतीं। उस दिन उसने कोई जवाब नहीं दिया। मगर वह रात भर बेचैन रही—नींद उसकी आँखों से भागकर गुरिंदर सिंह की आँखों में समा गई थी। और राजपाल को क्या पता था?

सुबह चाय-नाश्ता करने के बाद सरदार गुरिंदर सिंह अपने फ़ार्म पर गए। वहाँ उन्होंने रामभरोसे को क़रार की याद दिलाई, तो उसने कहा, "हाँ, हाँ, मैं तो भूल ही गया था कि आपका और टुनमुनिया का क़रार ख़त्म हो गया है। आपको अपनी दौलत का वह वारिस मिल गया है जिसकी आपको बरसों से तलाश थी।"

इस बातचीत के बाद दोनों सरदार जी के घर की तरफ़ चल पड़े। रामभरोसे को लग रहा था कि एक बार टुनमुनिया के वापस लौटने के बाद उसकी टोली आबाद हो जाएगी, उसमें पुरानी रौनक लौट आएगी। घर पहुँचने पर सरदार जी ने कहा, "क़रार के मुताबिक ये रहे पच्चीस हज़ार रुपए। तेरे कपड़े-गहने वग़ैरह मैंने संदूक़ में रखवा दिए हैं। खाने-पीने की चीज़ें ट्रैक्टर से चली जाएँगी। मैं तेरा एहसान ज़िंदगी भर नहीं भूलूँगा, निर्मल। कभी किसी चीज़ की ज़रूरत

हो तो मुझे याद करना। बंदा हर हालत में ख़ुशी-ख़ुशी हाज़िर रहेगा।"

"ई पइसा रउरे राखीं, सरदार जी! ऊ लइका के काम आई। हमनी के आपन कोख बचाए खातिर जान दे देब। हमार देह रउरा काम आ गइल, इहे जिनगी के मोल बा। हाथ जोरि के एक ही निहोरा बा कि जब तक हम एइजा रहत बानी, भर नजर लइकवा के देखे पर रोक मत लगाइब।" और सरदार जी ने इस पर हामी भर ली।

फिर सरदार जी ने रामभरोसे, टुनमुनिया और उसके सारे सामान को ट्रैक्टर पर लादकर फ़ार्म तक पहुँचा दिया। टुनमुनिया अपने लोगों से मिलकर ख़ूब रोती रही। वह रामप्यारी और दूसरी औरतों से अपने सोलह-सत्रह महीनों के अनुभवों को देर रात तक बाँटती रही। देर रात तक आपस में बातें होती रहीं। फिर खाना बना और सबने मन भर खाया। रात में सोते समय टुनमुनिया की छाती में ढेर सारा दूध उतर आया। उसने अपनी समस्या रामप्यारी को बताई। फिर उसने अपना दूध एक कटोरी में निकालकर छप्पर के ऊपर रख दिया। रामप्यारी ने उसके ब्लाउज़ के भीतर एक गमछा कसकर बाँध दिया जिससे अब दूध बाहर नहीं आए। मगर टुनमुनिया राजपाल के बिना अधीर हो गई। उसकी यादों ने उसकी नींद ग़ायब कर दी। मगर उसके पास सिसक-सिसककर रोने के अलावा कोई चारा नहीं था।

सुबह रामप्यारी ने रामभरोसे को सारा वाक़या सुना दिया। वह भी कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पा रहा था। दिनभर रामभरोसे, रामप्यारी, टुनमुनिया तथा दूसरी औरतें बेचैन रहीं। तीसरे दिन उसकी हालत ख़राब होने लगी। सो शाम को रामप्यारी बिना रामभरोसे से पूछे टुनमुनिया को लेकर सरदार जी के घर चली गई। जब दोनों पैदल चलकर वहाँ पहुँची तो शाम ऊँघने लगी। दाई ने राजपाल को खिला-पिलाकर पालने में सुला दिया था। शायद सरदार जी पड़ोसी के घर किसी काम से चले गए थे। सो टुनमुनिया सुखद आश्चर्य देने के लिए चुपके-चुपके घर के अंदर घुसी और आहिस्ते-से राजपाल के पास पहुँचकर उसे टुकुर-टुकुर निहारने लगी। वह नींद में मुस्कुरा रहा था। शायद कोई अच्छा सपना देख रहा था। टुनमुनिया ने अपने दाहिने हाथ से उसे सहलाया और उसका माथा चूमने लगी। माँ का स्पर्श पाकर राजपाल किलकारियाँ मारने लगा। तभी अचानक दाई वहाँ आ गई। उसे लगा कि वह राजपाल को चुराने के लिए आई है। वह ज़ोर से चीख़ी, "दौड़ो, सरदार जी! टुनमुनिया..."

और क्षणभर में सरदार गुरिंदर सिंह हाँफते हुए घर के भीतर पहुँच गए। टुनमुनिया की ओर दाई ने इशारा किया। अँधेरे में खड़ी टुनमुनिया को देखकर सरदार जी आग बबूला हो गए, "हरामज़ादी! तूने मेरे बेटे को चुराने की हिम्मत कैसे की? इसीलिए तूने पैसे नहीं लिए! अच्छा नाटक कर लेती है तू! देने पर रक़म नहीं लेती और चुपके-से मेरा भविष्य, मेरी ज़िंदगी चुरा ले जाना चाहती है। इसीलिए तू अपने साथ रामप्यारी को भी लाई है जिससे तुम दोनों एक कमज़ोर दाई से निपट लो। इसीलिए रात का समय चुना तूने।"

टुनमुनिया को काटो तो ख़ून नहीं। सरदार जी ग़ुस्से से काँप रहे थे। उन्होंने टुनमुनिया को चार-पाँच थप्पड़ जड़ दिए। वह फूट-फूटकर रोने लगी। यह आवाज़ सुनकर राजपाल ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। टुनमुनिया रोते हुए उसे उठाने के लिए बढ़ी। मगर सरदार जी ने टुनमुनिया को उसे छूने नहीं दिया। उन्होंने डाँटा, "मत छुओ मेरे लाड़ले को। तुम्हारे छूने से उस पर पाप चढ़ जाएगा। भाग जा मेरे घर से!" फिर उन्होंने टुनमुनिया का झोंटा पकड़कर घसीटते हुए बाहर निकाल दिया और फटाक् से दरवाज़ा बंद कर लिया। रामप्यारी ने टुनमुनिया को उठाया और

सहारा देकर धीरे-धीरे चलने लगी। अब रोने में रामप्यारी उसका साथ दे रही थी। तब टुनमुनिया फूट-फूटकर रोने लगी। उसके मुँह से निकला, ''हाय भगवान! हाय रे करम! इ कोखी के कवन दोख भइल जे इ दिन देखइला, भगवान! इ कोखिया, इ दुधवा के इहै मोल मिलल? पथरा गइल छाती फाटत काहे नइखे भगवान!'' यह कहते-कहते और आँसू पीते-पीते टुनमुनिया बेहोश हो गई।

उसकी बेहोशी से घबरा गए सरदार जी। वे उसे ट्रैक्टर पर लादकर डॉक्टर के पास ले गए। साथ में रामप्यारी भी थी। रास्ते में उन्होंने रामभरोसे को भी साथ ले लिया। रामभरोसे पूरा वाक़या सुनकर तमतमा उठा। मगर उसे पहले टुनमुनिया की जान बचानी थी। इलाज होने से सुबह तक टुनमुनिया ठीक हो गई। अस्पताल से डेरा वापस आने के बाद पूरी टोली में सरदार जी के ख़िलाफ़ ग़ुस्सा उबल पड़ा। रामभरोसे ने सबकी सहमति से तय कर लिया कि अब सरदार गुरिंदर सिंह के फ़ार्म पर काम करना और रहना मुमकिन नहीं।

अगले दिन रामभरोसे ने बिना लाग-लपेट के सरदार जी को वह सामूहिक फ़ैसला सुना दिया। सरदार जी ने उससे बहुत चिरौरी-विनती की और माफ़ी भी माँगी मगर वह टस-से-मस न हुआ। टुनमुनिया की ऐसी दुर्गति के लिए वह अपने को भी गुनहगार मानने लगा। मगर बहुत सोच-विचारकर उसने सरदार जी की एक बात मान ली—विदाई की दावत लेना।

दावत के लिए सरदार जी ने नाना प्रकार के पकवान बनवाए। रामभरोसे की पूरी टोली ने छककर खाया। टुनमुनिया कुछ भी नहीं खा रही थी। सो सरदार जी ने उससे हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी और खाने की विनती की। राजपाल को अंतिम बार देखने की शर्त मान लिए जाने पर उसने अपना कौर उठाया। छोले-भटूरे खाने के बाद फिर सरदार जी के इशारे पर एक नवयुवक सरदार ने उसे एक कटोरी खीर खाने को दी जिसमें काजू, किसमिस, छुहारा, बादाम आदि मेवे पड़े थे। उसने बड़े चाव से वह खाई।

कहने को जब भोर हुई तो टोली के सभी लोग अन्यत्र जाने की तैयारी करने लगे। मगर टुनमुनिया अभी भी सो रही थी। शायद वह राजपाल को पाने का सुखद सपना देख रही थी। रामभरोसे के बार-बार कहने पर रामप्यारी ने उसे झकझोरा। मगर टुनमुनिया की नींद नहीं खुली और राजपाल को अंतिम बार देखने की उसकी इच्छा धरी की धरी रह गई। पूरी टोली चिल्ला-चिल्लाकर और छाती पीट-पीटकर मातम मनाने लगी। रामभरोसे अपनी मुट्ठियाँ भींचने लगा। फिर कुछ देर बिसूरकर वह पुलिस थाना की ओर दौड़ा।

अक़ील क़ैस

तिर्यक रेखा

वो दहशत भरी स्याह रात कई सालों के बाद मेरे अवचेतन में अचानक फिर रेंग आई थी। मगर इस बार उसका रंग कुछ अलग था। अब्बा थैले और गठरियों से लदे-फदे तेज़ चाल से हम सबसे आगे-आगे चले जा रहे थे। बीच-बीच में वे पीछे मुड़कर हमें साथ आने का इशारा-सा करते जाते। अम्मा ने भी सामान उठा रखा था। कुछ अधिक नहीं, पर वे हाँफने लगी थीं। उनकी उँगलियाँ पकड़े मुन्ना, रुशी और सिम्मी की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी। मैं ज़रा-सा बेहतर स्थिति में रहा हूँगा, पर हमारे इर्द-गिर्द पसरा अँधेरा, लोमड़ों और सियारों के रोने का शोर, बीच-बीच में कुत्तों के भौंकने की आवाज़ और सबसे अधिक जुनूनी हत्यारों के हाथों पकड़े जाने का आतंक हम सबके दिलों में धुआँ बनकर समाया था। अब्बा को पूर्वानुमान हो गया था कि स्थिति तेज़ी से बिगड़ रही है और दंगा किसी समय भी शुरू हो सकता है। गाँव ही नहीं पूरा इलाक़ा ही जैसे किसी टाइम बम पर बैठा था।

अब्बा जैसे तैसे कुछ ज़रूरी सामान इकट्ठा कर हमारे साथ बाहर निकल आए थे। घर के पिछवाड़े से खेत-नाला पारकर हम बारू बाग़ में घुस आए थे। परसा नदी के समानांतर शहर की तरफ़ जाने वाले रास्ते पर पहुँचते-पहुँचते रात का आख़िरी पहर बीत चुका था और स्लेटी उजास हमारे चारों ओर उतर आया था जिसमें हमारे आसपास के पेड़-पौधे, मैदान, खेत आकार लेने लगे थे। उस इकहरी सड़क पर आते ही अब्बा बार-बार पीछे मुड़कर देखने लगे थे। उनकी उम्मीद बस का रूप धारकर न जाने कब पीछे से हमारे पास आ खड़ी हुई। अब्बा और हम सब जैसे-तैसे उसमें सवार हो गए। उसमें हमारे जैसे और भी मुसीबतज़दा लोग सहमे बैठे थे। यूँ भागते हुए हमारे दिलों का ख़ौफ़ कम नहीं हो रहा था। हर पल दूभर मालूम हो रहा था। लगता था दंगाई हमें पकड़ लेंगे। हुआ भी यही। सामने से गुर्राते-चीख़ते लोगों का एक गोल अचानक प्रकट हो बस की ओर लपका और बस के रुकते ही ऐंठे चेहरे वाले ख़ूँख़्वार, डरावने लोग धड़ाधड़ ऊपर चढ़ आए। उनके मुँह से गालियाँ झाग बनकर उड़ रही थीं। अचानक वे अपने सामने पड़ने वाले लोगों को पकड़कर नीचे यूँ फेंकने लगे जैसे वे

अक़ील क़ैस का जन्म 1965 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : द्वारा श्री योगेश कुमार, जी-53, श्रीनिवासपुरी, नई दिल्ली-110065, फ़ोन : 23019135, मो : 9818405053

क़ुली हों और गाड़ी के खुल जाने से पहले सामान उतार लेने की जल्दी में हों। बस से नीचे धकेले गए लोगों के नीचे आते ही नीचे खड़ी भीड़ उनके पेट और गर्दनों पर अपने छूरे और ख़ंजरों की धार नापने लगे और बस में और बस के बाहर कर्बला का समाँ बँध गया। हाथ लगते ही पकड़े जानेवाले जवान और बूढ़े मर्द, औरतें और बच्चे-सब सूखे पत्ते-सा काँपने लगते और जिबह होते जानवर की तरह गले से फँसी-फँसी आवाज़ निकालने लगते। अभी हम सब अपनी-अपनी सीटों के पीछे छुपने की नाकाम कोशिश करते उन भयावह क्षणों के गुज़र जाने की दुआ करने में लगे थे कि अम्मा चीख़ उठीं। हमलावर अब्बा को घसीटते बाहर लिए जा रहे थे। मुन्ना, रुशी और सिम्मी के साथ अपनी लाचार और असहाय स्थिति पर मैं भी फूट-फूटकर रो पड़ा।

''सोहराब! सोहराब!'' कानों में इस आवाज़ के साथ ही लगा मुझे कोई झिंझोड़ रहा है, मैं हड़बड़ा कर जागा।

मेरे बराबर लेटे संजर ने पूछा, ''क्यूँ नींद में रोए जा रहा है?''

जागने पर स्वयं को बच्चे की तरह सुबक-सुबक कर रोते देख मैं झेंपने लगा। पर सपना अपने पूरे प्रभाव के साथ मेरे मन पर जमा हुआ था। यही सपना कमोबेश इन्हीं दृश्यों के साथ मुझे परेशान करता रहा था। ख़ासकर उन दिनों जब हम दंगा शुरू होने के पहले ही अपने गाँव से भाग खड़े हुए थे और दूसरे शहर गया में अपने रिश्तेदारों की मदद पर आश्रित जीवन जीने लगे थे। पर अब्बा के दंगाइयों के हत्थे चढ़ जाने की बात आज के सपने में नई थी। मैं अब्बा की कुशलता को लेकर परेशान होने लगा। आख़िर यह नई बात सपने में आई क्यों? यह किसी दुखद घटना का पूर्वाभास तो नहीं था! यूँ उन भयावह दृश्यों को मैं सपने के अतिरिक्त जागते हुए भी जीता रहा था। बाबा ने जब मार्च 1947 में मुलतान के भोर दरवाज़ा में माहौल के एकदम बिगड़ जाने पर अपनी बीवी, दो बच्चियों और एक जवान बहन को साथ लिए हिंदुस्तान का रुख़ किया था तो रास्ते में बलवाइयों से उनकी भी भयानक मुठभेड़ हुई थी। संयोगवश सेना की गाड़ी वहाँ ऐन वक़्त पर पहुँच गई। इस अफरा-तफरी में जब दंगाई घटनास्थल से भागे तो बाबा ने देखा कि दूर उनकी बहन को घसीटता कोई लिए जा रहा है। धीरे-धीरे धुँधलके में खो गई बहन का दृश्य सूक्ष्म विवरणों के साथ उनके अंदर आज भी जीवंत था। वे जब कभी मुझे वह घटना बताते, उनकी आँखें दुख से नम तथा क्षोभ और नफ़रत से पैनी हो उठतीं और उनकी आवाज़ में लरजिश तैर आती। वे उन दृश्यों को आहिस्ता-आहिस्ता बयान करते जाते और मैं उनकी संवेदनाओं को अपने भोगे दृश्यों में जीता जाता। बाबा से नैकट्य की अनुभूति जगाने में इन क्षणों में उपजी संवेदनाओं का बड़ा हाथ था।

मैंने घड़ी पर नज़र दौड़ाई। सुबह के छह बजे थे। जाड़े का मौसम। बाहर सड़क पर चहल-पहल नहीं हुई थी। रात काम करके तीन बजे लौटा था। सूट-पैंट और कोट के ऑर्डर की भरमार थी और उन्हें जल्द पूरा करना ज़रूरी था। नींद पूरी न होने से सिर भाँय-भाँय कर रहा था। मैंने अपशकुन की सारी आशंकाओं को टालते हुए कंबल से स्वयं को अच्छी तरह लपेटा और लेटकर सोने की कोशिश की। पर दूसरे ही क्षण मोबाइल बज उठा।

संजर फिर बोल उठा, ''ले, अब तेरा मोबाइल रोने लगा। क्या हो रहा है आज?''

मेरा दिल धक से रह गया। ख़ुदा ख़ैर करे! पता नहीं किसकी जान पर मुसीबत उतरी है। मैंने फ़ोन उठाकर देखा। दिल्ली का नंबर देख मुझे कुछ राहत हुई। दूसरी ओर कृष्णा थी। किसी बूथ से फ़ोन कर रही थी शायद। चकित भाव से मैंने प्रश्न किया, ''बोलो, मैं सोहराब बोल रहा हूँ!''

दूसरी ओर कुछ क्षण चुप्पी में कट गए। मैं आशंकित होने लगा, "बोलो भी क्या बात है?"

उधर से भर्राई-सी आवाज़ सुनाई पड़ी। "सोहराब, नाना जी नहीं रहे!" वह बोली।

"सुबह चार बजे वे आदतन उठे भी थे, तब हम सब सोए हुए थे। जब मैं जागी और चाय के लिए उन्हें पूछने गई तो वे गुज़र चुके थे।" कृष्णा बता रही थी।

मुझसे आगे कुछ बोला नहीं गया। कृष्णा ने ही बात आगे बढ़ाई, "सोहराब, तुम आ जाओ। तुम्हारा यहाँ आना ज़रूरी है।"

"क्यों, मैं तो कह चुका हूँ कि मुखाग्नि मैं नहीं डालूँगा।" कृष्णा सामने न होने पर भी मेरे मनोभावों को पढ़ रही थी। लाजपत नगर का वह फ़्लैट जिसमें बाबा रहते थे और जिसमें उनके सान्निध्य में मैंने आठ-नौ साल, चाहे कुछ व्यवधान के साथ ही बिताए थे, अचानक मुझे कुछ पराया-सा लगने लगा था और वहाँ जाने की इच्छा मुर्दा होने लगी थी।

"तुम यहाँ आ जाओ। नाना जी ने तुम्हारे जाने के बाद मुझे तुमसे कुछ कहने के लिए कहा था।" कृष्णा की आवाज़ में स्थिरता लौट रही थी।

"क्या?" कुतूहलवश मैंने पूछा।

"फ़ोन पर नहीं बता पाऊँगी, तुम यहाँ आ जाओ।" उसने इसरार किया।

"ठीक है।" मैंने प्रतिरोध छोड़ दिया और मोबाइल बिस्तर पर डाल दिया।

"तेरा वो बूढ़ा बाबा गुज़र गया क्या? उसकी तबीअत ख़राब थी तो रात तू काम पर क्यों आया?" संजर जो बड़ी देर से चुपचाप हमारी बात सुन रहा था, बोल उठा।

"तबीअत कहाँ ख़राब थी? अचानक पता नहीं कैसे यह सब हो गया!" मैंने जवाब दिया।

तैयार होकर बाहर निकलने से पहले तक मैंने सोचा था कि अपने स्कूटर से चला जाऊँगा। पर तुरंत ही लगा कि इस समाचार के बाद की मनःस्थिति में स्कूटर चलाना शायद सुरक्षित नहीं रहेगा। बाबा से जुड़ी यादें टुकड़ों में मन पर झपट्टा मार रही थीं। तैयार होने में इस कारण ज़रूरत से ज़्यादा समय लग गया था। सड़क पर आते ही सब स्टैंड के पास एक ख़ाली ऑटो मिल गया।

ऑटो में बैठते ही मुझे पिछली शाम की बात याद आ गई। बहुत पहले ही मैंने बाबा से आपसी रिश्ते की बाबत स्पष्ट कर दिया था कि अपने-अपने धार्मिक विश्वास को हम एक-दूसरे पर थोपेंगे नहीं। हमारे धार्मिक संस्कारों में विरोध तो था ही तब बाबा ने कहा था कि वे भी ऐसा ही मानते हैं और हम इंसान के तौर पर आपसी संबंध रखेंगे। तुम अपना धर्म मानो और मैं अपना धर्म। अब इधर कई दिनों से वे मुझे अपने मरने पर मुखाग्नि देने का आग्रह करने लगे थे और मेरा संस्कारबद्ध विवेक इस बात को स्वीकार नहीं कर रहा था। मुझे यह भी शंका होने लगी थी कि बाबा मेरे साथ अपने बेहद आत्मीय संबंधों का इस्तेमाल कर मुझ पर अपने संस्कार थोपना चाहते हैं और इससे मेरे मन में विरोध पैदा हो गया था। यूँ एक मोर्चा उन्होंने बहुत पहले से खोल रखा था जिसे लेकर मेरे मन में शुरू से ही गाँठ रही थी। वह यह कि उन्होंने मुझे मेरे अपने नाम से कभी नहीं बुलाया। सौरभ कहते थे वे मुझे। इस संबंध में मेरी आपत्तियों को उन्होंने दरकिनार कर दिया था। उनके प्रति अपनी सारी श्रद्धा के बावजूद यह बात मेरे मन में एक फाँस-सी लगा गई थी।

पिछली शाम जब मैं रोज़ाना की तरह उनसे मिलने गया था तो मैंने उन्हें बताया था कि हवन की सारी तैयारी हो चुकी है। पंडित भी मैंने ठीक कर लिया था। दरअसल पिछले बीस-एक दिन से मैं बाबा की इच्छा पूरी करने के लिए हवन का प्रबंध करने में जुटा था। जिसमें

उनके सारे नज़दीक और महत्त्वपूर्ण संबंधियों को बुलावा भेजा गया था। मैं और कृष्णा निमंत्रण-पत्र लिखते-लिखते थक गए थे। फिर पूरे घर की सफ़ेदी और सफ़ाई में भी हम जुटे रहे थे। बाबा का प्लान था कि हवन के कार्यक्रम के बाद वकील से वे अपनी वसीयत भी लिखवा लेंगे। एक वकील से मेरी जान-पहचान थी और इस बात के लिए वह राज़ी हो गया था। कृष्णा और मेरी मेहनत का नतीज़ा भी आने लगा था। उसकी माँ तो पहले से यहाँ थी। पर बाबा की दो अन्य बेटियाँ अपने-अपने पति और बच्चों के साथ आ गई थीं। उनके दामाद और शायद बेटियाँ भी इस अहम् अवसर पर अपनी उपस्थिति ज़रूरी समझती थीं। हवन में शामिल होने के लिए कुछ रिश्तेदार भी पहुँचने लगे थे। बाबा पूरी तैयारी में थे। कुछ महीने पहले जब उनकी पैर की हड्डी टूटी और फिर डॉक्टर के हाथों हड्डी जुड़वाने के लिए उन्हें जिस यंत्रणा से गुज़रना पड़ा और उनका शरीर जितना शिथिल और अशक्त पड़ गया था उसके बाद से ही वे अपने जीते जी इन कामों से मुक्त हो जाना चाहते थे।

पिछली शाम मुझसे बातें करते हुए उन्होंने अचानक कहा था, ''पुत्तर, तूने मेरी बड़ी सेवा कित्ती है। मेरी जो जायदाद है उस विच तुहाडा वी कुज हिस्सा है। मैं तुहाडे वास्ते वी कुज रखणा चाओंदा हाँ।''

उनकी यह बात आसपास बैठे उनके दामादों को पसंद नहीं आई थी; यह उनके चेहरे पर आते, लुप्त होते रंग से स्पष्ट था। बेटियों के चेहरे पर भी एक सपाटपन व्याप्त था जिससे उनकी प्रतिक्रिया का अनुमान लगा पाना कठिन था। मुझे यह जानने की उत्सुकता भी नहीं थी। बाबा के पास ले-देकर लाजपत नगर का फ़्लैट ही तो था बाँटने के लिए। बैंक खातों में कुल मिलाकर दो-सवा दो लाख रुपए होंगे जिन्हें उन्होंने अपनी ज़रूरतों को टाल-टालकर जोड़ा था। पर इन सब पर उनकी बेटियों का हक़ बनता था। मेरे मन में लेश मात्र भी उनकी संपत्ति में से कुछ पाने की लिप्सा न थी। मुझे लगा कि कहीं वे यह न समझ लें कि उनकी मेरे रिश्ते की बुनियाद में ऐसा कोई लालच है। मैंने तुरंत उनकी बात काटकर कहा, ''बाबा, मुझे आपके अलावा कुछ नहीं चाहिए।''

''वो तो खैर छोड़ दे पुत्तर! मेरा जो दिल करदा ए, मैं ओइ ही करूँगा। मैं तुहाडी कोई गल नहीं सुणूँगा।'' वे बोले और आँखें बराबर करते हुए, पर उसमें याचना का पुट लाते हुए बोले, ''मैं सारेयाँ दे सामणे कैंदा हाँ कि मेरे मरने तों बाद मेरा अग्नि संस्कार सौरभ के द्वारा कित्ता जावे!''

''न, न! मैं मुखाग्नि नहीं दूँगा। मुझे तो बख़्श ही दो बाबा!'', मैंने निगाहें दूसरी ओर हटा लीं।

मुझे लगा बाबा मुझे मेरे कमज़ोर क्षणों में पकड़ना चाहते हैं और मैं ऐसा कोई अवसर उन्हें देना नहीं चाहता था। धर्मों के बारे में मेरी सोच और अनुभव ने एक निष्कर्ष बना लिया था। राम-रहीम सब एक हैं। विभिन्न धर्माव-लंबियों में एका लाने के लिए यह एक बेहद वाहियात-सा विचार मालूम होता था। धर्म तो समांतर रेखाओं की तरह हैं और उनका कोई मिलन बिंदु नहीं। हम इस वास्तविकता को स्वीकारते हुए कि हमारे रास्ते, हमारे संस्कार में अंतर है, क्या शांतिपूर्वक साथ नहीं रह सकते? अगर मेरे भाई को वो चीज़ पसंद नहीं जो मुझे है तो इसमें टकराव का औचित्य कहाँ बनता है!

बाबा ने अपनी ज़िद नहीं छोड़ी थी। बोले, ''मैं जानता हूँ पुत्तर कि तू नहीं चाहेगा कि तेरा बाबा एक अपूर्ण इच्छा का दंश लिए मरे। मेरी मुखाग्नि की रस्म सौरभ ने ही करनी है।''

''ओफ़्फ़ो! सौरभ, सौरभ की आपकी रट कब ख़त्म होगी?'' मैं अचानक चिढ़ गया था, ''आप मुझे मेरे असली नाम से कब बुलाएँगे? बाबा,

अब मैं भी साफ़ बता देता हूँ कि जब तक आप मुझे सोहराब नाम से नहीं बुलाएँगे मैं आपकी यह बात नहीं मानूँगा!'' बाबा की बचकानी ज़िद से उपजी उत्तेजना के बावजूद मैंने जान-बूझकर शर्त लगाई ताकि मुखाग्नि की रस्म पूरी करने से बच सकूँ।

हमारी गंभीर नोक-झोंक मोबाइल बजने से रुकी। वकील साहब के सहायक का फ़ोन था। उसने अचानक आ गई अपनी कुछ अतिरिक्त व्यस्तता के कारण वसीयत लिखने के लिए आने का कार्यक्रम स्थगित करने को कहा था। फ़ोन के चुप होते ही मैंने उनकी बात बाबा को बता दी। बाबा यह सुनकर चिंतित-से हो गए। उनसे विदा होकर जब मैं रात वर्कशॉप के लिए रवाना हुआ तब तक कई बार उन्हें मैंने कहते सुना कि यह अच्छा नहीं हुआ।

मैंने उनकी इस उद्विग्नता को कोई विशेष अहमियत नहीं दी। नौ बजे वर्कशॉप पहुँचकर मैंने अपने मोबाइल का स्विच ऑफ़ कर दिया ताकि पूरी तन्मयता से अपना काम कर सकूँ।

आगे सड़क पर कोहरे और धुएँ के बादल इधर-उधर फैल रहे थे। ऑटो रिक्शा वाले ने गाड़ी धीमी कर दी थी। ''ज़रा सँभल-सँभलकर चलना।'' मैंने उसे चेताया।

यादों से पुनः मन धुआँ-धुआँ-सा होने लगा। बाबा से मैं अपनी पहली मुलाक़ात के बारे में सोचने लगा। अब सोचता हूँ तो यूँ लगता है कि नियति ने पहले से यह तय कर रखा था। बाबा एक चक्रवात थे जिसकी प्रभाव-परिधि में सूखे कमज़ोर पत्ते-सा चक्कर खाता मैं उसके केंद्र की ओर खिंचा चला आया और बस उसी चक्र में घूमता रहा।

दसवीं मैंने तेरह की उम्र से पास कर ली थी। पर प्रमाण-पत्र में मेरी उम्र दर्ज हुई पंद्रह साल। पढ़ने में होशियार था मैं। अपने शिक्षकों की प्रशंसा और प्रोत्साहन बटोरता दोहरी प्रोन्नति लेता समय से कुछ पहले ही दसवीं में आ गया था। अब्बा को समझा-बुझाकर उम्र बढ़ा लेने की सलाह दी थी मास्टरों ने।

गाँव से उखड़कर अब्बा ने नए शहर में किराने की एक छोटी-सी दुकान खोल ली थी। दुकान जिस मुहल्ले में थी वहाँ रिक्शेवाले और मज़ूरे बड़ी तादाद में रहते थे। अब्बा की दुकान से रोज़ाना वे ज़रूरत भर चावल-दाल आटा आदि ख़रीदते रहते। इस तरह हमारी दाल-रोटी का जुगाड़ भी हो जाता था। पर उससे ज़्यादा की उम्मीद उस दुकान से बाँधना संभव न था। यह बात तब मेरी खोपड़ी में घुसी जब अम्मा ने इंटर में दाख़िले के ख़र्च के साढ़े तीन सौ रुपए देने से इनकार कर दिया और अब्बा ने उस फ़ैसले की पुष्टि में बड़ी बेचारगी भरी ख़ामोशी ओढ़ ली। पढ़ाई-लिखाई के जादुई संसार में विचरने का मेरा सारा उत्साह भरभरा कर गिर गया।

दो बेटियों और दो बेटों का परिवार निबाहने में ही अब्बा हाँफने लगे थे। अम्मा चाहती थीं कि कोई काम सीखकर मैं घर की आय में कुछ जोड़ूँ। इसके लिए सबसे पहले उन्होंने मुझे इस्हाक चचा की स्वेटर बुनाई की दुकान में रखवा दिया। ऊन के लच्छों को खोलकर दिनभर गोले तैयार करने के रोज़ाना पाँच रुपए मुझे मिलते थे। ये रुपए शाम को मेरे घर पहुँचते ही अम्मा के आँचल के छोर में सिमट जाते। अम्मा ने जल्द ही वहाँ से मुझे हटवा दिया क्योंकि एक तो यह धंधा मौसमी था और दूसरे इस हुनर के सहारे मेरी तरक़्क़ी की संभावनाएँ उन्हें नहीं दिखती थीं। मैं अपने एक मामू जान की टेलरिंग की दुकान में काम सीखने के लिए लग गया। मामू जान की कटिंग का शहर में बड़ा नाम था और अधिक तड़क-भड़क नहीं होने पर भी अच्छी फ़िटिंग की चाहत रखने वाले उनके नियमित ग्राहक थे। मामू जान अम्मा के सगे भाई न थे पर

अम्मा से अपनी सगी बहन से भी ज़्यादा स्नेह रखते थे। उनके कोई संतान न थी। लगभग दो साल उनकी संगत में मैं रहा। इस दौरान बड़े प्यार से ठोक-पीटकर उन्होंने मुझे कटर बना दिया और उसकी बारीकियाँ यूँ समझा दीं कि कमसिनी में ही जीवन से उलझ पाने का कुछ भरोसा आ गया था। पर हुआ यह कि मामू जान एक दिन अचानक दुनिया छोड़ गए। उनकी कोई संतान तो थी नहीं। दुकान यूँ ही बिक गई और मेरे भटकाव के दिन शुरू हो गए। दूसरी दुकानों में पगार को लेकर मेरा मन जमा नहीं। थोड़े समय के लिए मेरा इस धंधे से नाता टूट गया। फिर कुछ दिनों के लिए चलती ट्रेन से माल उतारने वाले झीलकटवों के जोखिम भरे अपराध का रास्ता अपना लिया। पर इसकी भनक लगते ही अम्मा ने रोना-पीटना लगा दिया। घर में तिरस्कार और तनाव से मेरा जीना हराम हो गया। आख़िरकार मैंने पुनः इस्हाक चचा की शरण ली। अपनी मशीन की मरम्मत और कुछ ख़रीदारी के लिए वे अकसर दिल्ली आते रहते थे। मैंने उनके हाथ पकड़ लिए कि वे किसी तरह मुझे दिल्ली पहुँचा दें। मैंने दिल्ली में अपना भाग्य आजमाने का निश्चय कर लिया था।

'दिल्ली चलो' की एक राजनैतिक रैली में इस्हाक चचा के साथ दिल्ली आने का सुअवसर मिल ही गया। स्टेशन से बाहर आते ही हम रैली से अलग हो गए और ताहिर भाई के यहाँ सीधे लाजपत नगर पहुँचे। ताहिर भाई पूरी तरह शहरी हो गए थे। इस्हाक चचा के दिल्ली से वापस होते ही उन्होंने मेरे साथ एक अलिखित समझौता किया कि रात भर उनके किराए के कमरे की छत के नीचे रहने और दो-जून की रोटियों के बदले में मैं सुबह-शाम उनका खाना तैयार करूँगा। अजनबी और विकराल इस महानगर में कपड़े का एक थैला जिसमें दो जोड़े शर्ट-पैंट के अलावा कुछ न था और साईकिल बेचकर जमा किए जेब में पड़े तीन सौ रुपए और अम्मा के दिए दो सौ रुपए यानी कुल पाँच सौ रुपए से कितनी हिम्मत जुटाता? मुझे उनकी शर्तें उन हालात में ग़नीमत मालूम हुईं। मैंने हाँ कर दी और बाबा से मेरी मुलाक़ात का सुयोग आकार लेने को प्रस्तुत हुआ।

दो दिन बाद सुबह पानी लाने जब नल पर पहुँचा तो बाबा पानी भरी बाल्टी लेकर अपने फ़्लैट के जीने की ओर बढ़ते नज़र आए। पैंसठ-सत्तर के बीच के होंगे तब शायद वे। काग़ज़ से सफ़ेद बाल और इकहरी काया। दुबलेपन से वे अपनी वास्तविक लंबाई से कुछ ज़्यादा ही खिंचे दिखते थे। मैं अपनी बाल्टी नल के नीचे लगा उनको ही देखने लगा। जीने के पास जाकर जिस तरह रुके उससे मुझे लगा वे ऊपर चढ़ने का हौसला सँजो रहे हैं। दूसरे पायदान से वे फिसल से गए और बाल्टी और स्वयं को संतुलित रखने के प्रयास में उनका शरीर-पिंजर ही हिल गया। मुझसे रहा नहीं गया। पीछे से लपकता हुआ उनके पास पहुँचा और बाल्टी उनके हाथ से झटकते हुए बोला, "यह मुझे दे दें।"

बाल्टी ऊपर पहुँचाकर जब मैं लौटने को हुआ तो आश्चर्य और प्रसन्नता का भाव लिए बाबा ने मुझे रुकने का संकेत किया। फिर रसोई घर के पास की दीवार के कोने की ओर इशारा कर बोले, "बाल्टी इत्थे रख दे। रब तेरा भला करे पुत्तर! मेरी तबीअत दो-तीन दिनां तों खराब चल रही है। नई तो पाणी तो मैं खुद ले के ही आ जांदा हाँ।" मुझे लगा वे सफ़ाई दे रहे हैं।

"इक मिनट बैं जा।" वे पास पड़ी एक बोसीदा-सी कुर्सी पर मुझे बिठाते हुए रसोई घर में ग़ायब हो गए।

मैंने देखा नीचे से आता हुआ जीना एक और घुमाव के साथ शायद ऊपर छत पर चला गया था। ओसारेनुमा जिस कमरे में मैं बैठा था अंदर की ओर दो अतिरिक्त कमरे बने थे। कमरे से

बाहर ख़ासी चौड़ाई वाला छज्जा निकला हुआ था।

इधर-उधर अपनी नज़र दौड़ा ही रहा था कि अचानक सामने वाले अंदर के कमरे में लगे बिस्तर पर एक अन्य बूढ़ी काया निश्चेष्ट पड़ी दिख गई। मैंने अनुमान लगाया कि वे उनकी पत्नी होंगी। मैंने हाथ उठाकर आदाब किया। पर उनके शरीर में इससे कोई प्रतिक्रिया नहीं जगी। यूँ ही पड़ी रहीं वो। उनके माथे पर बल ज़रूर पड़ आए।

बाबा इस बीच तश्तरी में सूजी का हलवा लेकर प्रकट हुए और बोले, "पुत्तर, ए थोड़ा ज्या खा ले। ए मैं पैले बणा रख्या सी।"

मैं भागने को तैयार हुआ, "इसकी ज़रूरत नहीं। मेरी बाल्टी भर गई होगी। मैं चला।"

उन्होंने मेरे हाथ पकड़ लिए, "क्या बात कर दी? पहली बार तू मेरे यहाँ आया है। बिना कुछ खिलाए जाने नहीं दूँगा।"

मेरी आँखें अचानक उनकी आँखों से जुड़ गईं। उनके चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कुराहट विराज रही थी। मेरी आँतें सचमुच उस समय भूख से कुहर रही थीं। आख़िर मैंने प्लेट हाथों में ले घी लगा गुनगुना-सा हलवा जल्दी-जल्दी हलक से उतारा और पानी का एक घूँट लेकर बाहर भागा।

नीचे नल पर ताहिर भाई को खड़ा देख हलवे की मिठास ग़ायब हो गई। उनकी आँखों में नाराज़गी थी। मेरी बाल्टी तब तक भर गई थी और पानी ऊपर से आहिस्ता-आहिस्ता बह रहा था। वे खरखराते स्वर में बोले, "तू उस बुड्ढे के घर क्या कर रहा था?"

मैंने बहाना बनाया, "दो मिनट के लिए उन्होंने बुलाया था।"

चिढ़ते हुए से वे बोले, "दिल्ली में क़दम रखते ही लोग तुझे पहचानने भी लगे! बच्चू, मुहल्ले की ग़ुलामगीरी करना छोड़। रिफ़्यूजियों का मुहल्ला है यह! बड़े ख़ुदगर्ज हैं। जो उन्हें मालूम हो गया कि तू मुसलमान है तो तेरे साए को भी फटकार देंगे!"

मैंने बाल्टी उठाई और वहाँ से भाग लिया।

मुझे इस्हाक चचा ने बहुत-सी बातें यहाँ के बारे में बता दी थीं। यह पूरी क़ॉलोनी शरणार्थियों से बसी थी। नल के पास के मकानों की बसावट देश के विभाजन का दंश सहे लोगों की थी। जिस फ़्लैटनुमा मकान में मैं ताहिर भाई के साथ ठहरा हुआ था उस तरफ़ के मकान अफ़गान शरणार्थियों से आबाद थे। वे वहाँ कब आए, यह नहीं मालूम हो सका था। मुसलमानों को किराए के मकान इधर ही मिल पाते थे। बाबा के आसपास रहने वाले लोग मुस्लिम किराएदारों को सचमुच पसंद नहीं करते थे। किराए पर उन्हें मकान देने का सवाल नहीं था। उनमें कोई गांधी नहीं था। बँटवारे के आसपास यहाँ आकर बसे उन लोगों के दिल के घाव पूरी तरह सूखे नहीं थे...और उनके बाद की पीढ़ी भी उनकी दारुण कथाएँ सुनकर मन में ख़राश लिए जी रही थी। मैंने उसके बाद बाबा से बचने की बहुत कोशिश की। पर आख़िर परिस्थितियों के हाथों विवश उनकी शरण में पहुँचा।

हुआ यह कि ताहिर भाई ने बीस-पच्चीस दिनों के बाद साफ़ कर दिया कि वे यह इलाक़ा छोड़ कहीं और जा रहे हैं और वो मुझे अपने साथ वहाँ नहीं ले जा पाएँगे और यह भी पहली तारीख़ आने से पहले ही मैं कोई इंतज़ाम कर लूँ। पहली तारीख़ में बस तीन दिनों की कसर रह गई थी। बाबा के मकान में दो बूढ़ी जान के अलावा कोई न था। मुझे लगा कि वहाँ मेरा कुछ बंदोबस्त बन जाएगा। पहले सोचा कि उनसे छुपा लूँ कि मेरा धर्म क्या है, पर मेरे मन ने इसे स्वीकार नहीं किया। अपनी पहचान छुपाना ठीक नहीं लगा। नियम और उसूल से हटना मुझे पसंद नहीं था।

दूसरे दिन परिस्थितियों ने मुझे जैसे बाबा के

पास ज़बरदस्ती ही भेजने की तैयारी कर ली थी। ताहिर भाई का इंतज़ार करते-करते काफ़ी रात हो गई। जब लगा कि उनका और इंतज़ार करना बेकार है और भूख से मेरी हालत बुरी होने लगी तो मैं घिसटता हुआ बाबा के घर पहुँचा। वहाँ दरवाज़ा बाहर से बोल्ट किया हुआ था। मैंने अनुमान लगाया कि वे आसपास ही कहीं गए हुए होंगे, इसलिए ऊपर खड़ा रहना उचित नहीं जान मैं नीचे आ गया। पर वहाँ एक दूसरा ही संकट मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

नीचे वाले मकान के मालिक ने मुझे अपने मकान के सामने कुछ देर खड़ा देख 'कौन है भाई, कौन है भाई' पूछता बाहर आ गया। उसने मुझसे पूछा, "किससे मिलना है?"

मुझे बाबा का नाम तो मालूम न था। बस संक्षिप्त-सा उत्तर दे पाया, "ऊपर वाले बाबा से मिलना है। वे अभी घर पर हैं नहीं।"

उसने तुरंत दूसरा प्रश्न दाग़ दिया, "नाम क्या है तेरा?"

मेरा नाम सुनते ही वह बोला, "तू यहाँ खड़ा न हो। जल्दी से यहाँ से दफ़ा हो जा।" फिर पीछे की ओर मुड़ते हुए वह बड़बड़ाया, "पता नहीं कहाँ-कहाँ से चले आते हैं ये साले लावारिस लोग!"

मैं अभी ऊहापोह में ही पड़ा था कि पीछे से गुर्राती हुई आवाज़ फिर आई, "तू यहाँ से भागता है या मैं पुलिस को फ़ोन करूँ?"

मुझे इस तरह की उग्र प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं थी। मैंने असमंजस की स्थिति में वहाँ से वापस आने के लिए क़दम बढ़ाए तभी एक छाया आगे बढ़ती दीख पड़ी। वही थे। मैंने उन्हें नज़दीक जाकर सलाम किया। उन्होंने मेरे काँधे पर हाथ रखकर ग़ौर से मुझे देखा। दूसरे ही क्षण हल्की-सी मुस्कुराहट उनके चेहरे पर फैलती-सी नज़र आई, "अच्छा, तू इधर आज कैसे आ गया?"

मेरे कुछ जवाब देने से पहले उनके पड़ोसी ने किंचित् तीखे लहज़े में बोला, "लाला जी, इस मुंडे नू जाणदे हो? तूसी इस नू अपणे कर क्यूँ बुलाया?"

"क्यों?" बाबा ने सपाट लहजे में प्रतिप्रश्न किया।

वह क्षण भर को रुका। फिर बाबा के एकदम पास जाकर लगभग सरगोशी करता हुआ बोला, "ओ, इ मुंडा तां कटुआ है। तूसी इस नू कार बुलाओन दी की जरूरत सी, लाला जी?"

बाबा ने जवाब देने में देर नहीं लगाई। हालाँकि मुझे लग रहा था कि मेरे मुसलमान होने की बात जान वे भी उसकी हाँ में हाँ न भी मिलाएँ तो मेरा पक्ष तो नहीं ही लेंगे, "अच्छा तो इसके स्पर्श से तुम्हारा घर अपवित्र हो रहा है! अपने पिता से जाके पूछ कि भोर दरवाज़ा में उसका धंधा इन्हीं मुसलमानों की वजह से तो चलता था। और खाने-पीने में, रीति-रस्म में इनके साथ शिरकत होती थी या नहीं?"

"मैं तो इसे लावारिस समझ पुलिस बुलाने जा रहा था। उनके पड़ोसी की आवाज़ का तीखापन बदस्तूर मौजूद था।"

"तूसी जो मरजी करो। ऐ मेरे पास आया है, मैं इस मुंडे नू अपने कर लेके जावांगा!" बाबा ने भी अपना स्वर ऊँचा कर लिया था। फिर वे मेरी तरफ़ मुड़ते हुए बोले, "तू चल मेरे साथ।"

कुंडी खोलने की आवाज़ के साथ अंदर से कमज़ोर-सी आवाज़ आई, "दवा मिली?"

"हाँ मिल गई है। एक मिनट बात करता हूँ।" फिर मुझे संबोधित करते हुए बोले, "पहले यह बता कि तू इस घड़ी मेरे पास क्यों आया है?"

मैंने अपना संकट बयान कर दिया। मैंने यह भी बताया कि मैं किसके साथ रहता हूँ और कहाँ से आया हूँ और यह भी कुछ दिनों बाद जब ताहिर भाई उस मुहल्ले से चले जाएँगे तो

क्या मुझे उनके यहाँ शरण मिल पाएगी?''

''बेटा, तूने देखा कि इस घर में हम दो प्राणी हैं। जगह की कमी नहीं यहाँ। हिंदू-मुसलमान का भेद मेरे मन में नहीं। तुझे अगर उधर परेशानी हो रही है तो बेशक यहाँ आ जा और आज रात तो तू यहाँ है ही।'' इतना कहकर वे ज़रा रुके और फिर अपनी पत्नी की ओर संकेत कर बोले, ''तेरी माँ ज़रा बीमार है। उसे दवा दे लूँ फिर रोटियाँ सेंकता हूँ। मेरा ख्याल है तूने खाना अभी नहीं खाया होगा।''

मैं झिझक गया। बोला, ''नहीं, नहीं, मैं खाना नहीं खाऊँगा।''

वे दिल्लगी-सी करते हुए बोले, ''तो क्या तू रात को रोजे रखेगा?''

मैं झेंप गया। अम्मा को दवा खिलाते हुए बोले, ''आज रात यह हमारे घर रहेगा। दो-चार दिनों बाद फिर शायद लगातार रहे।'' अम्मा ने कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं दी। फिर जब खाना बनाने का समय आया तो मैंने बाबा के हाथों से बर्तन अपने हाथों में ले लिया। मैंने कह दिया कि वे सिर्फ़ बताते जाएँ कि उन्हें क्या खाना है। पर सामान तैयार मैं करूँगा।

उस रात रोटी सेंकने में मुझे जिस सुख का अनुभव हुआ उसे मैंने दिल में आज भी सँजो रखा है। पड़ोसी के साथ बहस वाले प्रकरण से बाबा के लिए मेरे दिल में एक जगह बन गई थी। शुरू से ही मेरे प्रति बाबा का व्यवहार बहुत स्निग्ध था पर उन्होंने वास्तविक तौर पर मुझे मान देना शुरू किया कुछ दिनों पश्चात् घटी एक घटना के बाद। बात बहुत मामूली-सी थी।

उस दिन बाबा के दो दामाद घर पर आए हुए थे। बाहर वाले कमरे में बैठे गपशप में लगे हुए। बाबा की बेटियाँ पड़ोस में गई हुई थीं। बाबा उन्हें कुछ अधिक पसंद नहीं करते थे और बड़ी रुखाई से केवल आवश्यक बातें ही उनसे करते थे। अचानक अम्मा ने बाबा को बुलाया, ''ओए होए तेरा पेट यूँ ख़राब क्यों हो रहा है?'' वे उनका बिस्तर और उनके कपड़े बदलने को उठे। बाबा अम्मा की देखरेख स्वयं ही करते थे। उनके कपड़े बदलने के उपक्रम में बाँस की छड़ी-सी उनकी बाईं टाँग दीख गई। स्थिति समझ में आते ही मैं कमरे से बाहर आया और काफ़ी समय के बाद जब मुझे लगा कि उन्होंने धुलाई-सफ़ाई का काम निबटा दिया है, मैं कमरे में वापस आया। बाबा के दामाद इन सारी बातों से असंबद्ध अपनी गप में व्यस्त थे। आसपास क्या हो रहा है? किस स्थिति में मर्द वहाँ रहें या न रहें, उन्हें जैसे इन बातों की कोई परवाह न थी। बाबा ने इस प्रकरण को याद रखा था और बहुत बाद में उन्होंने अपने दिल की बात बताई। मुझे अपने मन और विवेक की बात सुनने का पुरस्कार मिला।

अम्मा तो तब भी मुझ पर विश्वास नहीं करती थीं। पर जब बाबा ने एक बार मकान की सफ़ेदी का ज़िम्मा मुझे सौंपा तो सामानों को हटाने और उनकी साफ़-सफ़ाई कर वापस उनके स्थान पर रखने में मुझे कुछ पीतल के बर्तन मिले। एक बर्तन को खोलकर देखने पर मैंने देखा कि उसमें एक-एक, दो-दो के नोट भरे पड़े हैं। मैंने अंदाज़ा किया कि अम्मा या बाबा ने वो रुपए जमा करके रखे होंगे और बाद में भूल गए। कई सालों से ये बर्तन यूँ ही पड़े हुए थे। किसी ने उनकी सुध नहीं ली थी। उन्हें छुपाकर मैं अपनी कुछ ज़रूरतें पूरी कर सकता था। पर मेरा विवेक जाग रहा था। मैंने वो बर्तन ले जाकर अम्मा को ही दिखाया। वो उसे देख मेरी बलाएँ लेने लगीं। उस समय उनके हाथों के स्पर्श में स्नेह का कितना आवेश था, मुझे वे क्षण याद हैं और मैं आज भी अपनी पीठ थपथपाता हूँ कि मैंने लोभ-लालच को मन में जगह नहीं दी। वरना ग़रीब और अभावग्रस्त आदमी का क्या?

बाबा के घर में क़दम रखते ही मेरी ज़िंदगी

ने एक गति-सी पकड़ ली। घर के छज्जे पर बची जगह पर झटपट उन्होंने ईंटें जुड़वाकर एक छोटा-सा कमरा मेरे लिए विशेष तौर पर बनवा दिया। मुझे जल्द ही कटर का काम भी मिल गया और मुझे लगा कि मुहताजी के मेरे दिन समाप्त हो रहे हैं। समय के साथ मेरे काम में निखार भी आता गया और बढ़ते अनुभव के साथ मेरी पगार भी बढ़ती गई। पास में पैसे बचने लगे तो आहिस्ता-आहिस्ता स्कूटर, फ़ोन, अपनी मर्जी का खाना-पीना तथा ऐसी ही कुछ अन्य सुविधाएँ भी जुट आईं। अब मैं घर भी पैसे भेजने लगा था। बाबा ने बड़े आड़े समय में अपनी शरण में मुझे जगह दी थी और इस कारण ही यह थोड़ी-सी समृद्धि नसीब हुई थी। यह बात मैंने हमेशा याद रखी और बाबा और अम्मा की सेवा में कोई कसर नहीं रखी। बाज़ार से ख़रीददारी, घर में खाना तैयार करने में मदद करना, डॉक्टर और दवाइयों का प्रबंध, बैंक का काम, घर की मरम्मत, सफ़ाई-पुताई धीरे-धीरे ये सारे काम मैंने अपने हाथों में ले लिए। दोनों बूढ़ी जानें यूँ बेफ़िक्र हो गईं मानो इन झंझटों से इनका कभी वास्ता ही न रहा हो। समय तेज़ी से गुज़र चला और देखते-ही-देखते छह सात बरस निकल गए। आगे भी समय यूँ ही निकल जाता पर दो-तीन घटनाओं ने इसमें हलचल पैदा कर दी।

पहली बात तो यह कि बाबा का छोटा दामाद जो सिरसा में रहता था अचानक ही चल बसा और अपने पीछे पत्नी और एक बेटी छोड़ गया। मज़दूर आदमी था। छोटी-सी लोहे-लक्कड़ की दुकान थी उसकी, जिससे तीन पेट पलते थे। माल-दौलत कुछ नहीं था। उसके आँख मूँदते ही दोनों माँ-बेटी बाबा के पास वापस हो लीं। बाबा की अर्थव्यवस्था मकान के ऊपर बने दो कमरों से आने वाले किराए पर टिकी थी। इस अचानक आए बोझ ने स्थिति डाँवाँडोल कर दी। ये मामला भी शायद किसी तरह सब झेल लेते पर अम्मा इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर पाईं और थोड़े ही समय में दुनिया से विदा ले ली। उधर एक नई बात यह हुई कि एक दिन एक पुराना ग्राहक अपने तैयार सूट की फ़िटनेस परखते हुए मुझे पर मेहरबान हो उठा। मैंने ही उसके सूट की कटिंग की थी। बहरीन और काठमांडू में उसकी गारमेंट एक्सपोर्ट की फ़ैक्ट्री थीं। आदमक़द आईने में कपड़े की फ़िटनेस से ख़ुश होते हुए उसने मुझे बहरीन स्थित अपनी फ़ैक्ट्री में अच्छी तनख़्वाह और रहने-सहने की सुविधाओं के साथ काम का ऑफ़र दिया। दुगुनी तनख़्वाह और काम का आधुनिकतम तरीक़ा सीखने का आकर्षण और इधर की स्थिति ने मुझे दुविधा में डाल दिया। पर बहनें ताड़-सी बढ़ रही थीं और अब्बा-अम्मा उन्हें और अपने गुज़ारे की आमदनी देख कुंठित हो रहे थे। मुझे लगा कि दो साल के कॉन्ट्रैक्ट से उनका यह बोझ किसी हद तक हल हो जाएगा। आख़िर भारी मन से मैंने यह ऑफ़र स्वीकार कर लिया और बाबा को यह बात बता भी दी। बाबा एकदम हताश हो गए। मैंने उन्हें भरोसा दिलाया कि वहाँ का काम पूरा होते ही मैं वापस यहीं आऊँगा। वो तो बड़ा अच्छा हुआ कि उनकी नातिन यानी कृष्णा अब सयानी हो चली थी। बारहवीं उसने अच्छे अंकों से पास कर ली थी। इस सुंदर लड़की में एक-साथ कई गुण मौजूद थे। वह बातूनी मगर कुशाग्र बुद्धि और स्पष्टवादी थी। व्यावहारिक भी। परिस्थितियों को देखते हुए उसने स्थानीय विश्वविद्यालय में आगे की पढ़ाई के लिए हिंदी साहित्य में ऑनर्स के लिए पत्राचार पाठ्यक्रम में दाख़िला ले लिया। हालाँकि वह गणित और विज्ञान की अच्छी छात्रा थी। उसने जल्द ही आसपास से बच्चों को ट्यूशन के लिए इकट्ठा कर लिया। विभिन्न विषयों पर अपनी पकड़ से थोड़े समय में ही उसकी अपनी एक

साख भी बन चली। जिस तेज़ी से उसने बहुत सारे काम सँभाल लिए उससे बाबा को कुछ तो ढाढ़स-सी बँधी और वे मेरे जाने की बात को अंततः स्वीकार कर सके। इंदिरा गांधी अड्डे पर मुझे विदा देने वह ज़िद करके मेरे साथ गई। वापस अकेले आने की समस्या के समाधान के लिए अपनी माँ को भी साथ कर लिया। पूरे समय वह कई तरह की बातें करती रही जैसे वह मुझे विदा करने नहीं, मेरे साथ शॉपिंग के लिए निकली हों। पर उड़ान से पहले की औपचारिकताओं के लिए मेरे अंदर जाने का समय आते-आते उसका बातूनीपन सहमता-सा मालूम हुआ। आँखों में एक रहस्यमय शुभ्रता और चुप होते होंठों से उसने मुझे विदा दी। पूरे सफ़र में और बाद में बहरीन में रहते हुए लंबे समय तक कृष्णा की आँखों की उस चमक की पहेली को हल करने में उलझा रहा। पर आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ की नई व्यस्तताओं में यह पहेली कुछ बिसर-सी गई।

उसकी आँखों की यह चमक पुनः पहेली बन मेरे सामने तब प्रस्तुत हुई जब दो बरस बाद बहरीन से मैं वापस आया। उसने बड़े क़रीने से घर सँभाल रखा था। बाबा की झुर्रियों में कुछ गहराई ज़रूर आ गई थी पर आवाज़ और हौसला पहले की तरह ही जीवंत था। फिर भी घर में मेरे आने का जैसे लोग इंतज़ार ही कर रहे थे। इन दो वर्षों में हमारा संपर्क बाबा के नाम लिखी मेरी चंद चिट्ठियों और कृष्णा के हाथ से लिखवाए बाबा के जवाब से बना रहा था। चिट्ठी के अंत में बची जगह में वह स्वयं भी कुछ पंक्तियाँ लिख देती थी। पहेली का रंग उन इबारतों पर भी चढ़ा था, पर मैं उसे बूझ ही नहीं पाया।

यह पहेली आख़िरकार बहरीन से वापस आने के बाद जाड़े की एक रात के तीसरे पहर निद्रावस्था में खुली। एक सपना हौले-से मेरे अंदर रेंग आया था।

चेहरे पर किसी की उत्तप्त साँसें महसूस हुईं। मुझे लगा कि रज़ाई के अंदर ही किसी ने मेरे शरीर को ज़ोर से दबा रखा है। मेरी आँखें एकदम खुल गईं। कमरे में अँधेरा था। पर अपने साथ बिस्तर पर पड़ी उस आकृति को पहचानने में मुझे क्षण भर की भी देर नहीं लगी। "कृष्णा तुम!"

मेरे होंठों पर उसने अपनी हथेली दबा दी और सरगोशी से बोली, "शोर न करो।" उसकी साँसें उखड़ी हुई थीं और शरीर काँप रहा था।

मैंने उसका हाथ अपने चेहरे से हटाया और उसे अपने से अलग करते हुए बोला, "कृष्णा, यह तुम क्या कर रही हो? खुदा के लिए तुम यहाँ से तुरंत चली जाओ। बाबा ने देख लिया तो मैं क्या मुँह दिखाऊँगा उन्हें?"

वह अपनी साँसों को संयत करती चुप बैठी रही। मैंने उससे फिर कहा, "कृष्णा, मुझे यह स्वीकार नहीं है। मुझे बस छोड़ दो। जाओ।"

वह दबे पाँव एक छाया-सी बनी वहाँ से निकल गई और शेष रात अपने किए के औचित्य से स्वयं को आश्वस्त करता रहा।

दूसरे दिन कृष्णा एकदम सामान्य थी। उसके चेहरे पर किसी तरह की झेंप नहीं थी। एकांत मिलते ही उसने सामान्य अंदाज़ में रात वाली बात छेड़ दी, "सोहराब, रात मैं ज़रा स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाई। उम्मीद है तुम इसके लिए मुझे माफ़ कर दोगे।"

"चलो ठीक है।" मैंने अपनी नैतिक ऊँचाई को ज़रा बढ़ाते हुए पर उदार भाव से कहा।

"पर सोहराब, मैंने ऐसा कामांध होकर नहीं किया। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ।" वह बेबाकी से बोली।

"क्या बक रही हो तुम?" मैं चौंक पड़ा। फिर उससे आँखें बराबर करते हुए बोला, "कृष्णा, यह संभव नहीं है। मैं बाबा के विश्वास को तोड़ नहीं सकता और सबसे बड़ी बात हमारा धर्म

अलग है। हमारे धर्म समानांतर रेखाओं की तरह हैं जो कभी एक दूसरे से नहीं मिलतीं।''

''ओफ़्फ़ो! सोहराब, तुमने फ़लसफ़ा ही छेड़ दिया। पर तुम मेरा निश्चय नहीं तोड़ सकते।'' वह बेबाकी से बोली।

सामान्य होने की कोशिश में ज़रा मुस्कुराते हुए मैंने कहा, ''कृष्णा, यह मुमकिन ही नहीं है। कल रात की बात एकदम भूल जाओ। आख़िर हममें फिर भी इंसानों का रिश्ता तो है ही।''

उसने तुरंत जवाब दिया, ''तुम सोचते हो मैं यूँ हथियार डाल दूँगी। मैंने बहुत पहले ही सोच लिया था कि जो इस जन्म में तुम्हें न पा सकी तो अगले जन्म में तुम्हें पाकर ही रहूँगी।''

मैं मुस्कुराने लगा, ''कृष्णा, तुम्हारी यह चाहत भी पूरी न होगी।''

''क्यों?'' वह मुझे देखती हुई बोली।

''तुम तो दूसरी बार जन्म भी ले लोगी। इस मलेच्छ का तो पुनर्जन्म न होगा। तभी तो मैं कह रहा हूँ। इतना फ़र्क़, इतने विरोधाभास है हमारे धर्मों में हम समांतर रेखाओं पर हैं, समझ रही हो न!''

''बिलकुल नहीं समझ रही तुम्हारी बात।'' वह नाराज़ होती हुई बोली।

उस घटना के बाद मैं बाबा के यहाँ से भाग खड़ा हुआ। हमेशा के लिए नहीं। हमेशा के लिए बाबा के रहते मुमकिन भी नहीं था। सप्ताह में एक–दो दिन आ जाता था। नोएडा स्थित एक गारमेंट कंपनी में काम मिला हुआ था। रात–बेरात ड्यूटी से आने–जाने की परेशानियाँ तो थीं ही, मैंने नोएडा में ही एक कमरा किराए पर ले लिया। उसी कंपनी में काम कर रहे एक अन्य साथी संजर के साथ। वास्तविकता यह थी कि कृष्णा की ज़िद भरी दीवानगी देखकर मैं ख़ुद से डरने लगा था। मेरा कमरा मेरे इंतज़ार में अलसाया रहता। मेरा ज़रूरी सामान वहीं पड़ा था। शुरू–शुरू में बाबा और कृष्णा की माँ दोनों अचंभे में रहे। उन्होंने कृष्णा से पूछा, कृष्णा की माँ से पूछा। कुछ वजह समझ में नहीं आई तो मुझसे पूछ बैठे। मैं बोला, ''बाबा, अब नोएडा में देर–सवेर काम करने के बाद यहाँ आना बड़ा दुश्वार होता है और फिर काम इस तरह बढ़ा हुआ है।''

''या अब तू मुझे छोड़ना चाह रहा है। तू तो हमेशा साथ रहने की बातें करता था।'' बाबा उलाहने देते हुए बोले।

मैं हँसने लगा, ''क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ। बाबा, आप चाहे मेरा ख़याल न रखो पर मैं तुम्हारी सेवा में हर क्षण उपलब्ध मिलूँगा।''

बात आई गई हो गई। ज़रूरत पड़ने पर वे तुरंत फ़ोन करवा देते और मैं उनके बुलाते ही जिन्न की तरह हाज़िर होने की कोशिश करता। उनका कहा सारा काम मैं कर जाता। शेष काम कृष्णा कर देती। कृष्णा से मेरी बातचीत में किसी तरह की कमी नहीं आई थी। बस अपने मन की बात वह नहीं करती थी। कभी–कभी मुझे लगता कृष्णा में एकाएक बदलाव–सा आ गया है। कभी लगता एक आँच–सी मन में लिए है वह। इस सोच से ही मैं घबरा जाता। फिर कुछ दिनों के लिए मैं ग़ायब हो जाता।

जाड़े के मौसम में बाबा फिसल पड़े और उनके कूल्हे की हड्डी में हल्का फ्रैक्चर आ गया। भीगे बुढ़ापे में यह बड़ी मुसीबत। डॉक्टर ने ट्रैक्शन लगा दिया। चलने–फिरने से मजबूर और ट्रैक्शन की यंत्रणा से वे बड़ी मुश्किल से निकल पाए। मैं काम पर जाने से पहले और वहाँ से लौटकर घर ज़रूर आता। इस मुसीबत से निकालने में कृष्णा ने बड़ा काम किया। आख़िर हम सबकी मेहनत रंग लाई। बाबा चलने–फिरने लगे। मगर इस तकलीफ़ ने जाते–जाते उन्हें बेहद कमज़ोर कर दिया। उनमें पहले की मानसिक शक्ति का भी अभाव दीखता। अकसर कुछ निराशा भरी बातें छेड़ देते। अपने मरने की बात

करते। वसीयत की बात करते। कृष्णा के ब्याह को लेकर चिंता प्रकट करते। बार-बार मुझसे बैंक खाते में जमा रक़म के बारे में पूछ बैठते।

लाजपत नगर में प्रवेश करते ही मेरा ऑटो वाला मुझसे आगे का रास्ता पूछने लगा तो मैं वापस लौटा। ज़्यादा देर नहीं लगी मुझे घर पर पहुँचने में। बाहर से ढेर-सारे लोग बाहर खड़े नज़र आ गए। पास-पड़ोस के लोग भी मौजूद थे। अर्थी अभी तैयार नहीं हुई थी। कुछेक रिश्तेदार शायद आने को रह गए हों! जाड़े के मौसम में लोगों को सवेरे निकलने में कुछ कठिनाई तो होती ही है। मैं सीधा उनके बिस्तर के पास गया। उनके चेहरे पर ज़िंदगी की लड़ाई में आई ख़राशें इस समय ज़्यादा स्पष्ट दीख रही थीं। उनके साथ बिताए कई बरसों की जिन यादों ने मेरे मन में आँधी-तूफ़ान उठा रखा था वे सब उस क्षण मेरी आँखों और जबड़ों में एक कसाव बनकर समा गए थे। एकाएक वे गर्म हो उठे थे। पलकों में गीलापन रिस आया। बिगड़ने से बनने की प्रक्रिया में जो व्यक्ति मेरे पीछे मज़बूत टेक बनकर खड़ा रहा, जिसने इंसानी रिश्तों की पाकीज़गी को ज़िंदगी की नहूसतों से लिथड़ने नहीं दिया, दूसरे क्षण मैंने यह सोचकर स्वयं को राहत पहुँचाने की कोशिश की कि अब ये आदमी मुझे धर्म संकट में नहीं डालेगा। मुखाग्नि की रस्म पूरा करने की ज़िद से मेरा इम्तहान नहीं लेगा। मुझे इतना चाहने के बावजूद मुझे दूसरे नाम से बुला-बुलाकर कुढ़न नहीं थोपेगा और कृष्णा के उठाए भँवर की परिधि से शायद मैं निकल पाऊँगा...

"सोहराब!" पीछे से कृष्णा की आवाज़ आई।

मैंने मुड़कर देखा। पर वह वहाँ रुकी नहीं। साथ आने का इशारा कर वह मेरे कमरे की ओर बढ़ गई। कमरे में अंदर आते ही उसने कहा, "सोहराब, देखो बाबा की मुखाग्नि की रस्म तुम्हें करनी है।"

मैं चौंक पड़ा, "यह कैसे हो सकता है? मैंने तो बाबा के सामने ही मना कर दिया था।"

"बाबा ने तुम्हारी शर्त पूरी कर दी है।" वह संयत स्वर में बोली।

मैं अबूझा-सा लगातार कृष्णा को देखता रहा।

कृष्णा ने बात आगे बढ़ाई, "कल रात तुम्हारे जाने के बाद बाबा बहुत बेचैन हो गए थे। कुछ देर बाद उन्होंने मुझे बुलाया और बोला कि सोहराब को फ़ोन कर दो कि मैं अब उसे सोहराब ही कहूँगा। बड़ी विचित्र-सी मनःस्थिति में थे वे। उन्होंने सबके सामने ज़ोर-ज़ोर से तीन बार कहा, "सोहराब, सोहराब, सोहराब!" फिर बोले, "उसे बता दे पुत्तर, मैंने उसकी बात मान ली है।" उनके ज़ोर देने पर रात ही बाहर जाकर बूथ से मैंने फ़ोन करने की कोशिश की। लेकिन तुमने शायद अपने मोबाइल का स्विच ऑफ़ कर रखा था।"

मैं कृष्णा की आँखों में झाँकता खड़ा रहा। एक बेचैनी ने मुझे अपनी गिरफ़्त में ले लिया, क्या जवाब दूँ? मैंने सोचा।

मेरी प्रतिक्रिया देख कृष्णा बोल पड़ी, "मैं जानती हूँ, तुम कहोगे कि तुम्हारे धार्मिक संस्कार इसमें बाधा बन रहे हैं और ये कि हमारे धर्म समांतर रेखाओं की तरह हैं जो कहीं नहीं मिलतीं। पर सोहराब, धर्म की इन समांतर रेखाओं पर हम साझा संस्कृति की तिर्यक रेखा तो डाल ही सकते हैं और इसमें कोई मुश्किल भी नहीं। इस मिलान से एकांतर कोण और संगत के कोण सब बराबर होंगे। मंत्रोच्चारण तुम न करना पर बाबा की अंतिम इच्छा तो पूरी कर सकते हो न!"

मुझे लगा मैं मुक्त हो रहा हूँ।

सत्यजित राय

ब्योरों के संबंध में दो-चार बातें

एक अमूर्त अथवा एब्स्ट्रैक्ट कला के अलावा सभी कलाओं में विषयवस्तु का प्रयोग होता रहता है। संगीत और चित्रकला में जो अमूर्त रूप संभव है, साहित्य और चलचित्र में वह संभव है या नहीं अथवा अगर संभव हो तो क्या वह उच्च स्तर की कला हो सकता है या नहीं, इस विषय में संदेह है।

मैं जिस डिटेल—ब्योरे की बात कहना चाहता हूँ, अमूर्त कला में उसका स्थान नहीं है। विषयवस्तु को परिस्फुट अथवा समृद्ध करना ही इस डिटेल का उद्देश्य होता है। स्थान, काल, पात्र, घटना, मन के भाव, सब कुछ के वर्णन में ही इस डिटेल—ब्योरे की ज़रूरत पड़ती है तथा कलाकार की अनुभूति के ऊपर ही इसके प्रयोग की सार्थकता निर्भर करती है।

शिल्पी का आँख से देखना या कान से सुनना या मन से अनुभव करना सामान्य लोगों की अपेक्षा सूक्ष्म और निविडतर होने के लिए बाध्य है, अगर ऐसा न हो तो वह शिल्पी ही क्योंकर होगा? शिल्पी की इस इंद्रिय ग्राह्य सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति इन्हीं ब्योरों के माध्यम से होती है और इनके सार्थक प्रयोग से ही विषयवस्तु वर्णाढ्य उज्ज्वल हो उठती है।

हमारे देश में अधिकांश फ़िल्मों में ब्योरों—डिटेल का दैन्य लक्ष्य करके दुख होता है, कारण भारतीय शिल्प-साहित्य में डिटेल—विस्तृत ब्योरों को जो महत्त्व दिया गया है, विश्वसाहित्य में उसकी तुलना बहुत कम ही है। सिनेमा-पूर्व युग के शिल्प-साहित्य की बात ही मैं और बलपूर्वक कह रहा हूँ। चलचित्र को एकांत रूप से बीसवीं शताब्दी की शिल्पकला कहने पर भी उसकी रचनारीति आंशिक रूप से जो प्राचीन शिल्प-साहित्य में अंतर्निहित है, इस विषय में कोई संदेह नहीं है।

यहाँ पर चलचित्रोपयोगी डिटेल कहने से मेरा क्या आशय है, इसे स्पष्ट करने की ज़रूरत है। हमारे प्राचीन साहित्य में उपमा के प्राचुर्य की बात सभी जानते हैं। यह उपमा नामक वस्तु एकदम साहित्य की चीज़ है। कालिदास से एक उदाहरण दे रहा हूँ। *रघुवंश* में अज और इंदुमती के विवाह का वर्णन है। स्वयंवर सभा में इंदुमती ने अज के गले में माला पहना दी। कालिदास कह रहे

सत्यजित राय :(1921-1992) विश्वविख्यात फ़िल्म निदेशक तथा बाङ्ला के कथाकार

अनु. समीक्षक, आलोचक, अनुवादक रामशंकर द्विवेदी का जन्म 1937 में हुआ। इन्हें साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बाग़ीचा के पास, उरई 205001 (उ.प्र.)

हैं : ''तब उस स्वयंवर सभा में एक ओर आनंद से विकसित वरपक्षीय व्यक्तिगण दूसरी तरफ़ भग्न मनोरथ नृपति मंडली अवस्थित है, ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रात:काल सरोवर के एक ओर विकसित पद्म कानन हो एवं दूसरी तरफ़ मुरझाया मुद्रित कुमुदवन विद्यमान हो।''

यह तो हुई काव्य की उपमा। चलचित्र में इस तरह का प्रयोग स्वाभाविक नहीं होगा। किंतु, इस घटना के ठींक बाद विवाह की शोभायात्रा का ब्योरा दे रहे हैं एवं एक-के-बाद-एक चौंकाने वाली हालाँकि अत्यंत स्वाभाविक बिंबधर्मी डिटेल—ब्योरों की सहायता से इस घटना को प्राणवंत कर देते हैं। नगरवासियों के मन में इस शोभायात्रा ने कैसी चंचलता का संचार कर दिया था, इसी को हृदयंगम कराना कालिदास का उद्देश्य था :

''कोई रमणी द्रुतगति से गवाक्ष के पास पहुँच गई थी, इस हड़बड़ाहट में उसका कबरी बंधन खुल गया और उससे स्खलित होकर पुष्पमाला नीचे गिर गई, वह हाथ से उसे पकड़े रही, उसे पुन: वेणी में लपेटकर बाँधना होगा, यह विचार उसके मन में आया ही नहीं, प्रसाधन करने वाली अपने हाथ से किसी रमणी के चरणों में अलक्तक रंजित कर रही थी; वह उन्हीं गीले पैरों से शोभायात्रा के आकर्षण से अपनी विलास गति को विसर्जित कर गवाक्ष के पास पहुँच गई, गवाक्ष तक पूरा मार्ग लाक्षारंजित चरण चिह्नों से रंग गया। किसी रमणी के दाएँ नेत्र में काजल लग चुका था, बायाँ नेत्र काजल रहित था; वह उसी हालत में कज्जल-शलाका लिए गवाक्ष के निकट जा पहुँची। किसी रमणी के आधी गूँथी गई स्वर्ण माला के साथ त्वरित वेग से उठकर चलने के कारण पग-पग पर स्वर्णमाला से सारी मणियाँ नीचे गिरने लगीं, अंत में उसके अंगुष्ठमूल में सिर्फ़ सूत्रमात्र बचा रह गया...'' इत्यादि।

रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों के विपुलाकार का एक प्रमुख कारण है—उसमें ब्योरेवार वर्णनों का प्राचुर्य। विशेष रूप से *महाभारत* को चलचित्रों के लिए सुलभ वर्णनों की स्वर्ण खदान कहा जा सकता है। कुरुक्षेत्र में युद्ध के अंत में गांधारी अपने दिव्य नेत्रों से रणभूमि की अवस्था देखकर कृष्ण के सामने उसका वर्णन सुना रही है :

''देखो, ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी दुर्योधन अपनी गदा से लिपटा रक्त से लथपथ देह लिए लेटा हुआ है। मेरे पुत्र की मृत्यु की प्रतीक्षा से भी कष्टकर प्रसंग यह है कि स्त्रियाँ अपने मृत पतियों का दाह-संस्कार कर रही हैं। लक्षण-जननी दुर्योधन-पत्नी अपना माथा पीटती हुई पति के वक्षस्थल पर गिर पड़ी है। मेरी पति-पुत्र हीन-पुत्र वधुएँ बिखरे हुए बालों से रणभूमि में इधर-उधर दौड़ती हुई भटक रही हैं। मुंडहीन देह अथवा देहहीन मुंड देखकर कई तो मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। यह देखो मेरे पुत्र विकर्ण की तरुणी पत्नी मांसलोभी गिद्धों को भगाने की चेष्टा कर रही है, लेकिन वह उन्हें भगा नहीं पा रही है।''...

भारतीय चित्रकला में भी वर्णनात्मकता की यह परंपरा बहुत दिनों तक अक्षुण्ण थी। बाघ, अजंता की गुफाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। मुग़ल-राजपूत मिनियेचर व्यक्ति चित्रों में भी इसके नमूने विद्यमान हैं। नैचुरलिज़्म के (प्रकृतिवाद) पथ पर बिना गए भी मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य भाव को कैसे ब्योरों की सहायता से प्रस्फुटित किया जा सकता है, उसके चमत्कृत करने वाले दृष्टांत इन सब चित्रों में विद्यमान हैं। आकाश के ऊपर मात्र पाँच-सात समानांतर नीचे जाती हुई बूँदों की लाइनें खींचकर लघुचित्र-शिल्पी हमें वर्षा का अहसास करा देते हैं; नायिका की ओढ़नी की उड़ने वाली भंगिमा से वे आँधी का बोध करा देते हैं; प्रेम, विरह, आनंद, विषाद, क्रोध, लज्जा, ईर्ष्या इत्यादि सूक्ष्म-

से-सूक्ष्म मन के भाव सिर्फ़ कायिक अनुभावों के ब्योरों से समझा देते हैं। इन सब पुरानी तसवीरों से इसीलिए फ़िल्म-निर्देशकों के लिए बहुत कुछ सीखने को है।

बांग्ला देश के प्राचीन साहित्य में भी डिटेल—वर्णनों के असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं। भारतचंद्र कवि के 'अन्नदा मंगल' में मानसिंह की सेना के प्रसंग में आँधी-वर्षा का वर्णन उल्लेखनीय हैं :

साँतारिया फिरे घोड़ा डूबे मरे हाती।
पाँके गाड़ा गेल गाडि ऊट तार साथी॥
फेलिया बंदूक जामा पाग तलवार।
ढाल बुके दिया दिल सिपाई साँतार॥

बकरी बकरा मरे कुकड़ी कुकड़ा।
कुजरानी कोले करि मासिल कुजड़ा॥
घासेर बोझाय वसि घेसेड़ानी भासे।
घेसेड़ा मरिल डूबे ताहार हावासे॥

डूबे मरे मृदङ्ग बुके करि।
कलोयात मासिल वीणार लाउ धरि॥

तैरकर घोड़ा बच गया पर, हाथी (नदी में) डूबकर मर गया। कीचड़ में गाड़ी अपने साथी ऊँट के साथ फँस गई। सिपाही बंदूक़, अपने कपड़े और तलवार फेंककर ढाल छाती से लगाकर तैरकर पार उतर गया। बकरी बकरा और मुर्ग़ी मुर्ग़ा मर गए। घास के गट्ठर पर बैठकर घसियारिन तो बहती हुई पार उतर गई पर घसियारा अपनी मूर्खता से डूबकर मर गया। मृदंग बजाने वाला मृदंग को छाती से लगाने के कारण उसके बोझ से डूब मरा पर वीणा बजाने वाला उसके तूँमे के सहारे बहता हुआ पार उतर गया।

'डिटेल' कहने से सिर्फ़ आँखों से देखी गई वस्तुओं के ब्योरेवार वर्णन से ही अर्थ समझना चाहिए, ऐसा नहीं है। चुने गए शब्दात्मक वर्णन भी डिटेल—ब्योरे के अंतर्गत आते हैं। तथा वहाँ पर बोलने वाली फ़िल्मों के साथ सीधे-सीधे संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है। प्यारी चाँद के उपन्यास *अलालेर घरेर दुलाले* से एक उदाहरण दे रहा हूँ : "हे सखि, श्याम का तो पता ही नहीं चला, इस मार्मिक आघात से मैं तो मरी जा रही हूँ—टक् टक्, पटास् पटास् मियाँजान गाड़ीवान कभी गाना गाने लगता है, टिटकारी मारकर बैल हाँक रहा है और साले बैल चल नहीं पा रहे हैं इसलिए उनकी पूँछ मरोड़ता हुआ सपात्-सपात् पनेठी मार रहा है। धीरे-धीरे मेघ घिर आए हैं, धीरे-धीरे वर्षा होने लगी—दोनों बैल हनहनाते हुए दौड़ने लगे और एक छकड़ा गाड़ी को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। उस छकड़ा गाड़ी में प्रेमनारायण मजूमदार यात्रा कर रहे थे, छकड़ा हवा से हिल रहा था, दोनों घोड़े वात के रोगी घोड़े के बाप थे—पक्षीराज गरुड़ के वंश के डगर-मगर होते हुए चल रहे थे—पटापट-पटापट उनकी पीठ पर चाबुक पड़ रहे थे। किंतु, किसी भी तरह उनकी चाल में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा था। प्रेमनारायण दो कौर भात खाकर सवार हुए थे—गाड़ी के हिचकोले खाते-खाते उनके प्राण होंठों तक आ गए थे। बैलगाड़ी आगे निकल जाने से वे और भी दुखी हो गए थे।"...

ध्वन्यात्मक शब्दों के ब्योरों द्वारा यह कॉमिक चित्रण और भी रसीला हो गया है क्या इसमें कोई संदेह है? फ़िल्मों में भी इस क़िस्म का ब्योरा ठीक इसी रूप में आएगा इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राक्-चलचित्र युग के पहले सांप्रतिक साहित्यकारों में विशेष रूप से दो साहित्यकारों की विवरण के प्रति सचेतनता के बारे में उल्लेख करना पड़ेगा—वे हैं बंकिमचंद्र और अवनींद्र नाथ। *विषवृक्ष* उपन्यास में नगेंद्रनाथ दत्त के घर के सहन का लगभग पूरे एक पृष्ठ का विवरण है। कहाँ तक कहा जाए, यहाँ पर लेखक का आग्रह शिल्प-सृष्टि की अपेक्षा तथ्य प्रस्तुत करने

की ओर कुछ कम नहीं है। किंतु, बंकिम को यह पता था कि कहानी के काल्पनिक होने पर भी पाठकों के मन में उसे विश्वसनीय बनाने के लिए डिटेल—विवरण की सहायता से उसकी एक पृष्ठभूमि बना लेनी पड़ती है।

अवनींद्रनाथ को मुख्य रूप से जिस शिल्पविधि ने प्रभावित किया था, उसके मूल में थी हमारे बंगाल की रूपक कथाएँ। उनकी स्वयं की सारी रचनाएँ इसी रूपक कथाओं के वर्ग में आती हैं। रूपक कथाओं में डिटेल—विस्तृत विवरण नामक वस्तु की आवश्यकता सबसे अधिक पड़ती है—कारण उसमें जिन सब कल्पनाओं को रूप दिया जाता है डिटेल के अलावा उनमें से अधिकांश का ही कोई अस्तित्व नहीं होता है। राक्षस नामक वस्तु वास्तव में नहीं होती है, इसे हम सभी मानते हैं, किंतु बच्चे के मन में राक्षस का एक विवरण-सहित चेहरा स्पष्ट रूप में होता है :

''पीठखाना तार कूलो
दाँतगुलो तार मूलो, कान दुटो तार नाटा नाटा
चोख दुटो आगुमेर भाँटा।''

अर्थात् उसकी पीठ पर कुब्बड़ है, उसके दाँत मूली जितने बड़े हैं, दोनों कान उसके छोटे-छोटे, आँखें दोनों आग का गोला।

हमें पता है कि रूपक कथा का राजा सिर्फ़ बड़ा ही नहीं होता है, उसके हाथीख़ाने में हाथी, घुड़शाल में घोड़े, भंडार में माणिक, कोठरी भर मोहरें भी होती हैं। 'हमें पता है कि सुयोरानी—राजा की प्रिय रानी की देह स्वर्ण शय्या पर और पैर चाँदी की शय्या पर रहते हैं' और 'गर्व के मारे उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते हैं।' राजा का अगर भय हो तो हम जानते हैं उसके प्रभाव से उसके राज्य में 'बाघ और गाय एक ही घाट पर पानी पीते हैं।' एक-एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक-एक ब्योरे, एक-एक डिटेल, चित्र की सहायता के बिना भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है, यह कहा जा सकता है। रूप कथा के अलावा गीति-काव्य में भी डिटेल—वर्णन की प्रचुरता देखी जा सकती है। लेखक, कथावाचक, कविवाला (हरिबोला), पांचाली-कार—सभी ने भाव प्रकाशन के लिए बार-बार चित्रों का सहारा लिया है। हालाँकि चित्र रचना ही जिनका काम है, वे चित्रों की बात भूल जाएँगे, सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन अर्थात् डिटेल की बात भूल जाएँगे, इससे बड़े आक्षेप का विषय क्या हो सकता है?

ब्रह्मस्वरूप शर्मा

संचार माध्यमों की सापेक्षता में साहित्य

सूचना तकनीकी की नित्य नवीन उपलब्धियाँ संचार माध्यमों को न केवल भिन्न क्षेत्रीय सूचनाओं को द्रुतगामिता से जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए संपन्नतर कर रही हैं अपितु सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को भी नए आयाम दे रही हैं। अस्तित्ववादी दर्शन में 'क्षण' को जिस आशय, संदर्भ और प्रसंग में प्रयुक्त किया गया है वह सूचना तकनीकी की सत्ता में आज नितांत भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। अपने इस प्रयोग में वह विश्व के समस्त क्रिया व्यापारों को प्रभावित कर रहा है। सूचना तकनीकी का क्षण मृत्यु-उपासक, निराशा-साधक, अवसाद-धारक और कुंठा-पूजक नहीं अपितु जीवन को उसकी संपूर्ण गरिमा, महिमा और विराटता में जीने का पक्षधर है। ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी विधाओं को प्रभावित करता यह क्षण संचार-साधनों के माध्यम से विश्व-मानव के सामाजिक जीवन को सभ्यता-संस्कृति के नवीन आभूषणों से अलंकृत कर रहा है। विश्व-मानव के सामाजिक जीवन में उसकी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी स्थितियाँ और पक्ष सम्मिलित हैं। वैचारिक प्रक्रियाओं में पक्ष विशेष पर विशिष्ट बिंदु क्षेत्रीय पृथकताएँ बनाए हुए भी विराट-कल्याण के गंतव्य पर स्वत्व को तिरोहित कर देते हैं। संचार माध्यमों ने दैनंदिनी जीवन के प्रसंगों में मानव-कल्याण के विराट दर्शन से जन-साधारण को अवगत कराया है। यह संचार माध्यमों की ही देन है कि विश्वघटित क्रिया-व्यापार और भिन्न सामाजिक व्यक्ति-व्यवहार जन-साधारण की आलोचना, प्रत्यालोचना और बहस के विषय बन जाते हैं। भिन्न राष्ट्रीय, प्रदेशीय और क्षेत्रीय व्यवस्थाओं से अनुशासित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियाँ संचार माध्यमों के आलोक में निरंतर निखार पाती हैं।

संचार माध्यमों की द्रुतगामिता, तत्कालीनता और सद्यः प्रभावात्मकता से प्रभावित परिवेश में जीवन-वास्तविकताओं का उद्घाटन करता साहित्यकार भी मानव-मूल्यों को नए प्रसंगों में अर्था रहा है। यद्यपि इस प्रयास में उसकी रचनाओं में यदा-कदा

1962 में जन्मे ब्रह्मस्वरूप शर्मा की सात पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 52, जे.डी.एम. अपार्टमेंट्स, प्लॉट-11, सेक्टर-5, द्वारका, नई दिल्ली 110075 फ़ोन : 250849511

अपेक्षित साहित्यिक गंभीरता का अभाव हो जाता है तथापि जीवन की सार्थकता का अन्वेषण, विश्लेषण और परिमार्जन उसे विचारक बनाए रखता है। शाश्वत के अभाव में कोई भी रचना साहित्यिक गंभीरता को नहीं पा सकती। शाश्वत जड़ता, अपरिवर्तनीयता और स्थिरता का वाचक नहीं, निरंतरता, अविच्छन्नता और गतिशीलता का पर्याय है। जीवन का शाश्वत जागतिकता में मानवता का अन्वेषण है। जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना है। स्वानुभूत जीवन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार मानवता को उन्हीं संदर्भों में गहराता है जिनसे मानव-मूल्य निरूपित होते हैं। वरेण्य और त्याज्य की स्थिति सदैव विवादास्पद रही है। साहित्यकार निर्णायक नहीं होता, उसे होना भी नहीं चाहिए। उसकी अन्वेषक स्थिति उसे सतत प्रयासरत रखती है। संचार माध्यमों की सापेक्षता में साहित्य का आकलन स्पष्ट करता है कि तथाकथित शाश्वत और सद्यः वांछनीयता के संदर्भ में ही मानवता को प्रभावित करते हैं, दार्शनिक जटिलता में उनकी उपयोगिता संदिग्ध है। संचार माध्यमों का सद्यः और साहित्य का शाश्वत भिन्न प्रस्थान बिंदुओं से मानवता की ओर अग्रसर होते अंततः वरेण्य मूल्यों के गंतव्य तक ही पहुँचते हैं। प्रभावांविति में भी सद्यः और शाश्वत तुलनात्मक हो सकते हैं किंतु सामाजिक उपयोगिता में उनकी श्रेणीबद्धता निरर्थक ही होगी। गत दशकों का इतिहास साक्षी है कि संचार माध्यमों के एक प्रमुख अंग पत्रकारिता ने साहित्य को व्यापक रूप में प्रभावित किया और साहित्य ने पत्रकारिता को दिशा दी। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और परवर्ती युगों के अनेक साहित्यकार पत्रकार रहे और पत्रकार साहित्यकार रहे। बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसी दास चतुर्वेदी आदि साहित्यकारों-पत्रकारों का सामाजिक जागृति में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

रागात्मकता आह्लादक होती है, तथ्यात्मकता सूचनापरक। अपनी रागात्मकता के कारण ही साहित्य शाश्वतस्पर्शी होता है और सूचनात्मकता के कारण संचार माध्यम सद्यः प्रभावकारी। साहित्य में आज शाश्वत बनकर उभरता है, संचार माध्यमों में वह अब, तत्काल एवं तुरंत। शाश्वत ज्ञानमूलक और आज बोधमूलक होता है। साहित्य ज्ञान देता है; संचार माध्यम जानकारी देते हैं। साहित्य में अपेक्षाकृत गंभीरता होती है, संचार माध्यमों में सुलभता, सरलता और सहजता। साहित्य अंशतः परिपक्वता की अपेक्षा करता है, संचार माध्यम सामान्य जागरूकता की। दोनों प्रकृति, प्रवृत्ति, अभ्यास और क्रियान्वयन में भिन्न हैं किंतु उद्देश्य में अभिन्न हैं। मानव-कल्याण ही दोनों का उद्देश्य है। रागात्मकता और तथ्यात्मकता सामाजिकता की अपेक्षाएँ, आवश्यकताएँ और अनिवार्यताएँ हैं।

अवसर, प्रसंग और उद्देश्य के अनुकूल गंभीरता, सहजता और सरलता अपेक्षित होती हैं। गंभीरता के नाम पर क्लिष्टता और सरलता के नाम पर बाज़ारूपन कभी वांछनीय नहीं रहे। न साहित्य सरलता का विरोधी रहा है और न ही संचार माध्यम गंभीरता के। वस्तुतः संचार माध्यम सहज सरल भाषा में इतनी गंभीर बात कह जाते हैं कि उसकी दार्शनिक विवेचना की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार साहित्य भी दार्शनिक तथ्यों को जन साधारण की भाषा-शैली में प्रस्तुत कर देता है। अतः गंभीरता और सरलता किसी विशिष्ट विषय, क्षेत्र या माध्यम की विशेषताएँ नहीं, उनका आनुपातिक उपयोग ही विधा विशेष का अभीष्ट हैं। संचार माध्यमों को विज्ञापन-शैलियों और विज्ञापन शैलियों ने संचार माध्यमों को दूर तक प्रभावित किया है। साहित्य विज्ञापन-शैलियों से प्रत्यक्षतः तो प्रभावित नहीं दिखता किंतु विज्ञापन की मुद्राएँ साहित्यकार की अभिव्यक्ति को प्रभावित अवश्य करती हैं। विज्ञापनों में प्रयुक्त भाषा-शैली, कथन-भंगिमाएँ और परिवेश

प्रस्तुतियाँ लघु कथाओं, कविताओं और नाट्य प्रस्तुतियों को विशेषतः प्रभावित कर रही हैं। आज प्रभावशाली विज्ञापनों में साहित्यिकता का पुट रहता है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि किंचित् साहित्यिकता का पुट विज्ञापनों को प्रभावशाली बनाता है।

आज साहित्य की सहजानुभूति संचार माध्यमों की प्रतिक्रिया-प्रवृत्ति से प्रेरित प्रतीत होती है। शाश्वत का आग्रह रहते हुए भी साहित्यकार तत्कालीनता को गंभीरता से उभार रहा है। सम-सामयिकता में मानव-मूल्यों का विश्लेषण आज के साहित्य, विशेषतः कथा-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। यद्यपि साहित्य में तत्कालीनता सद्यः समाधान के पर्याय में व्यक्त नहीं हो रही है तथापि उसे शाश्वत के परिधान में निरंतरता वाचक भी नहीं रखा जाता। सामाजिकता के प्रति साहित्य और संचार माध्यम दोनों ही तत्परता के आग्रही हैं। हिंदी कविताओं में यह आग्रह अधिक मुखरता से उभरा है। कहना होगा कि साहित्य की भिन्न विधाओं का बदलता कलेवर भी संचार माध्यमों की तत्कालीनता से प्रभावित है। साहित्यकार सहजानुभूति को न रसानुभूति में परिणत करता है और न ही कलात्मकता के आग्रह में उसे अप्रासंगिक बनाता है। सहजानुभूति आज भी साहित्यिक रचनाओं की गंगोत्री है किंतु आलोचक इसे समसामयिक संदर्भों में ही गहराते हैं, काव्यशास्त्र का आश्रय नहीं खोजते। अपने उत्स में संचार माध्यमों की अभिव्यक्तियाँ भी सहजानुभूति से प्रेरित होती हैं किंतु इस अनुभूति में दार्शनिकता के लिए अधिक अवसर नहीं। साहित्यकार जहाँ इस अनुभूति को रागात्मकता प्रदान करता है, वहाँ पत्रकार इसे इतिवृत्तात्मकता में प्रस्तुत करता है। व्यक्ति और समाज के प्रति दोनों दायित्वशील रहते हुए कथ्य को अपनी-अपनी भंगिमाओं में अर्थाते-गहराते हैं।

साहित्यकार की अपेक्षा पत्रकार जनता के प्रति अधिक प्रतिबद्ध होता है। संचार माध्यमों में लोकरंजन के लिए तो अवसर हैं किंतु काव्यशास्त्रीय आनंद के लिए उसमें कदाचित् अवसर नहीं। उत्तेजना, सनसनी, हलचल, खलबली, खींचतान आदि पत्रकारिता तथा अन्य संचार माध्यमों के अलंकार हो सकते हैं, साहित्य के नहीं। साहित्यकार निरंतरता, परिवेश में परंपरा अन्वेषण, परंपराओं में परिवेश आकलन, व्यक्ति-समाज अंतर्संबंध, व्यावहारिकता में आदर्श निरूपण और आचरण में मानव-मूल्य संशोधन आदि में सामाजिक प्रतिबद्धता दर्शाता है। इन प्रयासों में संचार माध्यमों की अपेक्षा प्रतिबद्धता प्रदर्शन के प्रत्यक्ष अवसर कम ही होते हैं, प्रायः प्रतिबद्धता परोक्ष रूप में ही उभरती है। इस परोक्ष में ही साहित्य की निरंतरता और गंभीरता है, संचार माध्यमों की तत्कालीनता की अनुपस्थिति भी। भिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियों के रहते दोनों अनुशासन सामाजिकता के प्रति सजग रहते हैं और अपनी शैलियों में प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं। पिछले दो-तीन दशकों के साहित्य, विशेषतः कथा साहित्य में संचार माध्यमों की प्रतिबद्धता स्पष्टतः लक्षित है। निरंतरता में दार्शनिक बोझिलता का घटता आग्रह तत्कालीनता को परिष्कृत परिवेश में व्यक्त करता प्रतिबद्धता को प्रचारात्मकता से भी बचा रहा है। साहित्यकार परिवेश को उसकी वास्तविकता में स्वीकार कर उसे मानवताधर्मी स्वरूप अवश्य देता है, आदर्श की दार्शनिक ऊहापोह से वह प्रायः मुक्त ही रहता है। संचार माध्यमों की वस्तुपरकता साहित्यकार की वास्तव-अन्वेषी दृष्टि को प्रखरतर कर रही है।

तत्कालीनता, विस्तार, प्रचार, प्रसार, सद्यः प्रभावात्मकता प्रयत्नरत परिणामात्मकता सूचना तकनीकी के इस युग में संचार माध्यमों की ही नहीं अपितु उद्योगरत हमारे सभी साधनों, माध्यमों और प्रयासों की विशेषताएँ हैं। सूचना तकनीकी की नित्य नवीन उपलब्धियाँ हमारे सभी संसाधनों को प्रभावित करती सामाजिकता को नित्य नवीन

आयाम प्रदान कर रही हैं। हमारी दैनंदिनी क्रियाएँ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में नवीनताओं से प्रभावित होती मानव-मूल्यों की भी नवीन अभिव्यंजनाएँ प्रस्तुत कर रही हैं। सामाजिकता की निर्मिति में साहित्य की अपेक्षा संचार माध्यमों की अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली भूमिकाएँ होती हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में रागात्मकता के आयामों में भी परिवर्तन आया है। रुचियों ने संस्कारों को झकझोरा है। सौंदर्य के प्रतिमानों में निखार आया है। परिवर्तनों की प्रक्रिया में मान्यताएँ भी बदलती हैं। आज भाषा विशेष का साहित्य संबंधित भाषा-भाषियों तक ही सीमित न रहकर इतर भाषा क्षेत्रों में रुचिपूर्वक पढ़ा-पढ़ाया जाता है। भिन्न समुदायों के अंतर्संबंधों में निखरते जीवनमूल्य मानवीय संवेदनाओं को गहराते जिस विश्व समाज की संरचना कर रहे हैं उसमें रागात्मकता भी व्यापक साहित्यिक प्रतिमानों में व्याख्यायित हो रही है। सूचना तकनीकी की उपलब्धियों में निखरती संचार माध्यमों की शैलियाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति को भी प्रखरतर बना रही हैं। संचार माध्यम साहित्य के कथ्य-कथन, भाव-भंगिमा, प्रस्तुत-प्रस्तुति, सौंदर्य-शैली आदि सभी अंगों को प्रभावित कर साहित्य को अधिकाधिक लोकोन्मुखी, जीवनोपयोगी और उद्देश्यपूर्ण बना रहे हैं। संचार माध्यमों की गतिशीलता साहित्यिक रचनाओं में विचारशीलता बनकर उभर रही है। साहित्य का पठन-पाठन भी रूढ़िबद्धता से मुक्त होकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में हो रहा है। जहाँ पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में साहित्यिक गंभीरता स्वाभाविक रूप में रहती है वहीं पत्र-पत्रिकाओं की सहज-सरल प्रस्तुतियाँ साहित्य विशेषत: कथा-साहित्य में रोचकता प्रदान करती हैं। सहजता लघु कथाओं की लोकप्रियता का एक मुख्य कारण है। मुक्तक कविताओं का गत्यात्मक भाव सौंदर्य बिंब और प्रतीकों की बोझिलता को सह्य बना देता है।

विचारणीय है कि जब संचार माध्यम इतने प्रबल नहीं थे जितने आज हैं, उन दिनों जन-साधारण की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह साहित्य ही करता था। विश्व के भिन्न देशों में क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण हेतु साहित्य ही था। जन-जागृति के लिए समाज की सोच में परिवर्तन आवश्यक है और यह परिवर्तन मंदगति से ही सही, साहित्य लाता है। संचार माध्यम सोच को गति, प्रसार, प्रचार देते हैं, उसे प्रभावित भी करते हैं किंतु समाज की सोच भिन्न क्षेत्रों में भिन्न कारणों, साधनों, उपलब्धियों, परिणामों आदि से आए परिवर्तनों से संशोधित जीवन-मूल्यों से बनती-बिगड़ती है, निर्मित होती है। चूँकि साहित्य-रचना के केंद्र में जीवन-मूल्य चिंतन निहित है अत: समाज-सोच की निर्मिति में साहित्य की महत्त्वपूर्ण देन है। संचार माध्यम अपनी विशिष्ट प्रकृति, प्रवृत्तियों, साधनों, उपलब्धियों और प्रयोगों में साहित्यकार को सामाजिकता के नवीनतम स्वरूपों से अवगत रखते हुए उसे सामाजिक चेतना से युक्त रखते हैं। संचार माध्यमों के इस ऋण को साहित्य अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन-मूल्य चिंतन से प्रेरित साहित्य संचार माध्यमों को लोकोन्मुखी, लोकोपयोगी और लोकहित चिंतक बनाए रखता है और संचार माध्यम साहित्य को वर्तमान संदर्भों से युक्त रखता है। आज का ज्ञान कराने में संचार माध्यम विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करते हैं। साहित्य में आज के सन्निवेश में उभरता शाश्वत जीवन-मूल्यों को परिमार्जित करता चलता है। इस प्रक्रिया में साहित्य का शाश्वत और संचार माध्यमों का सद्य: अभिन्न नहीं रह जाते। यह अभिन्नता ही साहित्य और संचार माध्यमों को प्रतियोगी नहीं, सहयोगी बनाए रखती है।

परमानंद पांचाल

मिनिकॉय की भाषा और लिपि

भारत के संघ-शासित क्षेत्र लक्षद्वीप समूह का विचित्रताओं से भरा एक द्वीप है—मिनिकॉय। यह द्वीप भारत के दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर में स्थित है और केरल के कोच्चि समुद्र तट से 398 किलोमीटर की दूरी पर है। मार्कोपोलो ने 13वीं शताब्दी के अपने यात्रा वर्णन में इस द्वीप को 'स्त्री द्वीप' कहा था। कारण यह कि यहाँ पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की जनसंख्या तो अधिक है ही, जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियों का ही प्राधान्य है। संस्कृति, वेश-भूषा, खान-पान और भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी यह द्वीप अपने समीपवर्ती सभी द्वीपों से भिन्न है।

भाषा की दृष्टि से लक्षद्वीप के प्रायः सभी द्वीपों की भाषा अपने समीपवर्ती राज्य केरल की भाँति 'मलयालम' ही है, किंतु मिनिकॉय की भाषा एक भिन्न भाषा है, जिसे 'महल' कहा जाता है। यह भाषा भारत के अन्य किसी भी क्षेत्र में नहीं बोली जाती। इस भाषा की लिपि भी भिन्न है, जिसे 'दिवेही ताना' लिपि कहा जाता है। संसार की अन्य किसी भी भाषा की यह लिपि नहीं है।

यह आश्चर्य की बात है कि भारत के भाषाई मानचित्र पर इसका उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने *भारत के भाषा सर्वेक्षण* नामक अपने ग्रंथ में इसका नामोल्लेख तो किया है, किंतु विवरण केवल एक वाक्य में ही समाप्त कर दिया। भाषा विज्ञान के अन्य अध्येताओं ने भी इस भाषा के संबंध में अधिक प्रकाश नहीं डाला। हमारे प्रशासनिक क्षेत्र में भी इस भाषा को लेकर अभी भी एक प्रकार से अनभिज्ञता ही व्याप्त रही है। अधिकतर लोग सारे लक्षद्वीप की भाषा को मलयालम ही मान बैठे हैं, जबकि स्थिति इससे भिन्न है। इस भ्रांति का एक चित्र उस समय देखने को मिला जब 20 अक्तूबर 1985 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने यहाँ की एक सभा को संबोधित किया। मैं भी उनके साथ वहाँ उपस्थित था। अन्य द्वीपों की भाँति जब इस द्वीप में भी हिंदी से मलयालम में अनुवाद के लिए एक दुभाषिए की सेवाएँ ली गईं तो वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा कि आप हिंदी में ही बोलिए, हमें समझ आती है। जिज्ञासावश जब मैंने इस रहस्य को जानने की कोशिश की तो पता चला कि

हिंदी के प्रतिष्ठित रचनाकार परमानंद पांचाल का जन्म 1930 में हुआ। आलेख एवं समीक्षात्मक निबंध की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। गृह-मंत्रालय से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 232-ए, पॉकेट-1, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली 110091

वहाँ की भाषा मलयालम है ही नहीं। वहाँ मलयालम तथा अंग्रेज़ी की अपेक्षा बोलचाल की हिंदी से ही काम चल जाता है।

भाषिक दृष्टि से 'महल' भाषा भी भारोपीय परिवार की ही एक भाषा है, जो भारत के निकटवर्ती देश मालदीव में भी बोली जाती है। इस भाषा पर विचार करने से पूर्व यहाँ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी विचार करना प्रासंगिक होगा। इस द्वीप पर इस्लाम के प्रसार से पूर्व बौद्ध और हिंदू धर्म ही प्रचलित था। कुछ दिनों पूर्व यहाँ अलूड़ी के स्थान पर महात्मा बुद्ध की एक खंडित मूर्ति भी प्राप्त हुई है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। बौद्ध धर्म के कारण ही पाली और संस्कृत भाषा के अनेक शब्द जो उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित थे, यहाँ आए। सिंहली भाषा के शब्द भी इसे मिले, क्योंकि सिंहल द्वीप (श्रीलंका) के साथ ही यहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था।

कालांतर में यहाँ इस्लाम का प्रवेश हुआ और इनका सीधा संबंध अरब से हो गया। अरबी भाषा के अनेक शब्द इस भाषा में आए। यहाँ की भाषा ने अरबी लिपि तो स्वीकार नहीं की, किंतु उसके सहयोग से एक नई लिपि तैयार हो गई, जिसे 'दिवेही ताना' कहा जाता है। मिनिकॉय से कोई 80 किलोमीटर की दूरी पर 'मालदीव गणराज्य' स्थित है। भाषा और संस्कृति की दृष्टि से दोनों क्षेत्रों में भारी समानता है।

परिस्थितिवश दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी समान रही है। यह भी धारणा है कि इन सभी द्वीपों और श्रीलंका में भारत से आर्यों का प्रवेश एक ही समय हुआ था। बाद में बौद्ध धर्म भी साथ ही यहाँ फैला था। इसीलिए सिंहली भाषा और मालदीव तथा मिनिकॉय की भाषा में कुछ समान विशेषताएँ हैं, जबकि लक्षद्वीप के अन्य द्वीपों की भाषा में वह समानता नहीं है।

महल भाषा को 'दिवेही' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है—द्वीपों की भाषा। इस भाषा को श्री कोलिन पी. मासिका ने 'असंसक्त भारत-आर्यायी भाषाओं के अंतर्गत माना है, क्योंकि यह भाषा भी संसक्त भारत-आर्यायी' क्षेत्र की परिधि से बाहर स्थित है। मिनिकॉय के एक कवि, अब स्वर्गीय, श्री एम. अली इस्माइल ने मुझे बताया कि इस भाषा में काव्य परंपरा भी है। आकाशवाणी कोजिकोड (कालीकट) केंद्र से इस भाषा में संगीत प्रसारण भी होता है, जो यहाँ बहुत लोकप्रिय है। उसने स्वरचित अपनी एक कविता भी सुनाई। यहाँ इस समय इब्राहीम मानिकफान नाम से एक अन्य प्रसिद्ध कवि भी हैं।

'महल' भाषा को एक विकसित भाषा माना जा सकता है। इसका अपना साहित्य और अपनी पृथक लिपि है। भारतीय नृ-विज्ञान सर्वेक्षण के अनुसार 'महल' भारोपीय भाषा समूह के एक उप-परिवार सिंहली वर्ग की भाषा है।

1971 की जनगणना के अनुसार भारत में इसके बोलने वालों की जनसंख्या 5,035 थी। इसके बोलने वालों में मानिकफेन, रावरी ठाकरू और ठाकुरू फेन नाम की अनुसूचित जनजातियों के लोग हैं। भारत के भाषायी अल्पसंख्यक आयोग की 1981 की रिपोर्ट के अनुसार लक्षद्वीप के द्वीपों में 'महल' भाषा बोलने वाले लोगों की जनसंख्या 6,658 थी, जो लक्षद्वीप की कुल जनसंख्या का 15.15 प्रतिशत है। इस प्रकार महल भाषी लोग इस समय लगभग 8,000 के क़रीब हैं। इस भाषा का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि प्रायः यही भाषा निकटवर्ती मालदीव गणराज्य में भी बोली जाती है।

भाषिक दृष्टि से इस भाषा का हिंदी और पाली से अद्भुत साम्य है। संबंध तत्त्व और अर्थ तत्त्व दोनों दृष्टियों से ही इसमें अनेक समानताएँ लक्षित होती हैं।

बानगी के लिए कुछ शब्द यहाँ दृष्टव्य हैं—

परिता (परिचय), बस (भाषा), अमो (अम्मा), बफो (बापु, पिता), रूई (रुधिर), असगिन (अग्नि), सिंहा (सिंह), समसा (चमचा), सतरी (छतरी), दिवस (दिवस), देकुन (दक्षिण) उतरू (उत्तर), पुरवा (पूर्व), फुरि (पूर्ण, प्रा. पूरिता), हिला (शिला), ताबू (थंब, सं. स्तंभ), नौ (नाव), बी (सं. बधिर), मिरू (मधुर), अंदीरी (अँधेरा), इंगीली (उँगली), हकुरू (शक्कर, सं. इक्ष>इक्खु> इकखुरू>हकुरू), मादु (मध्य), फेन (पानी), अख (इक्षु), हुवै (शपथ, प्रा. सपद) हेकी (सं. साक्षी, प्रा. साखी), कानु (काना), कतीरी (योद्धा, सं. क्षत्रि), फुहेन (पूछना), बिस (अंडा, सं. बीज), अरबी (बेजा), फिरि (पुरुष, प्राकृत-पुरिषा), ओदान (सं. अवदान), फुरादान (प्रधान), 'फिरी' उपसर्ग से कई पुरुषवाचक संज्ञाएँ बनाई गई हैं यथा फिरिकलेगी=पति और फिरिकनबलि=बैल आदि।

इस प्रकार सर्वनामों में भी बहुत साम्य है—

मा (मैं), मा-जे (मुझसे), मा-रा (मुझको), तिया (तू), इना (वह), इनाया (उसको या उनको) आदि।

संख्यावाचक शब्द—

महल भाषा में गिनती और संख्या का क्रम भी प्रायः हिंदी के समान ही है। प्रो. विल्हेम गैगर के अनुसार कुछ अंक तो सिंहली की अपेक्षा पाली से अधिक मिलते-जुलते हैं। इनसे पता चलता है कि कभी उत्तरी भारत के साथ यहाँ का व्यापारिक और सामाजिक संबंध प्रगाढ़ रहा होगा। दिवेही की अंकतालिका दृष्टव्य है—

महल	हिंदी	महल	हिंदी
एके	एक	इगारा	ग्यारह
दे	दो	बारा	बारह
तिने	तीन	तेरा	तेरह
हतरे	चार	सौदा	चौदह
पहे, फहे	पाँच	फनरा	पंद्रह
हये	छह	सोला	सोलह
हते	सात	सतरा	सत्रह
अरे	आठ	उनवीहि	उन्नीस
नुबे	नौ	वीहि	बीस
दिहये	दस		

यही नहीं इससे आगे का संख्या क्रम भी लगभग समान है, जैसे—

21	इकवीस	29	उनतीरिस
22	बावीस	30	तीरिस
23	तेवीस	40	सालिस
24	सावीस	41	एकालिस
25	फसवीस	42	बयालिस
26	सब्बीस	50	फसास
27	हतवीस	100	सतेक (शत)
28	अरवीस	1000	हाहे (सहस्र)
		100000	लक्का (लाख)

हिंदी में सामान्यतः जिस प्रकार से संख्या में 'वाँ' प्रत्यय लगाकर क्रमांक निश्चित कर लिया जाता है। जैसे—पाँचवाँ, सातवाँ आदि। उसी प्रकार से महल में क्रमांक के लिए संख्या में 'वना' प्रत्यय लगाकर क्रम निश्चित कर लिया जाता है। जैसे—

महल	हिंदी
फुरतमा	प्रथम
देवना	द्वितीय
तिनवना	तृतीय
हतरावना	चतुर्थ
दिहावना	दसवाँ
सालिसवना	चालीसवाँ आदि

मिनिकॉय तथा मालदीव की भाषा को भारोपरीय परिवार की भाषा के रूप में स्वीकार करने के अनेक कारण हैं। इसकी शब्दावली और भाषा की प्रकृति के अध्ययन से सहज ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। 1795 से मालदीव के सुलतान द्वारा इस भाषा में लिखे गए एक पत्र का नमूना यहाँ दृष्टव्य है। इसकी

आरंभिक पंक्तियों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें संस्कृत मूल के कितने अधिक शब्द हैं। देखिए—

स्वस्ति श्रीमत महा श्री बरी कुश फुरदान
श्री कुल सद इरा सैक सस्त्रु ओदान
केतीरी अस्सुल्तान हसन नूरूद्दीन इस्कंदर कतीरी बोवन
महारदुन कोलुबु गोरूनुदोखि किया रासजेफना मित
लाक इस फरवा सलाम मनिकुफानुमीज कोलुबुगे इहु ऊ।

यहाँ स्वस्ति, श्रीबरी (श्रीभारी), फुरदान (प्रधान), सद (चंद्र), इरा (सूर्य), सस्तरू (शस्त्र), ओदान (अवदान), कतीरी (क्षत्रि) बोवन (भुवन), महा, लाक (लाख) आदि अनेक शब्दों का उद्‌गम संस्कृत में सरलता से खोजा जा सकता है।

भारत के राष्ट्रपति जी के सम्मान में जो मान-पत्र मिनिकॉय में प्रस्तुत किया गया था, उसकी एक प्रति यहाँ प्रस्तुत है। इसमें एक ओर महल भाषा दिवेही ताना लिपि में मूल पाठ है और दूसरी ओर उसका हिंदी रूपांतर है।

जैसा कि पहले कहा गया है—इस भाषा की लिपि संसार की अन्य लिपियों से भिन्न है। यह अरबी भाषा के अंकों पर आधारित है। अरबी या 'सामी' परिवार की भाषाओं की भाँति दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है। यह पूर्णत: एक मौलिक आविष्कार है, जो आविष्कर्ता (अज्ञात) की सूझ-बूझ का परिणाम है। श्री डी. सिल्वा के अनुसार 'ताना' लिपि स्वानिकी दृष्टि से पूर्णत: कुशल लिपि कही जा सकती है। वह तो यहाँ तक कहने को तैयार है कि शायद दक्षिण एशिया में सर्वाधिक वैज्ञानिक वर्णमाला इस लिपि की है। इसकी एक विशेषता यह है कि इस भाषा में स्वानिमिक महाप्राण पूर्णत: लुप्त है।

जैसा कि कहा गया है—महल भाषा की लिपि को 'दिवेही ताना' कहा जाता है। मालदीव में इसके तीन विभिन्न रूप मिले हैं। लैफ़्टिनेंट यंग और क्रिस्टोफ़र ने भी इन द्वीपों में अक्षरों की प्रकृति के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है। इनमें एक अति प्राचीन रूप है। उसने क़ब्रों पर लगे प्रस्तर-लेखों से पढ़कर यह अनुमान लगाया है कि यहाँ के अति प्राचीन लेखों की लिपि आज से बिलकुल भिन्न थी। यहाँ के निवासी इस प्राचीन लिपि को दिवेही हाकुर (दिवेही के अक्षर) नाम देते हैं। अब इस लिपि का ज्ञान रखने वालों की संख्या नगण्य ही रह गई है। यह लिपि ब्राह्मी लिपि की भाँति बाएँ से दाएँ को लिखी जाती थी। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके कुछ व्यंजनों का स्वरूप उनसे मिलने वाली विभिन्न स्वर-ध्वनियों के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। इसके अक्षरों की संरचना बिलकुल भिन्न थी।

प्रो. ग्रे का कहना है कि प्राचीन स्वरूप 12वीं सदी की प्राचीन सिंहल वर्णमाला से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। प्रो. गेगर का मत है कि यह लेखन पद्धति अशोक की वर्णमाला के अधिक समीप है। दिविस अकरू के उद्‌गम के संबंध में उनका अनुमान है कि इसका संबंध मध्यकालीन सिंहली से इतना नहीं है, जितना दक्षिण भारत के मालाबार ज़िलों की 'तुलु' से है, जो लक्षद्वीप और मालदीव के ठीक सामने स्थित है।

दूसरी लिपि अरबी पर आधारित है। इसके दो भिन्न स्वरूप थे। और नवीन। इस समय इसका प्राचीन स्वरूप प्रचलित नहीं है। क़ब्रों पर लिखे प्रस्तर लेखों से स्पष्ट है कि इनसे पूर्व 'दिवेही' स्वरूप प्रचलित था, जिसे 'अवेला' कहते हैं। इस्लाम के आगमन के बाद अरबी का यह स्वरूप प्रचलित हुआ। ताना की लेखन प्रणाली भी कई प्रकार की है। इनमें अरबी से प्रभावित प्रणाली का नाम 'गबली-ताना' है।

वर्णमाला के अक्षरों को अंकों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और उन्हें दस की बजाय 12 के क्रम से गिना जाता है। प्रो. ग्रे का विचार है कि वर्तमान लिपि चिह्न पर आधारित है जो अरबी के नौ अंकों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इन लिपियों की एक सारिणी यहाँ प्रस्तुत है—

जेम्स प्रिंसेप के अनुसार वास्तव में ये अक्षर अरबी के नौ अंक ही हैं। उनका शून्य के अंक से विभेद करने के लिए उनके ऊपर डैश का चिह्न लगा दिया जाता है। स्वर संकेत प्रणाली कुछ तो अरबी की नकल और कुछ भारतीय पद्धति की।

दिवेही के संबंध में अनेक भाषा वैज्ञानिकों ने कार्य किया है। श्री डी. सिल्वा ने मालदीवी लेखन प्रणाली की भाषा-वैज्ञानिक कुशलता पर प्रकाश डालते हुए 'महल भाषा' और 'दिवेही' के संबंध में 1969 में कई खोजपूर्ण तथ्य सामने रखे थे।

इरू 1980 नाम से माले से एक पुस्तिका *बिधेसी* नाह फाही दिवेही (विदेशियों के लिए सरल दिवेही) भी प्रकाशित हुई, जो दिवेही जानने के लिए एक उपयोगी पुस्तक है। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रो. विल्हेम गेगर ने इस भाषा का 1919 में एक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था, जिसमें उसने इब्न बतूता से लेकर तब तक के विद्वानों द्वारा किए गए कार्य का सिंहावलोकन किया है। इन विद्वानों में फ्राँसिस पियार्ड, लीडन, कोपन-हेगन, जेम्सप्रिंसेप, विलमोट, क्रिस्टोफ़र, साइमन, केसी चिट्टी, मुदालियर, जेम्स डी अलविस, लूई डी जोइसा, एल्बर्ट ग्रे, इब्राहीम दीदी एफ़ेंडी तथा अब्राहम मेंडिस, गुणसेखर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आजकल सी.एच.बी. रेनोल्ड, टर्नर तथा एम. अली इस्माइल का कार्य भी प्रशंसनीय है। आशा है भारतीय भाषा वैज्ञानिक भी इस शोध कार्य को आगे बढ़ाने में अपना योगदान देंगे, क्योंकि इस भाषा पर संस्कृत, पाली, तुलु, मलयालम, हिंदी और बाङ्ला का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ साइमन के. चिट्टी का यह उद्धरण भी बड़ा प्रासंगिक है, जिसमें उसने मालदीव को 'मलयद्वीप' की संज्ञा देते हुए लिखा है कि दिवेही भाषा में अरबी और बाङ्ला के शब्द भी पहुँचे हैं। उसने लिखा है कि नवंबर में कल्पेंटीन के स्थान पर मालदीव की एक नौका आई। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नाख़ुदा (मल्लाह) बड़ी कुशलता से हिंदुस्तानी में बोल रहा था। मिनिकॉय की इस भाषा को यदि 'दिवेही ताना' के साथ-साथ वैकल्पिक रूप में देवनागरी लिपि में भी लिखने के प्रयास आरंभ किए जाएँ, तो इससे देश की भाषाई एकता में बड़ी सहायता मिलेगी और अन्य भारतीयों के लिए भी यह भाषा सुगम्य बन सकेगी।

देवेंद्र चौबे

सामाजिक एवं सांस्कृतिक संक्रमण

पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में भारतीय समाज का सामंतवाद और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ जो संघर्ष हुआ है, उससे जनता विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया में एक संक्रमण के दौर से गुज़री है तथा उसका गहरा असर भारतीय और हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। है। ख़ासकर हिंदी में उपन्यास, आलोचना, खड़ी बोली काव्य आदि जैसी विधाएँ एवं रचनाएँ भारतीय सामंतवाद एवं अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ प्रतिरोध दर्ज कराने के दौरान ही विकसित हुई हैं। दूसरे शब्दों में, भारत में उपन्यास के उदय के प्रमुख कारणों में ईस्ट इंडिया कंपनी की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों के साथ ही 1857 के बाद की अंग्रेज़ी शिक्षा तथा ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक नीतियों की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

बाङ्ला के बंकिमचंद (1865, *दुर्गेशनंदिनी,* 1882 : *आनंदमठ*), ओड़िया के फ़क़ीर मोहन सेनापति (1897 : *छ माण आठ गुंठ*), हिंदी के लाला श्रीनिवास दास (1882 : *परीक्षागुरु*) आदि के उपन्यासों को इस नज़रिए से देखा जा सकता है। इसका अनुमान इसी बात से भी लगाया जा सकता है कि बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखक अपने आलोचनात्मक लेखन के कारण ही ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों के शिकार होते हैं और उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिका *हिंदी प्रदीप* 1908 में एक सरकारी अध्यादेश के बाद बंद हो जाती है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने आलोचनात्मक लेखों में कवियों की नायिका भेद चित्रण जैसी सामंती प्रवृत्तियों का विरोध 1903 में *सरस्वती* के संपादक बनने के साथ ही शुरू कर देते हैं। प्रेमचंद 1918 में प्रकाशित अपने हिंदी के पहले उपन्यास *सेवासदन* से लेकर 1936 में *गोदान* में क्रमशः एक तरफ़ जहाँ भारतीय सामंतवादी व्यवस्था का विरोध करते हुए समाज में सुमन जैसी स्त्रियों की दुर्दशा का बयान करते हैं, वहाँ दूसरी तरफ़ भारतीय सामंती प्रवृत्तियों एवं अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी नीतियों की आलोचना भी करते हैं।

कथाकार और आलोचक देवेंद्र चौबे का जन्म 1965 में हुआ। इनकी कहानी एवं आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 3, पेरियार हॉस्टल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फ़ोन : 26189186

महादेवी वर्मा 1942 में प्रकाशित *शृंखला की कड़ियाँ* में भारतीय समाज की पितृसत्तात्मंक सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं की दुर्दशा का बयान करती हैं और स्त्री मुक्ति की बातें करते हुए विकास के लिए उन्हें ज्ञान की परंपरा से जुड़ने की सलाह देती हैं। ध्यान देने की बात है कि यह सब एक ख़ास दौर में यानी कि स्वाधीनता आंदोलन के दौरान होता है। लेकिन क्या कारण है कि अचानक हिंदी में 1965 के बाद, ख़ासकर, 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना के बाद एक नए प्रकार का साहित्य आना शुरू हो जाता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह आंदोलन और उससे उपजा साहित्य भी 1947 में देश की आज़ादी के बाद पहली बार सातवें दशक में खेतिहर मज़दूरों और किसानों सहित समाज के कमज़ोर तबके की एक नए प्रकार की ग़ुलामी और सामंती व्यवस्था की चर्चा करने लगता है और 22 अप्रैल 1969 में गठित भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) चारू मजूमदार के नेतृत्व में उत्पीड़ित समाज की मुक्ति के लिए एक नई लोकतांत्रिक व्यवस्था की माँग करने लगता है। महाश्वेता देवी इसी दौरान नक्सलवादी आंदोलन से जुड़े युवाओं की पुलिस द्वारा की जा रही नृशंस हत्याओं पर *हज़ार चौरासी की माँ* (1974) जैसा उपन्यास लिखती हैं और हिंदी में, सातवें दशक में धूमिल, राजकमल चौधरी जैसे कवि भी यह घोषणा करने लगते हैं कि यह आज़ादी झूठी है, तत्कालीन लोकतांत्रिक पद्धतियाँ आदमी को नपुंसक एवं अपाहिज बना रही हैं; इसीलिए अब एक दूसरे प्रजातंत्र यानी कि एक नई लोकतांत्रिक व्यवस्था की ज़रूरत है।

इसी समय कृष्णा सोबती 1967 में प्रकाशित उपन्यास *मित्रो मरजानी* में एक ऐसी स्त्री चरित्र को लेकर आती है जो पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था की सारी हदों को पार करते हुए स्त्री के एक स्वतंत्र वजूद की माँग करती है। जगदीशचंद्र 1973 में प्रकाशित उपन्यास *धरती धन न अपना* में भारतीय सामंती व्यवस्था में जीवन-यापन कर रहे काली जैसे दलित चरित्र की मार्मिक दशा का बयान करते हैं/जो बाद में, सही मायने में क्रमशः 1995, 1997, 2002 एवं 2006 में प्रकाशित मोहनदास नैमिशराय के *अपने अपने पिंज़रे,* ओमप्रकाश वाल्मीकि के *जूठन,* सूरजपाल चौहान के *तिरस्कृत* (एवं 2006 में *संतप्त*) और श्यौराज सिंह बेचैन के *बेवक़्त गुज़र गया माली* (*हंस,* फ़रवरी : 2006) में दिखलाई पड़ता है जहाँ अपनी-अपनी ज़िंदगी की हक़ीक़तों का बयान करते हुए ये दलित आत्मकथाकार भारतीय वर्ण-व्यवस्था की विसंगतियों का विरोध करते हुए ग़ैर दलित समाज के प्रति अपना प्रतिरोध दर्ज करते हैं। रही-सही कसर 2004 में आकर निर्मला पुतुल जैसी आदिवासी लेखिकाएँ *अपने घर की तलाश में* जैसे काव्य-संग्रह में पूरा कर देती है, जो शेष भारतीय समाज से यह सवाल करती हैं कि बिना उनकी (आदिवासी समाज) रज़ामंदी और ज़िंदगी की हक़ीक़तों को समझे उनकी ज़मीनों पर बाँध क्यों बनाया जा रहा है अथवा सड़कें क्यों और कैसे बन रही हैं और उन्हें बनाने वाले लोग कौन हैं?

इसलिए इतना ज़रूर पूछना चाहूँगी / कि नदी पर बाँध क्यों बन रहा है ?/ किसलिए नाप-जोख हो रही है हमारे / गोचर ज़मीन की ?/ क्या चीज़ का सर्वे चल रहा है ?/ और यह जो सड़क बन रही है / कितने के बजट की है ?/ इसका ठेकेदार कौन है ?/ कहाँ का है ?/ ज़रूर पूछना चाहूँगी! (*अपने घर की तलाश में,* रमणिका फ़ाउंडेशन, दिल्ली)

यह सवाल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के परिवर्तन और विकास का गहरा असर संबंधित समाज पर पड़ता है तथा एक निश्चित अवधि के लिए संबंधित समाज संक्रमण की

अवस्था में चला जाता है। नर्मदा बचाओ आंदोलन से जुड़ी मेधा पाटेकर विस्थापन की अवस्था से गुज़र रहे आदिवासी समाज की जिन चिंताओं को लेकर पिछले कई दशकों से आंदोलनरत हैं, वह परिवर्तन और विकास की इन्हीं असमान प्रक्रियाओं की देन है। इसे वीरेंद्र जैन के उपन्यास *डूब* (1991) और रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार (2004) से पुरस्कृत पूरन हार्डी की *बुड़ान* में देखा जा सकता है, जहाँ दोनों कथाकार विकास योजनाओं के नाम पर विनाश के लिए अभिशप्त एवं संक्रमण की ज़िंदगी जी रहे समाज की विस्थापन से लेकर सरकारी तंत्र की नाकामियों की त्रासदियों का बयान मार्मिकता के साथ करते हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार के परिवर्तन और विकास उस समाज को ऐसी स्थिति में ला पटकते हैं, जहाँ से उन्हें मुक्ति का रास्ता दिखलाई नहीं पड़ता है; शेष समाज को बेहतर विकल्प और विकास के लिए मौक़ा ज़रूर मिल जाता है जिसकी तरफ़ निर्मला पुतुल की उपर्युक्त पंक्तियाँ भी संकेत करती हैं। *बुड़ान* की निम्नलिखित पंक्तियाँ विस्थापित समाज की जिन विडंबनाओं की तरफ़ संकेत करती हैं, वहाँ विकास की तसवीरें तो दिखाई पड़ती है; पर ज़िंदगी के नाम पर अब वहाँ सिर्फ़ जल है—मनुष्य तो लुप्त हो ही गया हैं, ज़िंदगी की तलाश में गई डोंगरी की विशाल परछाई भी कहीं विलीन हो गई है :

जब वे वापस लौट रहे थे तब उनकी लंबी परछाइयाँ पानी पर थिरक रही थीं। कुछ देर बाद किनारे में फैली हुई उजाड़-काली और पथरीली डोंगरी की विशाल परछाईं में उनकी परछाईं विलीन हो गई। धीरे-धीरे डोंगरी की परछाई भी लुप्त हो गई। अब वहाँ सिर्फ़ जल था। शांत और बँधा हुआ जल। (*कथादेश,* सं : हरिनारायण, फ़रवरी, 2003)

ज़ाहिर है, यहाँ सिर्फ़ परछाइयाँ ही लुप्त नहीं हुई हैं, बल्कि एक समाज का पूरा वजूद ही लुप्त हो गया है, जिसकी खोज में गन्नू और चोंई एक छोटी-सी डोंगी और पतवार लेकर जाते हैं। वह समाज अब चाहे जहाँ कहीं भी हो, पर अपने मूल स्थान पर तो नहीं ही है। टिहरी के लोग भी विकास की इन्हीं विडंबनाओं के शिकार हैं। पर कई बार विकास की प्रक्रिया से जुड़ने की अनिवार्यता भी व्यक्ति अथवा समाज को हाशिए पर ढकेलने में बड़ी भूमिका निभाती है, जब स्थान-परिवर्तन होते हैं। इस स्थिति में स्थान-परिवर्तन के कारण संक्रमणकालीन जीवन जी रहा वह व्यक्ति अथवा समाज एक निश्चित अवधि के लिए हाशिए का आदमी या हाशिए का समाज बन जाता है। 'शनीचरी' कहानी में महाश्वेता देवी ने विकास के लिए जंगल से बाहर मुख्यधारा में गए आदिवासी समाज की स्त्रियों की संक्रमणकालीन स्थितियों एवं दुर्दशा का चित्रण करते हुए लिखा है : "ईंट बिठाओ, ईंट बिठाओ शनीचरी। कहाँ आई तू, किस देश में—कुछ समझ में आया ? रहमत का बच्चा पेट में लेकर दूर-दूर तक फैले धान के खेत को उदास आँखों में आँसू लिए देखती रहती हो। ऐसा बँधुआपन ! तुम शायद जानती हो, यह तुम्हारा क़ैदख़ाना है। तू जानती नहीं इस देश की भाषा। किस रास्ते से आई थी, शायद उसका पता भी भूल गई है।" ('ईंट के ऊपर ईंट', बंगला से अनुवाद : प्रमोदकुमार सिन्हा)

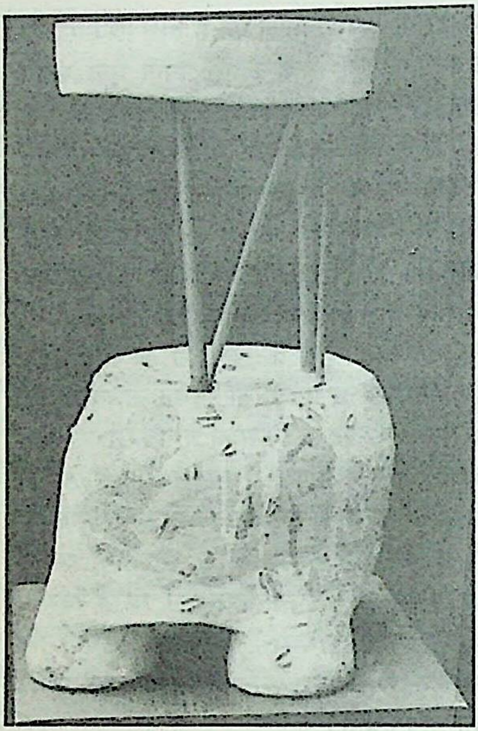
महाश्वेता देवी की 'शनीचरी' कहानी की उपर्युक्त पंक्तियाँ बताती हैं कि संक्रमणकाल में एक आदिवासी स्त्री को किस प्रकार की अमानवीय स्थितियों से गुज़रना पड़ता है। ये स्थितियाँ एक तरफ़ जहाँ अमानवीयता की सीमाओं को पार करती हैं, वहाँ दूसरी तरफ़ इस बात का भी संकेत करती हैं कि अपने मूल स्थान से दूर जाने और नई जगह पर व्यवस्थित होने के बीच आदिवासी या कोई भी समाज अपनी संस्कृति, भाषा और भूगोल से भी दूर

होने लगता है। उसकी आदतें बदल जाती हैं। उसके चरित्र में परिवर्तन आने लगता है। यहाँ तक कि अगर कोई आदिवासी विकास की प्रक्रिया से जुड़ने के लिए अपना मूल स्थान छोड़कर शहर जाता है, तो नए स्थान पर व्यवस्थित होने तक उसे एक संक्रमण की ज़िंदगी जीनी पड़ती है। कभी-कभी संक्रमण की यह ज़िंदगी इतनी लंबी होती है कि नए स्थान पर वह (आदिवासी) अनेक तरह की विडंबनापूर्ण स्थितियों का शिकार होता है। संताल परगना को छोड़कर दिल्ली गई एक आदिवासी युवती की विडंबनापूर्ण ज़िंदगी का बयान करते हुए *तुम कहाँ हो माया?* में निर्मला पुतुल ने लिखा है :

दिल्ली के किस कोने में हो तुम?/ मयूर विहार, पंजाबी बाग़ या शाहदरा में? / कनॉट प्लेस की किसी दुकान में / सेल्सगर्ल हो / या किसी हर्बल कंपनी में पैकर/ वसंत विहार की किस मार्केट में काम कर रही हो?/ किसी एस.टी.डी. बूथ में ऑपरेटरी / या किसी घरेलू कामगार महिला संगठन से / जुड़कर / बन गई हो किसी घर की आया?/ किसी गर्ल्स हॉस्टल में रहते / जाती हो रात-बिरात कॉल-गर्ल बन / होटलों में / या फिर शांति के नाम पर किसी मिशन ने / बनाकर रख लिया है तुम्हें नन?/ कहाँ हो तुम माया?/ कहाँ हो?/ कहीं हो सही-सलामत या / दिल्ली निगल गई तुम्हें?...अब तो जान गई न / कि यह जो दूर से चमचमाता हुआ शहर है /दिल्ली /नहीं हम जैसों के लिए / क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता माया / कि वह ऐसा श्मशान है जहाँ / ज़िंदा दफ़न होने के लिए भी लोग लाईन / में खड़े हैं? ('अपने घर की तलाश में')

और निर्मला पुतुल संक्रमण काल में हाशिए की ज़िंदगी जी रही माया को सलाह देती है : *तुम उस लाईन को तोड़कर बाहर आ जाओ माया / लौट जाओ, जहाँ भी हो* । उस माया से जो उसके अपने समाज की है तथा विकास की प्रक्रिया से जुड़ने के लिए अपना मूल स्थान छोड़कर एक नए स्थान दिल्ली यानी कि देश की राजधानी आती है तथा संक्रमणकालीन विडंबनाओं का शिकार होकर अपना सब कुछ गँवाकर हाशिए का आदमी बन बैठती है। यहाँ तक कि अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान तथा स्त्रीत्व तक भी खो देती है जैसा कि महाश्वेता देवी के शनीचरी के साथ होता है! शनीचरी के पेट में तो रहमत का बच्चा है, पर माया के पेट में किसका है, किसी को पता नहीं : *उस वक़्त पेट में तुम्हारे / पल रहा था किसी / का बच्चा भी / शायद किसी पंजाबी का ज़िक्र कर रही थी /...उससे पहले भी कइयों के / ज़िक्र की थी / किसी वकील, किसी टैक्सी-ड्राइवर, बैंक-अधिकारी,/ और एक छुटभैया नेता का / यहाँ तक कि मिशन के किसी / बूढ़े फ़ादर का भी।* (वही)

दरअसल निर्मला पुतुल की चिंता इस बात को लेकर भी है कि सामाजिक ज़िंदगी की मुख्यधारा में वह स्त्री भी हाशिए की स्त्री बन जाती है जिसकी संतान या तो अनैतिक होती है अथवा वर्ण-संकर चरित्र की। सीमोन द बोउवार ने *द सेकेंड सेक्स* में लिखा है कि विवाह : 'औरत की एक नियति होती है।' जिससे मुक्त होना उसके लिए असंभव होता है। इस संबंध से उत्पन्न संतानें समाज में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। इसलिए कि वे संपत्ति का वास्तविक उत्तराधिकारी होती हैं। आगे उन्होंने लिखा है कि इस संबंध के बाद "पुरुष बड़ी चालाकी से पत्नी से पवित्र बनी रहने की शपथ ग्रहण करवा लेता है, पर वह स्वयं इस सामाजिक व्यवस्था से संतुष्ट दिखाई नहीं पड़ता।" यानी कि स्त्री तो पवित्र बनी रहे, पर उसकी यह ज़िम्मेदारी नहीं है कि नैतिकता के उन मानदंडों को वह भी माने। क्या इसलिए कि अघोषित रूप से समाज



ने पुरुष को नैतिक रूप से यह ज़िम्मेदारी दे रखी है कि वह स्त्रियों को नियंत्रित करे, पर ख़ुद व्याभिचारी बना रहे? पर, माया की संतान का क्या होगा जिसके पति के बारे में यह तय नहीं है कि वह कौन है? उसके पेट में किसका बच्चा है? इतना ही नहीं, सवाल यह भी है कि क्या समाज उसे इस कारण व्याभि-चारिणी समझेगा? शेष समाज का तो पता नहीं, पर निर्मला पुतुल ज़रूर माया से यह कहती है कि वह मुख्यधारा के समाज को छोड़कर वापस पुनः अपने आदिवासी समाज में आ जाए। जहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। सब बराबर हैं।

पर, मुख्यधारा के समाज का क्या करें? ख़ासकर उस पुरुष-वर्चस्वादी समाज का, जिसकी निगाह में संक्रमणकालीन जीवन जी रही एक स्त्री की अस्मिता कुछ होता भी नहीं है, फिर आदिवासी स्त्री के वजूद के क्या मायने? निर्मला पुतुल ने लिखा है : वैसे भी *रसोई और बिस्तर के / गणित से परे / एक स्त्री के बारे में।* पितृसत्तात्मक समाज की राय कुछ होती भी नहीं है। संभवतः इसीलिए एक स्त्री अपने अंदर एक पूरे घर को समेटे हुए भी ज़िंदगी भर अपने होने का अर्थ ढूँढ़ती रहती है : *धरती के इस छोर से उस छोर तक / मुट्ठी भर सवाल लिए मैं / दौड़ती-हाँफती-भागती.../ तलाश रही हूँ सदियों से / निरंतर.../ अपनी ज़मीन, अपना घर / अपने होने का अर्थ।* (वही, पृष्ठ : 3)

और यही स्त्री जब पितृसत्तात्मक समाज में अपना स्वतंत्र वजूद निर्मित करना चाहती है, तब मुख्यधारा का समाज उनके साथ कितना क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार करता है, 'उसे कुछ मत कहो सजोनी किस्कू!' की निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है :

बस! बस!! बस!!! / कुछ मत कहो सजोनी किस्कू! / मैं जानती हूँ सब / जानती हूँ कि अपने गाँव / बागजोरी की धरती पर / जब तुमने चलाया था हल / तब डोल उठा था / बस्ती के माँझी थान में बैठे देवता का सिंहासन / गिर गई थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठे / मगजहीन माँझी हाड़ाम की पगड़ी / पता है बस्ती की नाक बचाने की ख़ातिर / तब बैल बनाकर हल में जोता था / जालिमों ने तुम्हें / खूँटे में बाँधकर खिलाया था / भूसा। (वही, पृष्ठ : 20)

जबकि इस स्त्री समाज का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। संताल-विद्रोह के समय आदिवासी समाज की इन्हीं स्त्रियों ने जीवन-यापन के आर्थिक-स्रोतों एवं संसाधनों को सँभाला तथा सँजोया था। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्रियों के गौरवमय इतिहास को याद करते हुए पुरुषों से यह सवाल करती हैं कि क्या : *वे भूल गए संताल-विद्रोह के समय / जब छोड़ गए थे तुम पर सारा घर-बार / तुम्हीं ने किए थे तब हल जोतने से लेकर / फ़सल काटने तक के सारे कार्य-व्यापार / तब नहीं गिरी थी उनकी पगड़ी /*

धरती नहीं पलटी थी तब / कटी नहीं थी किसी की नाक। (वही)

दरअसल आदिवासी समाज में स्त्री के जिस सामाजिक यथार्थ की तरफ़ यह कविता संकेत करती है, वह स्त्रियों के बारे में मुख्यधारा के समाज और उनकी सोच से बहुत भिन्न नहीं है। स्त्री जीवन का यह यथार्थ इस बात की तरफ़ भी संकेत करता है कि धर्मों और शास्त्रों ने स्त्रियों की ग़ुलामी को बढ़ाने में एक बड़ी भूमिका निभाई है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि *नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः। निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियेऽनृतमिति स्थितिः॥ 9.18॥* अर्थात् "धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि स्त्री का जातिकर्मादि-संस्कार मंत्र-विहीन हो, क्योंकि वह अज्ञानी होती है। मंत्र की अनाधिकारिणी होने से उनकी स्थिति मिथ्या ही होती है।" यानी कि वह सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में होते हुए भी दलित सदृश उन अधिकारों से वंचित है जिनसे सामाजिक जीवन में किसी का एक स्वतंत्र वजूद निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में मुख्यधारा के लिए उनका अस्तित्व ही मिथ्या है। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि एक तरफ़ तो यही पुरुष-समाज धर्म और शास्त्र के सहारे उनको (स्त्रियों) उत्कृष्टता एवं पवित्रता का प्रतीक बना उन्हें *देवी* जैसे मिथकीय चरित्रों में तब्दील कर देता है तो दूसरी तरफ़ उन्हें ग़ुलाम बनाकर उनकी उन जातीय स्मृतियों एवं इतिहासों को भी नष्ट कर देता है जिनसे उनका एक स्वतंत्र वजूद बनता है तथा जिसकी तरफ़ संताल-विद्रोह के माध्यम से निर्मला पुतुल संकेत करती हैं। सीमोन द बोउवार ने स्त्री के मिथकीकरण की चर्चा करते हुए इस बात की तरफ़ संकेत किया है कि *स्त्री का मिथ मानो एक स्वतंत्र व्यक्ति के वास्तविक संबंधों को मृगतृष्णा पर आधारित विचार में बदल देता है।* (*स्त्री : उपेक्षिता,* पृष्ठ 119) दूसरे शब्दों में, मानो पितृसत्तात्मक समाज ने उनके चरित्र को इतना अधिक रहस्यमय बना दिया है कि उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व ही कहीं खो गया है! उनका होना न होने के बराबर है। उनकी कोई ज़मीन है ही नहीं, जिस पर खड़ी होकर स्त्री-शरीर के परे वह अपने होने का अहसास करा पाए।

कहना न होगा कि यह वही संक्रमणकालीन दौर होता है, जब कोई स्त्री, व्यक्ति अथवा समाज हाशिया का आदमी या हाशिया का समाज में तब्दील हो जाता है। हिंदी की अर्चना वर्मा, शुभा, कात्यायनी, अनामिका, निर्मला गर्ग, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी आदि महिला कवयित्रियों की तरह निर्मला पुतुल भी इस बात की तरफ़ संकेत करती हैं कि *स्त्री* भी सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर एक हाशिए का वजूद लिए हुए है तथा जिसे वह ज़िंदगी भर ढोने के लिए बाध्य है। वह उस दरवाज़े की तरह है जिसे खोलने के लिए लगातार पीटा जाता है, इतना अधिक कि वह खुलती ही जाती है : *मैं एक दरवाज़ा थी / मुझे जितना पीटा गया / मैं उतनी खुलती गई।* (*कहती है औरतें* सं. अनामिका; मृणाल पांडे की *लड़कियाँ* की उन तीनों लड़कियों की तरह जिन्हें पवित्र समझकर पूजा तो जाता है पर लड़कों की तरह मुख्यधारा का आदमी नहीं समझा जाता है जिसे महसूस करते हुए मँझली लड़की परिवार में यह सवाल उठाती है कि "*जब तुमलोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते तो झूठ-मूठ में उनकी पूजा क्यों करते हो?*" (*साहित्य से संवाद* : गोपेश्वर सिंह)। दरअसल स्त्रियों की ज़िंदगी का यह वही नैतिक द्वंद्व होता है जो उनके होने के वजूद को लेकर उन्हें परेशान करने लगता है तथा जिसकी तलाश में संघर्ष जैसी स्थितियाँ पैदा होती हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रॉबर्ट इ. पार्क ने इस स्थिति में एक स्त्री या हाशिए के लोगों के चरित्र में आ रही तब्दीलियों को लेकर लिखा है : "संक्रमण-काल में उनके चरित्र में नैतिक

द्वंद्व और संघर्ष की भावना विकसित होने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप वे पुरानी आदतें छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं। लेकिन नई आदतें इतनी जल्दी बन नहीं पाती हैं, जिसके कारण अपने आपको वे हाशिए पर खड़ा महसूस करते हैं।'' (दी अमेरिकन जरनल ऑफ़ सोसियोलॉजी, मई–1928, नं.–6, पृष्ठ–893)

स्थान–परिवर्तन की प्रक्रिया में संक्रमणकालीन जीवन की तीन स्थितियों की चर्चा करते हुए समाजशास्त्री एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट ने इस बात का उल्लेख किया है कि ''कई बार व्यक्ति अथवा समाज को यह पता ही नहीं चलता है कि वह दो संस्कृतियों के बीच पल रहा है। वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि उसका व्यक्तित्व किन समस्याओं से गुज़रने वाला है।'' दूसरी स्थिति, ''संकट के चक्र की होती है जिसमें व्यक्ति को इस बात का अहसास हो जाता है कि वह दो संस्कृतियों के अंतर्द्वंद्व के बीच जी रहा है। इस अवस्था में व्यक्ति के अंदर कुछ विशेष प्रकार के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। उसकी बेचैनी बढ़ जाती है तथा वह अन्य लोगों से खिंचा–खिंचा रहने लगता है। किसी बड़ी घटना से उसकी आँख खुल जाती है तथा दोनों संस्कृतियों के बीच के खिंचाव को महसूस करते हुए उसकी एक महत्त्वपूर्ण आदत क्रियाशीलता बन जाती है।'' तीसरी स्थिति, ''संक्रमणकाल की चरमावस्था—प्रतिरोध की होती है। इसमें व्यक्ति अथवा समाज अपनी दिशा तय कर लेता हैं।'' ('द प्रॉब्लेम ऑफ़ मार्जिनल मैन' : एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट; दी अमेरिकन जरनल ऑफ़ सोसियोलॉजी, अंक–XLI, जुलाई 1935, नं. 1, पृष्ठ–1)

इतना ही नहीं, इस अवस्था की चर्चा करते हुए स्टॉनक्वीस्ट ने इस बात की तरफ़ भी संकेत किया है कि संक्रमणकाल में रह रहा व्यक्ति अथवा समाज ऐसी स्थिति में कई बार ताक़तवर समूह की ओर बढ़कर उसमें शामिल होने की कोशिश करता है या कई बार उस प्रभावशाली समूह के प्रति विरोध ज़ाहिर कर क्रांतिकारी अथवा उग्र राष्ट्रवादी भी बन जाता है।

ज़ाहिर है, संक्रमण काल एक तरफ़ जहाँ व्यक्ति, समूह अथवा समाज को प्रतिरोध के लिए तैयार करता है, वहाँ दूसरी तरफ़ उन्हें तोड़ता भी है।

पर, कई बार संक्रमण काल में निर्मित अजनबीयतपन या बेचैनी की स्थितियाँ किसी बड़े विद्रोह को जन्म देती हैं या विद्रोह को ताक़त प्रदान कर उसे एक बड़े आंदोलन में तब्दील कर देती हैं। ब्रिटिशकालीन भारत में आदिवासियों द्वारा किए गए विद्रोहों को भी इसी नज़रिए से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए बिरसा मुंडा द्वारा 1899–1900 में किया गया मुंडा विद्रोह को हम ले सकते हैं जिसमें मुंडा एक तरफ़ जहाँ ज़मींदारों के शोषण से उत्पीड़ित थे, वहाँ दूसरी तरफ़ अपनी जाति और धर्म छोड़कर ईसाई बनने के बाद भी नई सामाजिक ज़िंदगी में दोहरा जीवन जीने को बाध्य थे। धोबी के उस गदहे की तरह जो न घर का होता है, न घाट का। इसीलिए आज भी जब आदिवासी समाज अपने आपको संकट में पाता है, बिरसा मुंडा को याद सबसे पहले करता है :

हमने नहीं देखा तुझे पहले / लेकिन केवल तुम ही / हमारे विद्रोह को / दिशा देते हो तब तुमने ही तो किया था संघर्ष / गोरो को खदेड़ने की ख़ातिर /...आज न गोरे हैं / न सपनों की आज़ादी / आज न घने बीहड़ हैं / ना तू है / है केवल बीहड़ों में फैलता असंतोष / होंठो पर तेरा नन्हा–सा गीत / ऊलगुलान! ऊलगुलान! ऊलगुलान! / जो बन गया है हमारी संस्कृति की लड़ाई /...बरसा तुम्हें कहीं से भी / आना होगा / ...कहीं से भी आ मेरे बिरसा / खेतो की बयार बनकर / लोग तेरी बाट जोहते ! ('आ मेरे

बिरसा' : भुजंग मेश्राम, युद्धरत आम आदमी : सं.रमणिका गुप्त, अंक : 55, विशेषांक : 2001)

ज़ाहिर है, भुजंग मेश्राम की यह कविता एक तरफ़ जहाँ संक्रमणकाल में जी रहे आदिवासी समाज की त्रासदियों का चिंताजनक चित्र खींचती है, वहीं दूसरी तरफ़ बिरसा मुंडा को संक्रमण या किसी भी प्रकार की समस्याओं से मुक्ति दिलाने वाले सबसे बड़े विद्रोही (ऊलगुलानी) नायक के रूप में स्थापित करती है। यह एक बड़ी बात है। पीटर पॉल एक्का ने उपन्यास *जंगल के गीत* (1999) में करमा भगत के इसी विद्रोही चरित्र को खींचा है तथा बताया है कि करमा भगत के इस विद्रोही चरित्र के निर्माण का एक बड़ा कारण सामंती एवं औपनिवेशिक व्यवस्था की लूट की नीति का विरोध है। विरोध की इस प्रक्रिया में करमा भगत अंग्रेज़ों से बचने के लिए स्थान-परिवर्तित करता रहता है। स्थान-परिवर्तन की इस प्रक्रिया में करमा भगत उस क्रांति की बातें करता है जिसकी तरफ़ इशारा करते हुए एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट संक्रमणकालीन चरित्र की चर्चा करते हुए क्रियाशील आदतों का उल्लेख करते हैं। देखें, जंगल के गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ : ''ऊलगुलान हो जाए तो मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा। यहाँ मेरा दम घुटता है, जी चाहता है धनुष-तीर लेकर सामने निकल जाऊँ।'' *करमा की मुट्ठिया भिंच गई थीं।*

(सत्यभारती प्रकाशन, राँची, 1999)

इसीलिए कई बार संक्रमणकालीन स्थितियाँ व्यक्ति अथवा समाज को अपने वास्तविक शत्रुओं की पहचान और उनसे मुक्ति के रास्ते भी बताती हैं। इसे शेखर जोशी की कहानी 'दाज्यू' और संजीव की 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' जैसी कहानियों से भी समझा जा सकता है। दोनों कहानी के केंद्र में पहाड़ से मुख्यधारा में आए नायक हैं। शेखर जोशी की 'दाज्यू' का नायक मदन संक्रमणकालीन समय में अपने ही समाज के जगदीश बाबू और हेमंत जैसे शत्रुओं की पहचान कर अपने आपको उनसे यह कहकर विमुख कर लेता है कि ''बॉय कहते हैं शा'ब मुझे!''

(*मेरा पहाड़ :* शेखर जोशी)

अर्थात् मेरी पहचान सिर्फ़ यही है कि मैं होटल में ग्राहकों की सेवा करनेवाला एक बॉय हूँ और इसके अतिरिक्त मेरी कोई और पहचान नहीं है। जबकि जगदीश बाबू उसके पहाड़ी गाँव की तरफ़ के हैं, पर स्थान और समय के हिसाब से उनकी शख़्सियत बदलती रहती हैं। जब अकेले होते हैं तो मदन उनके लिए आत्मीय हो उठता है और जब किसी के साथ हैं तो होटल का बॉय। मदन के ठीक विपरीत उराँव जाति की सब्ज़ी बेचकर गुज़ारा करनेवाली महिला विकास की असमानता और मुख्यधारा की अराजकता का शिकार होती है। उसकी ग़लती सिर्फ़ यही है कि वह पढ़ी-लिखी शहरी लड़कियों को बहन कहकर संबोधित करती है। पर, वह उपेक्षा का शिकार होती है। आदिवासी समाज की स्त्री होने के कारण उसे लगता है कि शेष लोग विकसित हैं तथा विकास की प्रक्रिया में उसकी मदद करेंगे। और इसी भ्रम के कारण वह अपमान की शिकार होती हैं और दोष देती हैं भाग्य को : ''रो रहा है हम अपन नसीब पे'' ('दुनिया की सबसे हसीन औरत' : संजीव)। जबकि यह आदिवासी महिला उसी उराँव (महिला) समाज की है जिसके पूर्वजों ने कभी बिहार के रोहतास ज़िला के आसपास के जंगलों में सरहुल के पर्व में नशे में डूबे पुरुषों के नहीं जगने पर स्वयं सैनिकों की पोशाक धारण कर मध्यकाल में तुर्कों की सेना द्वारा रोहतासगढ़ क़िला पर फतह के लिए किए गए तीन-तीन हमलों को नाकाम किया था। संजीव ने इस कहानी में बताया है कि बाद में जब लड़ती हुई कुछ बहादुर औरतें पकड़ी गईं, तब तुर्कों को पता चला कि उनका युद्ध तो

उराँव महिलाओं से हो रहा था। इस अपमान का बदला लेने के लिए तुर्कों ने पकड़ी गई महिलाओं के चेहरे को तीन बार दागा। बाद में उराँव महिलाओं ने इसे अपनी ताक़त और प्रतिरोध की क्षमता मान शृंगार के रूप में अपना लिया। ज़ाहिर है, रेलगाड़ी में सब्ज़ी लेकर जाती वह उराँव महिला जब टी.टी. और कुछ यात्रियों से अपमानित होती है, तब अपने भाग्य को दोष देती है, जबकि उसका अपमान अपने समाज से निकलकर एक दूसरे समाज में जाने, संवाद करने एवं जगह पर क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया में होता है।

कहना न होगा कि समकालीन हिंदी और भारतीय साहित्य में पिछले तीन-चार दशकों में स्त्री, दलित और आदिवासी केंद्रित जो साहित्य आया है, उसकी निर्मिति में संक्रमणकालीन स्थितियों की बड़ी भूमिका रही है। और सच यह भी है कि इस संक्रमण में स्थान-परिवर्तन एक निर्णायक भूमिका निभाता है। पर, इस बात को भी ध्यान से रखना ज़रूरी है कि स्थान-परिवर्तन मात्र गतिशीलता नहीं है। कारण, स्थान-परिवर्तन में कम-से-कम जन्म-स्थान अथवा मूल-स्थान में परिवर्तन होता है तथा जो पुराने बंधन होते हैं, वे टूटते हैं तथा व्यक्ति अथवा समाज हाशिए पर जाने के लिए बाध्य होते हैं। अर्थात् व्यक्ति, समूह अथवा समाज का घर से नाता टूटता है। उदाहरण के लिए, यदि प्रभा खेतान के उपन्यास *छिन्नमस्ता* की नायिका विवाह करना नहीं चाहती है, या ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'प्रमोशन' का दलित नायक सुरेश साथी मज़दूरों की निगाह में दलित से मज़दूर न बनकर अस्पृश्य यानी कि दलित ही बना रहता है, अथवा अरुण प्रकाश की कहानी 'बेला एक्का लौट रही है' की बेला ग़ैरआदिवासी समाज में शिक्षिका के बदले एक आदिवासी स्त्री ही बनी रहती है तो कहीं-न-कहीं ये वही भयावह स्थितियाँ हैं जो किसी व्यक्ति या सामाजिक समुदाय को जन्म-स्थान से दूर जाने से रोकती हैं अथवा स्थान-परिवर्तन के बाद की संक्रमण-कालीन स्थितियों (जैसे—अस्थायीपन, बेचैनी, संकट, तनाव, अजनबीपन, अशांति, मानसिक एवं शारीरिक क्लेश आदि) से जूझने के लिए छोड़ देती हैं, जैसा कि सुरेश या बेला एक्का के साथ होता है। पर इस पूरे परिदृश्य में यह भी याद रखना होगा कि स्त्री, दलित या आदिवासी समाज स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ अपनी जन्म एवं शारीरिक अथवा सामाजिक संरचना के कारण भी हाशिए की ज़िंदगी व्यतीत करने को विवश होते हैं। यहाँ, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यह एक ऐसी स्थिति है जिससे आज बहुलांश भारतीय अथवा वैश्विक समाज गुज़र रहा है, भले ही हम अपने आपको एक-दूसरे की तुलना में बेहतर स्थिति में क्यों न महसूस करें।

श्रुति

खासी साहित्य

जनजातीय साहित्य में आदिम मानव के सरल हृदय की रागात्मक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। किसी जनजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की सहज अभिव्यक्ति उस जनजाति की साहित्यिक परंपरा में होती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती हुई प्राचीन मौखिक परंपरा के माध्यम से लोकजीवन के भावबोध को नई-नई अभिव्यक्ति मिलती है। वस्तुतः जनजातियों की सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखने का सबसे सशक्त माध्यम उसका विशिष्ट साहित्य माना जाता है क्योंकि वह लोक-संवेदनाओं और जनसंस्कृति का वाहक होता है। जनजातीय साहित्य में जीवन का सहज प्रवाह दिखलाई पड़ता है जिसमें लोकमानस के भावों को सहज और जीवंत अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसीलिए जनजातीय साहित्य में लोकजीवन का सत्य होता है।

भारत के पूर्वोत्तर भाग में स्थित सातों राज्य जनजाति-बहुल होने के साथ-साथ भाषिक और सांस्कृतिक परंपराओं की दृष्टि से भी अनोखे हैं। जहाँ तक इनके साहित्य का प्रश्न है, इसका अधिकांशतः मौखिक परंपरा के रूप में ही हस्तांतरित होता रहा है। असम को छोड़कर लिखित साहित्य का आरंभ इस क्षेत्र की जनजातियों में हाल ही में हुआ है। इन्हीं में से एक मेघालय की खासी जनजाति है। प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर मेघालय राज्य में कई जनजातियाँ निवास करती हैं और खासी उनमें से प्रमुख है। खासी भाषा में 'हेनिउत्रेप' कही जाने वाली यह जनजाति प्रोटो ऑस्ट्राइड समूह से संबंध रखती है। अपनी मातृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के लिए प्रसिद्ध खासी जनजाति कई कारणों से विशिष्ट है, चाहे वह महिलाओं के प्रति आदरभाव के कारण हो, चाहे 'दरबार' के माध्यम से स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था के कारण। समृद्ध सांस्कृतिक विरासत खासी समुदाय को विशेष पहचान प्रदान करती है। खासी भाषा का संबंध 'ऑस्ट्रो एशियाटिक' भाषा परिवार से है। इसका लिखित साहित्य लगभग 160 वर्ष पुराना है।

खासी साहित्य का विकास खासी समुदाय के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के साथ ही हुआ है। ब्रिटिश शासन की स्थापना और आधुनिक शिक्षा के प्रचार के साथ ही खासी लिखित साहित्य

1966 में जन्मी श्रुति के आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : एल-9, स्थायी परिसर, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्व-विद्यालय, शिलांग 793022 (मेघालय)
मो. 9436312131

का विकास हुआ। अगर इतिहास की बात करें तो 1813 से पूर्व खासी साहित्य वाचिक परंपरा के माध्यम से ही हस्तांतरित होता रहा। यह वाचिक परंपरा 'फवार' अथवा लोकगाथाओं और लोक काव्य के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रही। फवार की यह परंपरा 'पुरिस्कम' या फेबल्स और 'परोम' या कहानियों के रूप में मिलती है। परोम के भी दो रूप हैं—एक लघु रूप कहानियों का है और बृहद् रूप लंबी कहानी अथवा लघु उपन्यास का है। मौखिक परंपरा में खासी कथावाचक द्वारा लंबी कहानी का वाचन संक्षेप में दो-तीन घंटे से लेकर दस-बारह घंटे तक हो सकता था। कभी-कभी लोकवाद्यों की संगत के साथ ये लोककवि अपनी रचनाओं का सस्वर पाठ अथवा गायन करते थे। सर्दियों में आग के इर्द-गिर्द बैठकर लोग बुजुर्ग कथावाचकों के मुँह से इन लोककथाओं का आनंद लेते थे। काव्य और कथाएँ तो वाचिक परंपरा में मिलती हैं, परंतु नाट्य रूपों का प्रचलन तत्कालीन वाचिक परंपरा में संभवतः नहीं था।

ईसाई मिशनरियों के आगमन से पूर्व खासी में लिखित साहित्य प्राप्त नहीं है। इस संबंध में खासी समुदाय में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार समुद्र पार करते समय खासियों के पूर्वजों के हाथ से लिखित साहित्य गिरकर लुप्त हो गया था। कालांतर में लिखित परंपरा के अभाव के कारण बहुत-सी बहुमूल्य साहित्यिक संपदा खो गई। वाचिक परंपरा के युग में यदि कोई व्यक्ति लोकसाहित्य के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक होता था तो उसे किसी कथावाचक या लोकगायक का सान्निध्य प्राप्त करना होता था। इन कथाओं में जहाँ प्राचीन काल के गौरवशाली चरित्रों के साहसिक कार्यों का वर्णन किया जाता था, वहीं पशु-पक्षियों, वृक्षों, पर्वतों आदि के बहुरंगी चित्र भी उतारे जाते थे। युद्ध, प्रेम, शिकार, तीरंदाज़ी और धार्मिक उत्सवों से संबंधित कथाएँ भी मौखिक लोक परंपरा में मिलती हैं। विवाह आदि सामाजिक समारोहों में लोग रातभर जागकर लोककथाओं को सुनते-सुनाते थे। खासी और जयंतिया पहाड़ियों में खेतों में काम करते हुए लोग लोकगीतों के मधुर संगीत में कठिन श्रम से भरे कष्टसाध्य जीवन को भूलने की कोशिश करते थे। इन लोकगीतों में जहाँ कवि की आत्माभिव्यंजना होती थी, वहीं लोकजीवन का सौंदर्य मुखरित होता था। उन्नीसवीं शताब्दी में खासी साहित्य में लिखित परंपरा के आरंभ होने के बाद मौखिक साहित्य की इस संपदा को लिपिबद्ध करने का प्रयास राबोन सिंह, मोंडोन बरेह, सोसो थाम, एच. इलियास, प्रिमरोज़ गैटपोह और अन्य कई खासी साहित्यकारों ने किया।

ब्रिटिश राज की स्थापना के कारण जिस नवजागरण का उदय खासी समाज में हुआ, उसने कई सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया। खासियों में अपनी अस्मिता को तलाशने की आकांक्षा भी जागी। इस काल की सांस्कृतिक उथल-पुथल ने खासी समाज में जो हचलच पैदा की, उसने जॉन रॉबर्ट्स, अमजद अली और सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवियों को जन्म दिया। खासी समुदाय की राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और इसके विकास क्रम के संबंध में ब्रिटिश लेखकों के लेखन से कुछ जानकारी मिलती है। उस काल में सोहरा (चेरापूँजी) ब्रिटिश शासन का केंद्र था। स्वाभाविक था कि सोहरा का मनोरम क्षेत्र खासी साहित्य की आरंभिक गतिविधियों का भी केंद्र बन गया। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व खासी पहाड़ियों में लिंगड़ों, सोरदार और सिएम जैसे पारंपरिक शासकों का शासन था। 1841 तक खासी पहाड़ियों में शांति बनी हुई थी, परंतु आंग्ल-जयंतिया युद्ध के बाद 1858 से खासी और जयंतिया क्षेत्रों का प्रशासन ब्रिटिश सरकार के

अधीन आ गया। 1864 में ब्रिटिश सरकार ने शिलांग को ज़िला प्रशासन का मुख्यालय बनाने का निश्चय किया। 1867 में शिलांग ज़िला मुख्यालय बन गया। 1974 में सरकार ने असम और ईस्ट बंगाल प्रांत का गठन किया और शिलांग उसकी राजधानी बनी। ब्रिटिश आधिपत्य के साथ ही ईसाई मिशनरियों का आगमन खासी पहाड़ियों में होने लगा। इस क्षेत्र में 1813 से ही मिशनरियों ने अपना काम शुरू किया था। इन गतिविधियों का केंद्र सोहरा और शेला के आसपास था। मिशनरियों के आगमन के साथ ही खासी साहित्यिक परंपरा का आरंभ माना जा सकता है। सोहरा में बोली जानेवाली खासी की बोली इस परंपरा का माध्यम बनी। कृष्णचंद्र पॉल ने 1813 में *न्यू टेस्टामेंट* का अनुवाद खासी में किया जो बाङ्ला की लिपि में था। 1814 के बाद वेल्श प्रेस्बिटेरियल मिशन के थॉमस जोंस ने सोहरा में खासी के वर्तमान रूप को लिखित आधार प्रदान किया।

थॉमस जोंस ने 1842 में खासी भाषा में एक प्राइमर पुस्तिका लिखी जिसका नाम था *का किताब बात हिकाइ का खिटेन कासिया* । रोमन लिपि में लिखी गई यह पुस्तिका खासी भाषा और साहित्य के लिए आरंभिक बिंदु के समान थी। जोंस सोहरा क्षेत्र के तीन विद्यालयों के लिए पाठ्य-सामग्री तैयार करना चाहते थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने इस पुस्तिका की रचना की। 1858 तक खासी में बत्तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। इनमें से अधिकांश रचनाएँ अनुवाद की हुई थीं। इन अनुवादों के माध्यम से आरंभिक दौर के खासी लेखकों ने लेखन शैली की बारीकियों को आत्मसात् किया। खासी साहित्य के विकास में इन अनुवादों की विशिष्ट भूमिका है।

1891 में जॉन रॉबर्ट्स के निर्देशन में बाइबिल का खासी में अनुवाद किया गया। इसके कई संशोधित संस्करण बाद के वर्षों में भी प्रकाशित होते रहे। परवर्ती खासी लेखकों और कवियों पर इसका व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कैथोलिक मिशन ने कई धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद किया।

1884 में जॉन रॉबर्ट्स ने एसॅप की कई कथाओं का अनुवाद किया। इस अनुवाद से खासी गद्य को नई दिशा प्राप्त हुई। 1920 में सोसोथाम ने भी इन कथाओं का अनुवाद किया। इसके बाद जॉन रॉबर्ट्स ने अब्राहम और जोसफ़ की कथाओं का भावानुवाद किया। ये दोनों बाइबिल की प्रसिद्ध कथाएँ हैं। जॉन रॉबर्ट्स ने इन कथाओं का लघु उपन्यास के रूप में रूपांतरण किया। उन्होंने जोनाथन स्विफ़्ट की *द विज़न ऑफ़ मिर्ज़ा* का भी भावानुवाद प्रस्तुत किया। जॉन रॉबर्ट्स के बाद जीबन रॉय और इनके पुत्र हरिचरण रॉय ने हिंदी पौराणिक कथाओं का भावानुवाद खासी में किया। जीबन रॉय ने रामायण और हितोपदेश की कथा और चैतन्य महाप्रभु के जीवन चरित्र का खासी में रूपांतरण किया। हरिचरण रॉय ने महाभारत के एक प्रसंग का भी भावानुवाद किया।

खासी भाषा और साहित्य के इस आरंभिक काल में खासी समुदाय के शिक्षित लोगों ने अपनी सांस्कृतिक विरासत को पहचानना शुरू किया। इस काल में खासी समाज विकास की ओर उन्मुख हुआ और अपनी पहचान के प्रति भी जागरूक होने लगा। अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली के द्वारा ज्ञान के नए सोपान खुले जिससे खासी समाज का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आया। इसके फलस्वरूप खासी समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। इस काल के लेखक साहित्य के प्रभाव और सामर्थ्य के प्रति सचेत थे और वे खासी समाज को उन्नतिशील और जागरूक देखना चाहते थे।

खासी का आरंभिक काव्य उपदेशप्रधान और

नीतिपरक है। इस काल में ईसाई धर्म के आदर्शवादी काव्य का अनुवाद खासी में किया गया। इस काव्य में आत्मगौरव, स्वार्थत्याग, कर्तव्यबोध जैसे ऊँचे आदर्शों की प्रेरणा दी गई। 1845 में थॉमस जोंस *हिम्स* का पहला संग्रह प्रकाशित किया। विलियम लेविस ने थॉमस जोंस के साथ 1850 में कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं। खासी लेखन के आरंभिक दौर में इन दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस काल में लारसिंग खौंगवीर ने भी धार्मिक काव्य की रचना की। उनका काव्य ईसाई धर्म की मान्यताओं पर आधारित है।

जॉन रॉबर्ट्स (1842–1908) खासी साहित्य के संस्थापकों में से एक हैं। खासी साहित्य के आरंभिक युग में उनका साहित्यिक अवदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्हें खासी साहित्य का जनक भी माना जाता है। खासी भाषा में कई 'रीडर' तैयार करने के साथ उन्होंने बाइबिल से लेकर कथा-साहित्य तक की कई रचनाओं का ऐसा सरल अनुवाद किया जिससे खासियों के सांस्कृतिक उन्नयन में बहुत सहायता मिली। साथ ही उन्होंने काव्य, नाटक, निबंध आदि विधाओं में साहित्य रचना की शुरुआत की और खासी में परवर्ती रचना का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी कुछ रचनाएँ उपदेश प्रधान हैं। उदाहरण के लिए 'का बबेह इया कि नौंगशुन' शीर्षक कविता में उन्होंने युवावर्ग का आह्वान करते हुए कहा है कि वे आलस्य का त्याग करें और अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं करें।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक खासी समाज में शिक्षा का प्रचार होने लगा था। इसलिए उपदेशात्मक या नीतिपरक साहित्य अब जनसमाज के बीच अधिक लोकप्रिय नहीं रह गया था। शिक्षित समुदाय की मानसिक सीमाओं का विस्तार होने लगा था। जॉन रॉबर्ट्स ने अंग्रेज़ी की कई कविताओं का अनुवाद किया और साथ ही कुछ मौलिक कविताओं की भी रचना की जो उपदेश-प्रधान काव्य से अलग हटकर थीं।

इस प्रकार की रचनाओं में 'री खासी' नामक प्रसिद्ध कविता है जो बीसवीं शताब्दी के मध्य तक खासियों के लिए राष्ट्रगीत के समान थी। यह 'वेल्श' राष्ट्रगीत की तर्ज पर लिखा गया उद्‌बोधन गीत है। इसमें खासी जनजाति की पहचान की आकांक्षा, उनकी प्राचीन संस्कृति का गौरवगान और उनकी जनजातीय अस्मिता की खोज है। इसमें खासियों के पारंपरिक जीवन दर्शन, सच्चाई से भरे मूल्यों और लोकतांत्रिक आदर्शों की प्रशंसा के साथ ही वर्तमान समय में समाज में व्याप्त अशिक्षा, अंधविश्वास और अज्ञान से मुक्त होने का आह्वान किया गया है।

''रि ला जोंग'' कविता में खासी पहाड़ियों के आदिम सौंदर्य का वर्णन है। यहाँ की शीतल वायु, हरे-भरे वृक्षों और कलनाद करती छोटी-छोटी जल धाराओं की चित्ताकर्षक छवि का वर्णन कवि मुग्ध स्वर में करता है—

उसकी पहाड़ियों और शृंखलाओं में,
बहता है सुखद पवन,
मेरी अपनी भूमि, सुंदर भूमि,
स्वच्छ जल देखो,
बहता है नदियों में,
मेरी अपनी भूमि, सुंदर भूमि।

'ऑटम' अर्थात् शरद ऋतु कविता में सोहरा (चेरापूँजी) में शरद ऋतु के मनोरम सौंदर्य का चित्रण है। धरती हरियाली से आच्छादित होती है, भौंरे मधुर स्वर में गुँजार करते हैं और पक्षियों के मधुर गान से सोहरा के वन गूँज उठते हैं। रॉबर्ट्स का काव्य प्रकृति के वैभव से भरा है—

प्रकृति और उसका वैभव,
मानव के लिए हैं सुखप्रद,
रंगों से भरा स्वरूप,
सम्मोहित करनेवाला।

'द ड्यूज' (ओस) कविता में कवि सुबह

के समय पत्तों और फूलों पर गिरी ओस की बूँदों की तुलना मोतियों के सौंदर्य से करता है। कवि कहता है कि रात में जब सारा जंगल सोता है तब पवन ओस की बूँदों को बिखेर देता है।

जॉन रॉबर्ट्स ने अंग्रेज़ी की कई कविताओं का अनुवाद खासी में किया जिसमें एच.डब्ल्यू. लांगेफलो और सी.एफ़. अलेक्ज़ेंडर की कुछ कविताएँ भी थीं।

खासी काव्य-परंपरा की अगली कड़ी के रूप में अमजद अली (1868-1926) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका काव्य वाचिका परंपरा और आधुनिक खासी कविता के बीच की कड़ी है। उनका काव्य संग्रह *का मिन्तोइ* 1888 में प्रकाशित हुआ।

अमजद अली की 'लोबली' कविता में एक घायल सैनिक और उसके सात वर्षीय पुत्र की मार्मिक कथा है। 'ताइ एंड द पुअरमैन' कविता में हातिमताई और पुअरमैन के माध्यम से श्रम के सौंदर्य और आत्मनिर्भरता के महत्त्व का वर्णन किया गया है। 'रूल खासीज' में खासियों को अंग्रेज़ों पर निर्भर रहने के बजाय आत्मावलंबी होने का संदेश दिया गया है। 'इएंग रिउ खासी' अर्थात् 'खासियों जागो' में खासियों को सत्य, श्रमशीलता, कर्तव्यनिष्ठा आदि सद्गुणों का विकास करने की प्रेरणा दी गई है। वे खासियों से सच्चे ज्ञान को हृदयंगम करने को कहते हैं तथा अशिक्षा और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का आह्वान कहते हैं। निष्क्रियता को त्यागकर कर्मठता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। 'रिलिज़न' (धर्म) कविता में कवि ने सच्चे धर्म के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे मुक्ति का द्वार बताया है। सच्चा धर्म मानव को आध्यात्मिक संपन्नता प्रदान करता है। 'जिंगरुअइ इआ ख्लाड' (विदाकाल का गीत) में अमजद अली ने जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार किया है। मृत्यु के सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी वे समय से पूर्व जीवन से पलायन नहीं करना चाहते। मृत्यु के समय अपने प्रियजन को चिरविदा देते हुए वे उसे स्थिरचित्त होकर मृत्युपथ पर चलने को कहते हैं क्योंकि वहाँ जाकर फिर अपने प्रियजनों से मुलाक़ात होगी। वे कहते हैं—

जाओ प्रिय मित्र, मैं भी आऊँगा,

अमजद अली ने ज़ीवन के मर्म को अभिव्यक्ति दी है। उनके काव्य का मानव अपने जीवन का निर्माता स्वयं है। प्रकृति-सौंदर्य की चित्ताकर्षक छवियाँ उनके काव्य में मिलती हैं। 'स्टेप' कविता में कवि ने खासी पहाड़ियों पर चमकते सूर्य, शीतल चंद्रकिरण, रंग-बिरंगे फूल, हरी-भरी घाटियों, गान करते पक्षियों, गुंजार करते भौंरों और घिरते बादलों का वर्णन किया है। इस कविता में अली ने मानव को प्रकृति के एक उपकरण के रूप में देखा है। मानव यहाँ प्रकृति के साथ एकात्म हो गया है। 'बाइनेंग' कविता जिज्ञासा, विस्मय और रहस्यवाद के भावों से समंवित है। यहाँ कवि ने प्रकृति में दार्शनिक सत्य के दर्शन किए हैं। अमजद अली की प्रकृतिपरक कविताओं पर अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ का प्रभाव है।

उन्नीसवीं शताब्दी के समापन और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में खासी समाज में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की धारा प्रवाहित हुई। सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप इस काल तक आते-आते पारंपरिक खासी परंपराओं और रीति-रिवाज़ों में परिवर्तन होने लगे। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आंदोलन चला जिसके प्रवर्तकों में राबोन सिंह, जीवन रॉय, राधोन सिंह बेरी आदि थे। बाद के वर्षों में शिवचरण रॉय, होमीवेल लिंगडो और सोसोथाम ने भी इसमें योगदान किया।

राबोन सिंह ने मौखिक परंपरा से प्राप्त साहित्य को संकलित किया। 1899 में उन्होंने *का किताब जिंग फवार* नामक रचना प्रकाशित की जिसमें

मौखिक परंपरा से प्राप्त काव्य था। सामाजिक मूल्यों के ह्रास पर उन्होंने चिंता व्यक्त की। खासियों से उन्होंने अपनी परंपरा पहचान और अस्मिता के प्रति सचेत रहने का आह्वान किया।

राधोन सिंह बेरी ने काव्य के माध्यम से खासियों के सांस्कृतिक मूल्यों की पुन:प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। उनके विचार में शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य लोगों में सद्गुणों का विकास करना है। उन्होंने अपनी साहित्य-यात्रा का आरंभ *उ खासी मिंता* नामक पत्र में लिखे गए लेखों के द्वारा किया। उनकी पुस्तक *का जिंगस्नेंग तिम्मेन* खासी कहावतों का संग्रह है। बेरी की रचनाएँ अपनी साहित्यिक उत्कृष्टता से अधिक सांस्कृतिक मूल्य के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

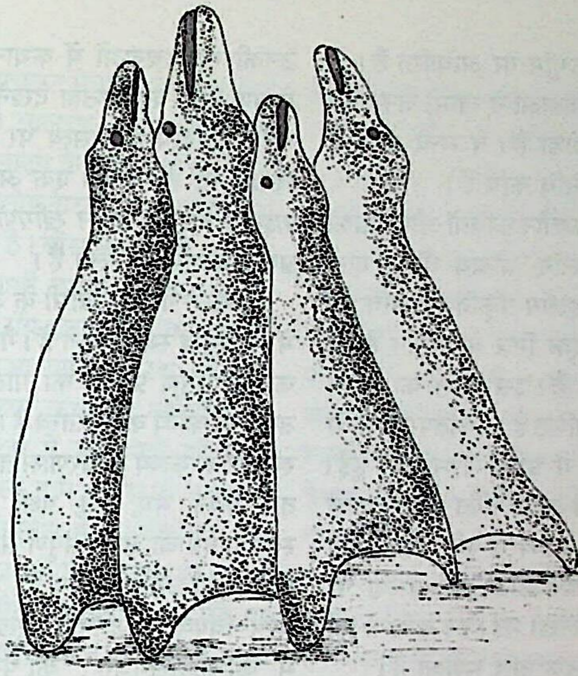
सांस्कृतिक पुनरुत्थान के समानांतर एक अन्य धारा खासी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी। यह धार्मिक पुनरुत्थान की धारा थी जिसने बाद के अनेक लेखकों को प्रभावित किया। इस धारा के प्रमुख कवियों में रेवरैंड अमीरखा खैन, रॉबर्ट एवांस आदि थे। इनके द्वारा आरंभ किए गए इस काव्यांदोलन के प्रमुख कवियों में मोरखा जोसेफ़ भी थे जिनका इस काल के कवियों में विशेष स्थान है। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'उ जुमइ बाह हा रि खासी' अर्थात् 'खासी प्रदेश में बड़ा भूकंप' है। इसमें भूकंप की विनाशलीला और भयावहता का चित्रण है। यह खासी साहित्य का पहला शोकगीत है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण कविता 'का जिंगवन हिअर उस मिनसिएम बखुइद हा रि खासी' अर्थात् 'खासी प्रदेश में पवित्र आत्मा का आगमन' है जिसमें 1905 में धार्मिक पुनरुत्थान के आरंभ होने का वर्णन है। 'उ सिएरलापालांग' एक प्राचीन खासी लोककथा पर आधारित है। इसमें एक हिरनी और उसके युवा पुत्र की मार्मिक कथा है जिसमें प्रतीकात्मक रूप में मानव जीवन के जटिल प्रश्नों पर विचार किया गया है। मोरखा जोसेफ़ की रचनाओं में शिक्षा के महत्त्व पर ज़ोर दिया गया है। धार्मिक पुनरुत्थान की काव्य परंपरा के अंतर्गत 1903 में मोन्डोन बरेह ने 'का जिंगशिशा' (सत्य) में सत्य का विवेचन किया है। मोन्डोन बरेह और मोरखा जोसेफ़ जैसे कवियों ने अमूर्त भावों को काव्य के द्वारा मूर्त किया। सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान की धारा ने खासी काव्य को गहराई तक प्रभावित किया।

1913 से 1940 तक का समय खासी साहित्य के उत्कर्ष का काल था। यह समय खासी भाषा की कलात्मक समृद्धि और विकास का था। इस काल में सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने खासी साहित्य को समृद्ध किया। बीसवीं शताब्दी की खासी कविता पर दूरगामी और गंभीर प्रभाव छोड़ने वाले सशक्त कवि सोसोथाम (1873–1940) का जन्म सोहरा में हुआ था। एक साधारण परिवार में जन्मे सोसोथाम को सोहरा के मनोरम प्राकृतिक वातावरण ने बचपन से ही आकृष्ट किया। पेशे से अध्यापक सोसोथाम ने अपनी काव्य-यात्रा का आरंभ अनुवाद के द्वारा किया। *दि फवार उ एसॅप* नामक अनूदित रचना खासी की सर्वश्रेष्ठ गद्य रचनाओं में से है।

सोसोथाम की वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति प्राय: व्यक्तिगत दुख की पीठिका पर हुई है। नियति से संघर्ष, सांसारिक कष्ट और मृत्यु की अनिवार्यता पर रची गई कृतियों में 'उ सिब', 'उ सैंडी' और 'उ तिरोत' जैसी कविताएँ हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन की दुख भरी घटनाओं की अभिव्यक्ति उनके काव्य में स्थान-स्थान पर हुई है। प्रकृति के सौंदर्य में उन्होंने जीवन की विषमताओं को भूलना चाहा। प्रकृति से उन्हें स्वभावत: प्रेम था। सोहरा की सुरम्य गोद में पले-बढ़े सोसोथाम ने अपनी जन्मभूमि सोहरा के सौंदर्य के आकर्षक शब्द चित्र खींचे हैं—

मैं सोहरा वापस जाऊँगा पहाड़ियों पर चढ़ने,
पहाड़ों के प्यारे फूलों को,



भूमि पर बिखरते देखने।
पक्षियों के झुंड और उड़ती हुई चील,
मेरी भूमि–
जन्मस्थली प्राचीन वीरों की।

सोसोथाम के प्रकृति चित्रण में एक अद्भुत सौंदर्य है। 'ग्रीनटर्फ' शीर्षक कविता में वे अपनी काव्ययात्रा में आने वाली बाधाओं की चर्चा करते हैं। वे अपनी तुलना पत्थर पर उगने वाले एक फूल से करते हैं जो जंगल में एक छोटी नदी के किनारे खिलता है और पूरे वर्ष सदाबहार रहता है। वह इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच जन्म लेता है, फिर भी उसकी जिजीविषा अक्षुण्ण है। अपना समय पूरा कर वह हरी तृणभूमि के नीचे दफ़न हो जाता है। कविता की अंतिम पंक्तियाँ मार्मिक हैं—

वह ख़ामोशी से जीता है और चला जाता है।
इतने कठोर, इतने मुश्किल रास्ते पर चलते हुए।
और क़ब्र में वह चुपचाप विश्राम करेगा,
हरी तृणभूमि के नीचे।

सोसोथाम ने आधुनिक खासी काव्यकला की आधारशिला रखी। उन्होंने अपने लिए नए छंदविधान की रचना की। उनके अनुसार कविता कवि के हृदय में स्थित सतत क्रियाशील प्रेरणा है। उन्होंने कविता की तुलना चार तारोंवाले तंत्रीवाद्य दुइतारा से की है। जिस प्रकार दुइतारा में चार तार और अन्य अंग होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी विविध अवयव होते हैं। काव्य के उद्देश्य के संबंध में सोसोथाम लिखते हैं कि "काव्य विचारों का विस्तार करता है और हृदय को शक्ति देता है। वह जीवन को अभिव्यक्ति देता है।"

अपनी बाद की रचनाओं में सोसोथाम ने प्राचीन खासी समाज के सामाजिक जीवन के विषय में विचार व्यक्त किए हैं। 1936 में उनकी रचना 'कि स्नगि बरिम उ हिन्युट्रेप' प्रकाशित हुई। इसमें खासियों के सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विरासत की खोज की गई है। खासियों के पारंपरिक विचारों को स्पष्ट करने वाली इसकी कथावस्तु पौराणिक

और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

सोसोथाम की कविताओं ने खासी जनमानस पर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। वे सच्चे अर्थों में खासी भाषा के प्रतिनिधि कवि हैं।

सोसोथाम के समकालीन कवियों और लेखकों में निहोन सिंह वाहलांग, ब्रोनाथ थैंक्यू, एल. लेविस आदि हैं। वाहलांग प्रकृति के कवि थे। उनके लिए प्रकृति एक मित्र के समान है जो सबका पोषण करती है। इस काल का काव्य कल्पनातत्त्व से अनुप्राणित है। प्रकृतिपरक काव्य की रचना इस काल में प्रभूत परिमाण में हुई। करुणा और वेदना की अभिव्यक्ति भी इस काल के कवियों ने अपने काव्य में की। जीवन की साधारण घटनाओं और छोटे-छोटे प्रसंगों पर प्रभावपूर्ण कविताएँ लिखी गईं। इन कवियों की आत्माभिव्यंजना मौलिक और सशक्त है।

एल. लेविस इस काव्यधारा के प्रवर्तकों में से थे। उन्होंने ऋतुओं पर आधारित सुंदर प्रकृति परक कविताएँ लिखीं। शैली और छंद की दृष्टि से लेविस का काव्य पिछली काव्यधारा से अधिक भिन्न नहीं है। लेविस की रचनाओं का महत्त्व जीवन और विशेषकर प्रकृति के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण में है। लेविस के लिए खासी पहाड़ियों में वसंत ऋतु सर्वाधिक आकर्षक है। वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि खासी प्रदेश में वसंत के आगमन पर उल्लास व्यक्त करते हुए कहता है कि धरती जैसे नींद से जागकर अँगड़ाई ले रही है। धरती ने नर्म घास के वस्त्र धारण किए हैं और वृक्ष नए पत्तों और फूलों से सज्जित हो गए हैं। किसान फ़सल की बोआई में लगे हैं। 'का पिरेम' शीर्षक कविता में वसंत की इसी मनोरम सुंदरता का वर्णन है।

खासी कथा लेखकों में प्रिमरोज़ गैटपोह (1900–1976) अग्रगण्य हैं। उन्होंने कई कहानियाँ और लघु उपन्यास लिखे। इन रचनाओं का संकलन *सौडोंग़ का लिंग्वियर इपइ* है। उनकी गद्य रचनाओं में कथानक और चरित्र-चित्रण दोनों की श्रेष्ठता देखने को मिलती है। उनके साहित्य में असत्य पर सत्य की विजय दिखाई गई है। उनका एक अन्य संग्रह *उ लुम राइटौंग बड कि श्केन खौंगपौंग* है जिसमें प्रेम प्रधान कथाएँ संकलित हैं।

प्रिमरोज़ गैटपोह खासी के आधुनिक कवियों में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। गैटपोह के अनुसार कविता संपूर्ण प्रकृति का गीत है। यह कथन उनके पूरे काव्य का सारतत्त्व है। प्रकृति के विविध रूप उनके काव्य के प्रेरणास्रोत हैं। चंद्रमा, सूर्य, तारे, पवन, मेघ, पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल और स्वयं मानव जो अपने संपूर्ण सामर्थ्य के बावजूद प्रकृति का अभिन्न अंग हैं, उनके काव्य का वर्ण्य-विषय है। उनकी प्रमुख काव्य रचनाओं में 'का सोहलिंगजेम', 'का पेरटिरसो' और 'उ सिएर लापालांग' हैं।

'का सोहलिंगजेम' में प्रेम और कर्तव्य के बीच के द्वंद्व का चित्रण है। यह पुराने और नए मूल्यों के बीच के टकराव को भी दर्शाता है। 'का पेर टिरसो' में प्रेम और वासना का द्वंद्व है। 'उ सिएर लापालांग' में खासियों की एक पारंपरिक लोककथा के माध्यम से महत्त्वाकांक्षी युवावर्ग की मानसिकता का चित्रण हुआ है। गैटपोह की कविता में आधुनिक मानव की नियति रूपायित हुई है जिसका जीवन जटिलताओं का पुँज बनकर रह गया है। महत्त्वाकांक्षाओं, चिंताओं, भयों और तनावों से जूझते हुए उसका मन विरोधाभासों का जटिल जाल बन गया है। गैटपोह के जीवनदर्शन का केंद्रीय बिंदु मानव-आत्मा के लिए स्वतंत्रता की खोज है। 'तूता अइ खाव' में तोता मुक्ति की साँस लेने के लिए व्याकुल है।

1937 में रेवरेंड फ़ादर होपवेल इलियास की गद्य रचना प्रकाशित हुई। अपने निबंधों में उन्होंने खासी कविता के उद्‌गमस्रोत की खोज की।

लोकनाट्यों का प्रचलन मेघालय के कुछ भागों तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए जोवाई के कुछ भागों में लोकनाट्य के कुछ रूपों की चर्चा होती है। परंतु इन लोकनाट्यों का लिखित रूप आज उपलब्ध नहीं है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में पहला खासी नाटक प्रकाशित हुआ। 1910 में हरिचरण रॉय द्वारा रचित *का सावित्री* खासी में लिखा हुआ पहला नाटक था। यह सावित्री की पौराणिक कथा पर आधारित था परंतु लेखक ने नाटक में कुछ पात्रों की सृष्टि की थी जिसके खासी नाम थे। इससे नाटक में स्थानीय रंग का समावेश हुआ। दीनोनाथ रॉय का *उ दिपस्नमि* 1924 में प्रकाशित हुआ। इसमें स्थानीय परिवेश और पात्रों की सृष्टि की गई थी। इसलिए इसे खासी साहित्य का पहला नाटक भी माना जाता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खासी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ।

1960 में एफ.एम. पुध ने खासी भाषा और संस्कृति पर आधारित *लैंगुएज नांगनो उ खासी उ वान मिह* प्रकाशित की। 1979 में एच.डब्ल्यू. स्टेन ने *का हिस्ट्री का किटेन खासी* नामक ग्रंथ लिखा। विक्टर. जी. वरेह ने 1957 में *उ तिरोत सिंह* नामक नाटक की रचना की, जो अपने ढंग की पहली ऐतिहासिक कृति थी। यह 1829 से 1833 तक अंग्रेज़ी हुक़ूमत से संघर्ष करने वाले तिरोत सिंह के जीवन पर आधारित थी। मोंडोन बरेह ने 1966 में *उ मिह्स्नगि* नामक नाटक लिखा जो खासी का पहला सामाजिक नाटक था। एफ.एम. पुध इस युग के महत्त्वपूर्ण नाटककार थे। एस.जे. डंकन, ओ. लामारे और डी.एस. खौंगडप ने लोककथाओं पर आधारित कई नाटक लिखे।

कथा-साहित्य के अंतर्गत इस काल में कुछ कहानियाँ लिखी गईं। डब्ल्यू. टिउसोह ने 1975 में *का काम कालबुट* नामक उपन्यास लिखा जो द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि पर होते हुए भी आम जनजीवन पर आधारित था।

स्वातंत्र्योत्तर काल की प्रमुख काव्य-रचनाओं में वी.जी. बरेह की *का पोएट्री खासी*, एफ.एम. पुध की *कि फवार रवाई खासी* हैं। साथ ही बाजूबोन आर. खारलुखी, बी.सी. जिरवा, ऑस्कर एम. वाहलांग, क्लास्टरफ़ील्ड खौंगवीर आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा खासी साहित्य की समृद्धि की। इन कवियों ने आधुनिक खासी जनसमाज का चित्रण किया है परंतु इनकी प्रेरणा का स्रोत लोककथाएँ और ऐतिहासिक कथाएँ हैं।

इस प्रकार मौखिक परंपरा से आज तक खासी साहित्य विकास के एक लंबे दौर से गुज़र चुका है। विकास के आरंभिक काल में ईसाई मिशनरियों ने खासी भाषा और साहित्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। थॉमस जोंस और लेविस जैसे व्यक्तियों की इस क्षेत्र में विशेष भूमिका थी। बाद के साहित्यकारों के लेखन में खासी जनजाति का सांस्कृतिक विकास प्रतिबिंबित होता है। इसमें इन साहित्यकारों की आत्माभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही समूची जनजाति के भावों की अभिव्यंजना है। इस दौर में सोसोथाम जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने आधुनिक खासी काव्य की आधारशिला रखी। उनकी लोक संपृक्ति और युग-सापेक्ष चिंतन ने खासी साहित्य को एक नया आयाम दिया। सोसोथाम और उनके समकालीन लेखकों ने खासी जनमानस की सोच, परंपरा और लोक विश्वासों को पहचान प्रदान की। उनके परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं में खासी जनसमाज के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, उसका विस्तार भविष्य के खासी साहित्य में अपेक्षित है। खासी साहित्य के अब तक के विकास में भविष्य की यही संभावनाएँ परिलक्षित होती हैं।

नेपाली कविता

विचंद्र

प्रतिबिंब

एक सुबह
पूरब के क्षितिज से नहीं
तुम्हारी माँग से
सूरज को उगते देखा
एक रात बीच आकाश में नहीं
तुम्हारे आग़ोश में
चाँद को सोते देखा
एक दोपहर पेड़ की टहनियों पर नहीं
तुम्हारे अधरों पर
लाली गुराँस[1] को खिलते देखा
एक शाम आईने में नहीं
तुम्हारे चेहरे पर
मैंने अपने ही आकार को
ओमकार होते हुए देखा।

कविता का जन्म

मैं उठता हूँ
और बैठता हूँ
मैं बैठता हूँ
और उठता हूँ
घर के बाहर निकलता हूँ
घर के अंदर आता हूँ
मन ही मन बातें करता हूँ
मन ही मन चुप्पी साधता हूँ
मैं ऊहापोह में होता हूँ
पता नहीं कहाँ पर होती है पीड़ा
पता नहीं कहाँ लगती है गुदगुदी
मुझे पता है

नेपाली एवं बाङ्ला कवि विचंद्र के पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 'चंद्रप्रस्थ', कृष्ण नगर, मिरिक, दार्जीलिंग (प. बंगाल)

अनु. खडकराज गिरी का जन्म 1958 में हुआ। चार कहानी-संग्रह और चार अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। स्रष्टा पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : सी.एम.एच. एरिया, 1702/बी, डिगबोई 786171 (असम)

---
1. एक फूल

जब कभी ऐसा होता है
मेरे दिल में कहीं
एक कविता का जन्म होता है!

वीरभद्र कार्कीढोली

मैंने रेत को हथेली पर लेकर देखा

सच, उस बादल और कोहरे को समझ नहीं पाया!
पर, कोहरा और बादलों की दुनिया
बेहद पसंद है मुझे।

कैसे कहूँ
किसी दिन यह हिमालय
नहीं पिघलेगा।
सूरज की तीव्रता का आभास तो
है ज़रूर
बादल, कोहरा और हिमालय को।

अब हमें
आग की जगह राख से सतर्क रहना होगा
कोलाहल की जगह मौनता से होशियार रहना होगा
फिर भी घबराना नहीं
अब तक तो है इतनी हिम्मत
जीवित इस वीरभद्र में!

खेद है कि
नए साल के बुधवार को लौटा दिए
बड़े प्यार से
कितने जज़्बे लेकर आया था,
अब न जाने यह जज़्बा रहे ना रहे
उसके सीने में
कुछ कह नहीं सकता
लौटा देना जितना सहज है
ले आना उतना ही कठिन
वह क्षण काफ़ी चुनौती भरा और
संघर्षपूर्ण होगा!

नेपाली कवि वीरभद्र कार्कीढोली के 6 कविता-संग्रह एवं एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : शोभा निवास, सिक्ताम, सोमबारिया, सिक्किम 737122

अनु. खडकराज गिरी

वचन और समय को पकड़े रहना है
कहता आया हूँ आज तक

वह हिमालय अब
रोज़ की तरह नहीं पिघलेगा
न ही जमकर ऊँचा उठेगा
वह सुबह का जल-कण
नसीब हो न हो
मैंने रेत को हथेली पर रखकर देखा,
रेत के कणों में से
संभव नहीं है जल की बूँद निकालना
मुझे आज पता चला।

और आज इस शाम
इस शहर के
रंगीन बल्बों को
मुझे ही निहारते देख
मैंने भी देखा अपने को
सच, मैं कितना बदरंग हो गया हूँ!
हिमालय की बजाय
उस बादल और कोहरे जैसा हो गया हूँ!
मैं तो कुछ ऐसा ही हो गया हूँ!

हिंदी कविता

श्रीनिवास श्रीकांत

नगर : एक दृश्य

श्रीनिवास श्रीकांत का जन्म 1937 में हुआ। कविता-संग्रह और आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। हिंदी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 9-11/ ब्लॉक-ए, पूजा हाउसिंग सोसाइटी, संदल हिल, लोअर चक्कर, शिमला 171005
फ़ोन : 0177-2633272

अपनी लाल, तिकोनी छतों के साथ
फिरंगी दिनों की याद दिलाता है
यह पर्वतीय नगर

पश्चिमी घाटी में हवा से एकाएक
टूटती है ख़ामोशी

तराशे क्षितिजांत आकाश में
ढलानें करती हैं
एक-दूसरे से संवाद

हिलते हैं स्वीकार में
चीड़ों के एक साथ
अनेक सिर
अद्भुत लय में

वे सब सुन रहे
ढलानों-चट्टानों की गुफ़्तगू
भर रहे हामी

जंगल की हवा
थपथपाती है
शीशों जड़ी खिड़कियाँ
बजाती हैं छतें
अपने अपने नगाड़े

षडज और पंचम के बीच
गाता है आसमान
अपने नीम तूफ़ानी स्वर में

यह है फागुन के बाद का
नगर का पहला ग्रीष्म
स्मृति और समय की
भूलभुलैया को
देता उकसाहट

एक एक कर खुलने लगते
अतीत के मंज़र
गए कल की पार्टियाँ
बारों में जामों की खनखनाहट
सनकी बुद्धिजीवियों के
बेशुमार क़िस्से

यह शहर
बजता है
मेरी नसों में
और पूरे लैंडस्केप के साथ
हिलने लगता है
चेतना का वृक्ष
टहनियों समेत
उसकी बजती हैं
पत्तियाँ।

योग मुद्रा

एक आदमी लेटा है
भारत के मानचित्र पर
श्वासनी मुद्रा में
वह नहीं है ब्रह्म राक्षस
न वेताल
न यति

वह है एक प्रखर साधक
अपने अतीत पर ध्यानस्थ
भविष्य के प्रति आस्थावान
बज रही हैं उसकी धमनियाँ
धड़क रहा हृदय
बह रहा बरसों से घूमता रक्त
घड़ता माँसपेशियाँ
मेधा
अस्थि पिंजर

अवयव बनाते हैं
उसका भूगोल
भावनाएँ
रंग-बिरंगी लोक संस्कृतियाँ

व्यवधानों के बावजूद
लय में जी रहा है वह
विचारवान
बलवान
प्रतिभा संपन्न
वह है जीवित

नहीं चाहिए उसे
साँस लेने के लिए
कृत्रिम हवा

वैपरित्य में भी
अलख जगाता है वह

साधा है उसने



समय का मसान

मस्तक है उसका
आसमानों में
पर, पृथ्वी को
स्पर्श करते हैं
अहर्निश उसके पाँव
पुरा और आधुनिक के बीच
समय को जोड़ता सेतु है वह
जितना पुरातन
उतना ही नवीन भी।

प्रभात सरसिज

कभी-कभार

कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो स्मृतियों में रहती हैं महफ़ूज़
भावों को ऊष्म बनातीं भटकती रहती हैं
जस के तस उन्हें क़ाबू कर दृश्य-जगत में लाना
जटिल होता है
दिल की घड़ी में टिक-टिक सुनाई पड़ती है
स्मृतियाँ कोई स्वाद नहीं हैं कि जलेबियों जैसी तासीर देती रहें
बहरूपियों-सा रंग बदल वह निबोलियों में
उतरती हैं कभी
जो बनी-बनाई स्मृतियों से बेगानी लगती है।

प्रभात सरसिज का जन्म 1950 में हुआ। इनकी कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : गुणधर दास बिल्डिंग, श्याम-वाटी, शांति निकेतन, वीरभूम 731235 (प.बं.)

बुज़ुर्ग अश्-अश् करते हुए
छाड़नों में खोजते हैं कुछ
चश्मों को सँभाले
पुरालेखों को मुश्किल से पढ़ लेने वालों में भले ही
होता है गैलेलियो जैसा आत्मसुख
पर आकर्षण के विपरीत
लटकी रह जाती हैं अभीप्साएँ
जिन कामनाओं की बारिश में हम भीगे थे साथ
विस्फारित आँखों के विस्तार में दूर-दूर तक
उनके निस्तेज होने की कल्पना नहीं थी
टूटते हुए तारों की रश्मि रेखाएँ तारों की बिरादरी में
नहीं कर सकती हैं उन्हें फिर से शामिल

अधपके समय में जवान ख़्वाहिशें

शाम के अधपके समय के बाद
जब रात धप्प से उतरने को होती है
अँधेरे के बंसवटों से घिरी स्मृतियाँ कुछ ही फ़ासले
पर खड़ी हो जाती हैं घर लौटते हुए
बसेरा लेते पक्षियों की चिंचियाहट धीमी पड़ती जाती है

पतंग अपनी लपेटनों के साथ विश्राम करती हैं
मैदान में छिले घुटने झुककर देखते हैं बच्चे

बच्चे जो पूरी शाम आकाश में सपनों के साथ रहते हैं
उनकी याद से हट चुका होता है मैदान
जो स्वेटर बुनतीं उँगलियाँ चिटक चुकी होती हैं,
अब रोटियाँ पलटने में लगी हैं।

यहाँ पहुँचकर भी नहीं होता स्मृतियों का अंत
विवर्ण-अवसाद में डूबीं ब्याहताओं की प्रतीक्षा शुरू हो जाती है
विस्मृतियों के मरु में उगी छिटपुट झाड़ियों
को लालटेन की रोशनी में आकार लेने का अवसर मिल ही जाता है।

चीज़ों को पलट देने की जवान ख़्वाहिशें
ऐसे अधपके समय में
और भी तेज़ हो जाती हैं।

आशीष त्रिपाठी

स्पर्श

शब्द और मौन के अंतराल को भरता हूँ
स्पर्श करता हूँ तुम्हें

अनंत इच्छाओं से छल-छल दो कलशों पर
टाँकता है समय
एक ही शुभ-चिह्न

तुम डूबती जाती हो अनंत में
अतल गहराई से उभरते हैं शब्द
पत्तों से भरी अनछुई पृथ्वी पर
जैसे कोई नन्हा ख़रगोश चला हो हौले

कपोल पर सरकता है कपोल
मुँदी आँखें
रंग तुम्हारा छुअन में समाता जाता है

दो नदियों के संगम में
खोई नदी को
खोजते हैं हम

जैसे जल राशि के भीतर
दो नौसिखिए
बेचैन तड़पते उमगते उद्दीप्त खोजते हैं एक-दूसरे को
टेरते हैं मौन-कहाँ हो तुम!

बसंत की बयार में धीरे-धीरे
झरती जाती हैं पुरानी पत्तियाँ
उगती हैं कोंपलें

कि सहसा डूब जाता है
सिंदूरी सूरज

उत्सव की स्मृतियों से
बौरायी रहती हैं सारी ख़ाली जगहें।

1973 में जन्मे आशीष त्रिपाठी की रुचि कविता के साथ-साथ अभिनय, नाट्यालेखन में भी है। संपर्क : 72, नंदनगर, करौंदी, बी.एच.यू. के पास, वाराणसी 221005, मो. 9450711824

अकेली औरत

एक अकेली औरत
चलती है जिस रास्ते
उसमें पेड़ नहीं होते छायादार
छाया का मायावी अँधेरा होता है

उसकी भूख में
झरबेरी की झाड़ियों में
बेर नहीं, उग आते हैं धतूरे

अकेली औरत
तीखी चुभन भरी धूप में चलकर
बड़ी उम्मीद से
पहुँचती है सिद्धियों वाले
मीठे जल से भरे जलाशय में
उसे देखते ही सिद्ध-पुरुष
मगरमच्छ में हो जाते हैं तब्दील

शीतल जल के भीतर
उसकी जैसी अनेक अकेली औरतें
दिखाई देती हैं निर्वस्त्र
अकेली औरत हाथ में लेने से पहले ही वहाँ का जल
डरकर, भागी गर
सिद्धों के अखाड़ों से
अकेली औरत के अकेलेपन की गालियाँ
दीवारों पर भर जाती हैं
चर्चाओं में बार-बार उतारे जाते हैं उसके कपड़े

अकेली औरत के बारे में
कहानियाँ चलती हैं
सिद्धों-साध्वियों-पतिव्रताओं के घरों से

अकेली औरत
जब बदनाम होकर
सर झुकाती है
मीरा उद्विग्न होकर नाचती है।

बेटी का हाथ

(1)

तुम्हारा हाथ पकड़ना
जैसे बेला के फूलों को लेना हाथों में
जैसे दुनिया की सबसे छोटी नदी को महसूसना क़रीब
जैसे छोटी बहर की ग़ज़ल का पास से गुज़रना

जैसे सबसे भोले सवालों को बैठना सुलझाने
जैसे बचपन में छूट गई
अपनी सबसे प्यारी गुड़िया से फिर मिलना

जैसे फिर से गाना
अपने छुटपन के अल्लम-गल्लम गीत

जैसे कंचों के खेल की उमर में
लौटना फिर

जैसे आत्मा के सबसे प्यारे टुकड़े को छूना

(2)

तुम्हारा हाथ पकड़कर
दुआ करता हूँ उड़ना सीखते पाखियों के लिए
उन्हें घोंसलों में छोड़कर
दाना बीनने गई उनकी माँओं के लिए
काम पर गए
या भीख माँगते बच्चों के लिए

दुनिया से विदा लेती वनस्पतियों
और बोलियों के लिए

गिलहरियों के लिए टकोरियों
मिट्ठुओं के लिए मीठे आमों
मछलियों के लिए जल
धरती के लिए बीजों
की दुआ करता हूँ

नदियों के लिए जल की धार
धरती के लिए हरियाली
आसमाँ के लिए सतरंगी इंद्रधनुष

पर्वतों के लिए मेघों के साथ

दुनिया भर की औरतों के लिए
साँस भर अवकाश
और अकुलायी आत्माओं के लिए
सबसे मीठी धुनों की
दुआ करता हूँ

दुआ करता हूँ
और कहता हूँ—आमीन!

(3)

तुम्हारा हाथ पकड़कर
इच्छा जागती है
पृथ्वी को गेंद की तरह देखने की

फिर मैं तुम्हारी उँगली पकड़
दिखाना चाहता हूँ सारी दाग़दार हवेलियाँ
जिनमें रची जाती हैं अम्लीय बारिश की तकनीकें

जहाँ एक बच्चे का भविष्य रचने
लाखों लोरियों की ज़बान कर दी जाती है बंद
एक उड़ान के लिए
काट लिए जाते हैं अनगिनत परिंदों के पर

जहाँ अनगिनत खेल बच्चों के
रूठे रहते हैं बच्चों से
बच्चों की पोथियों में सब कुछ होता है
सिवा उनके बचपन के

जहाँ बच्चों से ज़्यादा प्यारी लगती हैं
बच्चों की तसवीरें
जहाँ बच्चों से ज़्यादा अपने हैं
रंग, जात, धर्म, कुल

फिर मैं तुम्हें सुनाना चाहता हूँ
धूल में भरे
ठुमक-ठुमक चलते
चाँद पकड़ने की ज़िद करते
ईश्वर के बचपने के गीत

मेरी बच्ची
मैं तुम्हारे बचपन की पूरी उम्र
की कामना करते हुए
तुम्हारे सब संगवारियों के बीच
तुम्हें छोड़ आना चाहता हूँ।

मुकेश कुमार

अंगदान

मुझे गारंटी दो
कि जहाँ लगेगी आँख
नहीं देखेगी वो
बुरी नज़र से किसी को

मैं चाहता हूँ भरोसा
कि प्रत्यारोपण के बाद
उसी तरह उन्हीं चीज़ों के लिए
धड़केगा मेरा दिल
दिमाग़ नहीं बनेगा साझीदार
कमज़ोरों के ख़िलाफ़ साज़िश में

जिगर नहीं जलेगा
काली करतूतों से,
गुर्दों को नहीं साफ़ करना पड़ेगा
रक्त-पिपासुओं का ख़ून
हाथ नहीं बढ़ेंगे
किसी कमज़ोर की तरफ़
बुरे इरादे से
और पैर नहीं भागेंगे संघर्ष से

मैं पूरी तरह आश्वस्त हुए बिना
नहीं देना चाहता
कोई भी अंग दान में
मृत्यु के बाद भी
उनकी साज़िशों का
हिस्सा नहीं बन सकता मैं।

मुकेश कुमार का जन्म 1964 में हुआ। कहानियाँ, कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं। संपर्क : एस.आर.सी./27-डी, शिप्रा रिवेरा, इंदिरापुरम्, ग़ाज़ियाबाद

बहुत बोलता है

बोल रहे हैं बड़े
इसलिए चुप रहो

उचित नहीं है ये समय
इसलिए कुछ भी
कहना ठीक नहीं

अरे चुप रहो
अपने काम से काम
रखने में ही फ़ायदा है

कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता
बोलने से
फिर भी क्यों बोलना
चाहते हो

सबके सब बहरे हैं
किसको सुनाने के लिए
बोलोगे भला

क्यों आमादा हो
बोलने पर जबकि
ख़तरों से भरा है
कुछ भी बोलना

हर मामले में टाँग
अड़ाते हो
बिना बोले काम
नहीं चल सकता

बहुत बोलता है
चुप कराना पड़ेगा इसको।

अनकहा

कभी मिलता नहीं वक़्त
कभी सही मौक़ा
हाथ नहीं आता
कभी बात उतर जाती है

दिमाग़ से
कभी मूड नहीं होता उसका
या कभी हम ही टाल देते हैं
बोलना कल के लिए
कितनी ही बातें छूट जाती हैं
इस पसोपेश में
कि कहें या न कहें
कभी मिलते नहीं सही शब्द
कभी कहने की कोशिश में
करते हैं दूसरी सौ बातें
कभी संकेतों से
तो कभी मौन के सहारे
होती हैं आधी-अधूरी बातें

इस तरह
जाने कितना कुछ
रह जाता है अनकहा
और जो कहा भी जाता है
उसमें कहाँ व्यक्त हो पाता है
वो सब कुछ
जो हम चाहते हैं कहना

इस अनकहे का
कोई नहीं रखता
हिसाब-किताब
हालाँकि इसमें कितना कुछ
हो सकता है
किताबों के बीच में
फूलों की तरह
सँभालकर रखने लायक़।

सच और झूठ

सच खड़ा है डरा-डरा
आड़ में दुबका
हर तरफ़ से पिट चुके
खिसियाए, ईमानदार आदमी की तरह।

नंगा खड़ा है झूठ
वीभत्सता के साथ
दाँत निपोरते हुए
बेशर्मी ओढ़े चेहरे पर
किसी फ़ैशन परेड में
विलासिता की नुमाइश करता-सा।

झूठ कभी छिप जाता है
सच बनकर
नारों और वादों में
कभी अर्धसत्य बनकर
बोलता है संसद, सभाओं और
सत्ता के गलियारों में
खेलता है सच के साथ
छिपमछिपाई का खेल।

बेबस है सच
गिड़गिड़ाता हुआ
सड़कों और बाज़ारों में
थानों और कचहरी में
हर जगह
जबकि बाज़ार की आभा से
दिपदिपा रहा है झूठ।

सबसे बड़ा सच है यही
कि सच नहीं,
अब बड़ा है झूठ
या यों कहिए कि
झूठ ही बन गया है सच
और झूठ की ही सत्ता है
अब संसार में।
सच का कोई भी नहीं है ख़रीदार
झूठ के बिग बाज़ार में।

शून्य से शून्य तक

हमने खोजा शून्य
और हम खो गए
शून्य में

विचरते रहे शून्य में
अपने अहंकार के साथ
बताते रहे सबको
हमने दिया है शून्य
हमें मानो महान

पता नहीं था हमें
शून्य से आगे
गिनती और भी है
और शून्य से पहले भी
बहुत कुछ होता है

आगे की संख्याएँ
बताती रही दुनिया
नए-नए गणितीय सूत्र
खोजे उसने
और हम
अपनी एक खोज पर
रहे आत्ममुग्ध
आत्म सम्मोहित
खड़े हैं वहीं युगों से

आँखें बंद किए
आज भी हम कर रहे हैं
मंत्रजाप
शून्य...शून्य...शून्य
इस ज़िद्दी उम्मीद से कि
दुनिया हमें मान ले गुरु
जबकि दुनिया
दूसरी सभ्यताएँ
कई मुक़ाम तय करके
बन चुकी है हमारी गुरु

हे प्रभो!
कुछ करो
शून्य से रुकी हुई हैं
हमारी सारी यात्राएँ
ढेरों काम और
अनगिनत सर्जनाएँ।

पुष्पपाल सिंह

उजास की आहट

"मार्केट हर चीज़ का, हर भावना का इस्तेमाल अपने लिए कर रहा है। धर्म, राष्ट्र-प्रेम, मनुष्यता, नागरिकता, वय और लिंग, वासनाएँ और वर्जनाएँ, प्रेम और घृणा, स्वाद और सेक्स ही नहीं, जानवर और जीव-जंतु, प्रकृति और पहाड़ सब चीज़ों को बेचने के लिए इस्तेमाल हो रहे हैं।" (पृ. 102) चीज़ों में कोहराम मचा है। वे चीख़-पुकार रही हैं और हमलावर बन गई हैं। उस पर चारों तरफ़ से प्रहार कर रही हैं। उसे लग रहा है कि 'हैंडिल विद केअर' की चेतावनी वाले टी.वी., फ्रिज, वॉशिंग मशीन, माइक्रो-ऑवन आदि के विशालकाय डिब्बों के नीचे वह दबा जा रहा है। वह चीख़ना चाहता है, पर चीख़ नहीं निकल रही है।" (पृ. 104)

अपने प्रस्थान बिंदु के संबंध में कहानीकार मधुसूदन ने *थोड़ा-सा उजाला* शीर्षक विवेच्य कहानी-संग्रह की भूमिका में कहा है, "अपनी कहानियों के बारे में ख़ुद कुछ कहना मैं उचित नहीं समझता, लेकिन इतना ज़रूर कहना चाहूँगा कि इनमें अपने आसपास को देखने की एक गंभीर और ईमानदार कोशिश मैंने ज़रूर की है।" अपने आसपास को देखकर अपने ढंग से हस्तक्षेप करने की यह चेष्टा मधुसूदन आनंद की कहानियों में बहुत आक्रामक रूप में कभी सामने नहीं आई, वे बहुत मंद-से स्वर में जीवन के उजाले, उजास की आहट इन कहानियों में देते हैं। अपनी विनम्रता में वे इसे *थोड़ा-सा उजाला* मानते हैं। यदि पाठक संग्रह की इक्कीस कहानियों में 'थोड़ा-सा उजाला' शीर्षक कहानी ढूँढ़ना चाहे तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी क्योंकि इस नाम की कोई भी कहानी वहाँ नहीं है। यहाँ तो सभी कहानियों में जीवन के उजास की तलाश की गई है। ये कहानियाँ अपने शिल्प और शैली में इस प्रकार अन्योक्तिपरक हैं कि कहीं रूपक-कथा तो कहीं बोध कथाओं का-सा आस्वाद देती हैं। 'ज़र्राह', 'चाक़ुओं से गुदा आदमी', 'घोड़ा', 'तकली', 'विचित्र आवाज़ें' 'उलटा-पुलटा' आदि कहानियों की शैली यही प्रतीति देती है। किंतु इस क्रम में कभी-कभी कहानी अग्राह्य, दुर्बोध हो उठती है। यदि कहानी जैसी ललित विधा में भी दुर्बोधता या अग्राह्यता आ जाए तो यह किसी भी रूप में कहानी का गुण नहीं माना जा सकता, उसका

कहानी के जाने-माने आलोचक पुष्पपाल सिंह की कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनका जन्म 1941 में हुआ। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 63, केसर बाग, पटियाला 147001

अभाव है यह। अच्छी बात यह रही कि 'सेब', 'कॉर्पोरेट स्केल' तथा 'दरवाज़ा अंदर खुलता है' कहानियाँ ही इस प्रवृत्ति का शिकार हुई हैं, शेष कहानियाँ अपने नए शिल्प और कथ्य की ज़मीन पर आकर्षित करती हैं।

थोड़ा-सा उजाला संग्रह की कहानियाँ कथ्य के उस धरातल पर आकर्षित करती हैं जहाँ वे उपभोक्तावादी समाज की बाज़ारवादी स्थितियों तथा सांप्रदायिकता और जातीयता के बोध में बँटे। समाज की मनोवृत्तियों का बहुत सूक्ष्म आकलन करती हैं। 'घोड़ा' कहानी में लोककथा का रंग लिए जो रूपक कथा रची गई है उसमें मनुष्य के घोड़े की नियति को प्राप्त करने की कथा है जिसमें वह न केवल लड्डू घोड़े के रूप में दिनोंदिन अधिकाधिक लदा चला जाता है। अपितु मात्र एक 'वस्तु'—'कमॉडिटी' बनकर रह जाता है। उपभोक्तावादी दृष्टि ने समाज के सभी वर्गों—मोरों, हाथियों, शेरों—ने अपनी ज़िंदगी को पैसे की ललक में इतना हलकान कर लिया है कि वे अपनी सहज जीवन शैली भूल चुके हैं। सभी पैसे को प्राप्त करने के लिए बुरी तरह दीवाने हो चुके हैं, "...सारी दुनिया अपने काम में लगी रहती है। सभी को पैसा चाहिए। जिस चीज़ में पैसा है और जब तक वह पैसा दे रही है, तभी तक उसका इस्तेमाल है। सब जगह मैंने देखा है लोग नदी से, पर्वत से, जंगल से, जानवरों से, गाँव से, शहर से, खेत से, खलिहान से, बाग़ और बग़ीचे से दनादन पैसे निकाल रहे हैं। और तो और महाराज, आदमी आदमी से पैसा पैदा कर रहा है। महाराज, किसी को सपना देखने की तो कम, सोने तक की फ़ुर्सत नहीं है।" (पृ. 30) वस्तुतः यह उस दुखती रग पर उँगली रखी गई है जहाँ आज 'आदमी के लिए पैसा' नहीं रह गया है अपितु 'आदमी पैसे के लिए' हो गया है।

'प्रजेंटेबल' कहानी भी इस भोगवादी दृष्टि का भरपूर विरोध करती है। "भोगो और ख़ुश रहो, ख़ुश रहो और भोगो। ख़ूब मेहनत करो, ख़ूब कमाओ और ख़ूब ख़र्च करो।" 'भोगने का युग है'—कहानी अपने ढंग से कॉर्पोरेट कल्चर में ढले समाज की मोबाइल फ़ोन, क्रेडिट कार्ड, ओवरड्राफ़्ट आदि की सुविधाभोगी ज़िंदगी के बाज़ारवादी दृष्टिकोण की बाखिया उधेड़ती है। 'सेल' लगने के तंत्र में आम आदमी एक चक्रव्यूह में फँस चुका है। इन सब स्थितियों के प्रति एक प्रच्छन्न विद्रोह-भाव कहानी में अनुस्यूत है। बाज़ार ने एक ऐसा तिलिस्म मनुष्य के सामने खोल दिया है जिसे आयत्त करने के लिए हर छोटा-बड़ा, गाँव-क़सबे तक का आदमी हाथ-पैर मार रहा है। 'मिस्त्री सईद अहमद शेरकोट वाले' के रशीद मियाँ इसी कारण दुबई का रुख करते हैं। बाहर जाकर पैसे के लिए आदमी क्या-क्या पापड़ बेल रहा है, रशीद मियाँ इसकी मिसाल बनते हैं।

'अवमूल्यन' का सी.ए. भी बाज़ारवादी स्थितियों से परास्त होता है। नए वित्त मंत्री द्वारा विकास के नाम पर नई इकॉनॉमी का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। संजय बाबू उस सामान्य जन को प्रतिनिधित्व देते हैं जो आर्थिक विकास के नाम पर बुरी तरह छला गया है। 'विचित्र आवाज़ें' कहानी के मंगूलाल भी संजय बाबू से बहुत ज़्यादा अलग नहीं हैं, वे भी व्यवस्था द्वारा बुरी तरह छले जाते हैं। 'फूँकनी' कहानी बाज़ारवाद के तंत्र को बहुत सूक्ष्मता में जाकर उघाड़ती है। आज आवश्यकता आविष्कार की जननी के सिद्धांत को धता बता दी गई है, आज पहले आवश्यकता—'नीड' की नहीं प्रोडक्ट—उत्पाद की उपस्थिति है, विज्ञापन-तंत्र उस उत्पाद को आवश्यकता के रूप में बदल कर उनकी प्राप्ति के लिए जन को उन्मत्तता की स्थिति में ला देता है, "मार्केट का मंत्र होता है कि पहले से प्रसिद्ध किसी ब्रांड के साथ बाज़ार में आनेवाले सामान

को छोटे पाउच में मुफ़्त दो।'' ''वहाँ उपभोक्ता दर्शक या पाठक नहीं होता, बल्कि विज्ञापनदाता होता है, जिसे अपने प्रोडक्ट के लिए मार्केट में जगह बनानी होती है।'' 'बाज़ार का तंत्र' आदमी में उपभोग करने की ज़बरदस्त इच्छा पैदा करके उसे इस भोगवादी संसार का शिकार बना रहा है। इन सब स्थितियों को उजागर करती 'फूँकनी' इस संग्रह की एक बहुत ही सशक्त कहानी है, इसका शिल्प और शैली भी बहुत प्रभावी बन पड़ा है।

सांप्रदायिकता की समस्या और जातीय आधार पर समाज का बँटना कहानीकार की चिंता का दूसरा मुख्य सरोकार है। 'ज़र्राह' कहानी बहुत सूक्ष्मता और गहराई से हमारी सामाजिक-संरचना की उस विद्रूपमयी स्थिति को उजागर करती है जिसमें हिंदू परिवारों में बचपन से बच्चों में यह मानसिकता विकसित कर दी जाती है कि मुसलमान ठीक हमसे उलटे हैं, उनकी हर रीति, रहन-सहन हिंदुओं के विरोध में हैं : ''जब हम किसी को अपना दुश्मन समझते हैं या हमें सिखाया जाता है कि यह हमारा दुश्मन है, तब हमारा व्यवहार बदल जाता है। हम सतर्क हो जाते हैं और बार-बार संदेह करने लगते हैं। हम डरते भी हैं और डराना भी चाहते हैं। हमने मुसलमानों को अपने ठीक उलट मान लिया था—हम बाएँ से दाएँ लिखना शुरू करते हैं, वे दाएँ से बाएँ लिखते हैं। हाथ धोते हुए हमारी हथेलियाँ सीधी या झुकी होती हैं, पर उनके हाथ प्रायः ऊपर उठे होते हैं और पानी कोहनियों से चूता है। हम हिमालय की तरफ़ देखते हैं, वे रेगिस्तान की तरफ़। हमें कोयल की कूक प्यारी लगती है, वे बुलबुल पर जान छिड़कते हैं। हम तोते पालते हैं, पर मुसलमान प्रायः कबूतर और तीतर पालते हैं...।'' इस उद्धरण को विस्तार से इसलिए उद्धृत किया गया है कि वस्तुतः ये वे वाक्य और वाक्यांश हैं जो हिंदू परिवारों में अपने बच्चों को घुट्टी के रूप में दिए जाते हैं। कहानीकार की प्रशंसा करनी होगी कि उसने प्रथम बार सांप्रदायिकता के ज़हर को फैलाने की इस प्रवृत्ति को रेखांकित करने का साहस दिखाया है। अल्पसंख्यक समुदाय पर लिखी इन कहानियों के एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए जिस पर कम ही कहानीकारों का ध्यान गया है, वह है उनकी जर्जर आर्थिक दशा का चित्रण। मधुसूदन आनंद यदि हिंदुओं की उस मनोवृत्ति पर उँगली रख सकते हैं जिसमें वे शुरू से ही अपने बच्चों को मुस्लिम-विरोधी पाठ पढ़ाते हैं तो वे मुसलमानों की भी उस प्रवृत्ति को ध्यान में लाते हैं जिसमें बात-बात को सांप्रदायिक रंग दे दिया जाता है। फज़लू की यह टिप्पणी इसी दृष्टि से दी गई है, ''ये साले हिंदुओं के लौंडे हैं। इन्हें सारे शहर में यही सड़क साईकिल चलाने के लिए मिलती है।'' ज़र्राह साहब फज़लू को फटकार लगाते हैं कि मासूम बच्चों के साथ इस तरह का व्यवहार क्यों करते हो।

'तलवार' कहानी वर्णवादी व्यवस्था पर प्रहार करती है कि सवर्ण समाज दलितों के साथ कैसा व्यवहार करता है। बचपन से ही बच्चों को यह समझ दे दी जाती है कि दलित और अल्पसंख्यक मुसलमान अलग-अलग हैं। सभी संप्रदायों के देव-स्थलों पर बच्चे चले जाते हैं किंतु मस्जिद और वाल्मीकि मंदिर में जाने के लिए उन्हें कभी प्रेरित नहीं किया जाता।

थोड़ा-सा उजाला संग्रह की कहानियों में एक और विशिष्ट अनुभूति अभिव्यक्ति पाती है जिसे मृत्युबोध कहा जा सकता है। संग्रह का समर्पण 'प्यारी अन्ना की स्मृति को समर्पित' करते हुए यह कविता पंक्ति *मनुष्य का हो मौत पर सिर्फ़ इतना नियंत्रण, किसी की संतान उसकी आँखों के सामने न मरे* इतना बता जाती है कि कहानीकार को पुत्री-शोक की त्रासद स्थिति से गुज़रना पड़ा है। 'चाक़ुओं से गुदा आदमी',

'सुबकियाँ' तथा 'आँख' कहानियों में यह पुत्री शोक विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। 'मृत्युबोध' कहानी में भी मृत्यु का यही भयावह रूप सामने आता है। हिंदी कहानी में व्यक्तिगत शोक की स्थितियों पर गोविंद मिश्र, देवेंद्र, मृदुला गर्ग आदि ने बहुत मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, इसी क्रम में मधुसूदन आनंद की ये कहानियाँ व्यक्तिगत त्रासदी का कलात्मक आख्यान बनती हैं।

इस संग्रह में 'दूसरी तसवीर' तथा 'दरवाज़ा अंदर खुलता है'—ये दोनों कहानियाँ चरित्र प्रधान कहानियाँ हैं जिनके चरित्र आकर्षक लगते हुए भी कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाते हैं। इस सबके बावजूद *थोड़ा-सा उजाला* अपनी सशक्त कहानियों के लिए याद रहेगा।

चर्चित कहानी-संग्रह :
थोड़ा-सा उजाला : **मधुसूदन आनंद; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 150 रुपए**

राजकुमार सैनी

ग़ज़ल और समकालीन यथार्थ

ग़ज़ल एक पुरानी विधा है तथापि कुलदीप सलिल उसे आज की कविता के तौर पर पेश करने में संलग्न दिखाई देते हैं। ज़ाहिर है कि उनकी ग़ज़लों में विडंबना, विरोधाभास, विसंगति, व्यंग्य, नाजुक बयानी और सपाटबयानी के प्रचुर उदाहरण मिल जाएँगे। यथा : *शामिल हो गए दंगाइयों में आग लगाई हमने भी / जान बचानी थी अपनी घर का सामान बचाना था* (विडंबना)। *तारे गिनने में भी ऐ दोस्त / हमने लुत्फ़े विसाल पाया है* (विरोधाभास)। *पड़ गए कितने पुराने कुछ लोग / नित बदलते हुए तेरे शहर में* (विसंगति)। सपाटबयानी के तो ढेरों दृष्टांत मिल जाएँगे :

क्या ही दिलकश लगा दिल का रिश्ता / निकला नाजुक बड़ा दिल का रिश्ता। लेकिन नाजुकबयानी भी ध्यान आकर्षित करती है : *आज सूखा है तो लगता है कभी था ही नहीं / घर को छूता हुआ एक दरिया बहा करता था।*

कुलदीप सलिल का यह तीसरा ग़ज़ल-संग्रह है। कहा जा सकता है कि ग़ज़ल की वे साधना कर रहे हैं। साधनावस्था से सिद्धावस्था की ओर उन्मुख उक्त यात्रा में ग़ज़ल को इतना आधुनिक कर देना चाहते हैं कि वह आज की कविता के मुहावरे को आत्मसात कर सके :

क्या ग़ज़ब की है सियासत, पैंतरा है क्या कमाल
कर रहे हैं आप ही अपनी ख़िलाफ़त इन दिनों।

इस मशक़्क़त में वे सफल हुए हैं तो कहीं असफल भी :

कोई अनमोल मोती हो तो देखो जुस्तजू अपनी इक-इक दरिया को बाँधेंगे, हर इक सागर खँगालेंगे।

लेकिन ग़ज़लगोई का यह रियाज़ सफल हो या असफल, असार्थक नहीं होता क्योंकि इसी तरह बात में से कोई नई बात पैदा हो जाती है।

बात से होता है असर पैदा / शेर होते नहीं नगीनों से या कि फिर *लाख बातों की है इक बात कि इस दुनिया में / बात पैदा करो कुछ तो ही कोई बात करो।*

संग्रह की भूमिका के तौर पर 'अपनी बात' शीर्षक से ग़ज़लकार का वक्तव्य भी इसी बात के इर्द-गिर्द घूमता हुआ सुनाई देता है : ग़ज़ल लिखना शायद सबसे आसान और सबसे मुश्किल काम है। आसान यदि कवि का काम केवल क़ाफ़िया-पैमाई करना है और मुश्किल, यदि वह हर शे'र में कोई बात पैदा करना चाहता है,

यदि वह चाहता है कि शे'र व्यक्ति और समाज, जीवन और जगत के किसी अनचीन्हे पहलू को उजागर करे या कुछ नया न भी कहे तो बात ऐसे कहे कि नई-सी लगे।''

कहा बात कर तू ऐसी, कहा इस तरह से कर तू
कि लगे नई-नई सी, कोई छोड़े वो असर भी।

कुलदीप सलिल के पास ग़ज़ल कहने का अंदाज़ भी है और मिज़ाज भी। उनकी ग़ज़लों में आधुनिक और समकालीन जीवन का कुटिल, जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ अभिव्यक्त होता है। हालाँकि यहाँ रोमानी अदाएँ और दीवानेपन की मुद्राएँ भी हैं लेकिन ज़्यादातर ग़ज़लें आम आदमी की ज़बान में आम आदमी की पीड़ा को व्यक्त करती हैं। ये ग़ज़लें उर्दू-हिंदी की मिश्रित शैली में कही गई हैं। बलबला, दर-बदर, बलाखे़ज़, गमख़्वार, आस्तां, माजी, ख़ुदारा, मोतबर, मुनसिफ़, तबस्सुम, मौलां, ख़ंजर, बर, आफ़ताब, शबाब, ख़याल, लुत्फ़ेबिसाल, शम्मा जैसी प्रचलित उर्दू शब्दावली है तो सौग़ात, सलिल, सोच, छाँव, प्रीत, पंछी, मुक्त, नभ, गोपियाँ, मीरा जैसी चल हिंदी शब्दमाला भी। यह भाषा-शैली सरल, सहज, सुबोध तथा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है और गंगा-जमुनी है।

प्रसिद्ध कवि शमेशर बहादुर सिंह ने 1988 में ही कह दिया था कि सलिल एक जेन्युइन (genuine) कवि हैं और हमें उनसे बहुत-सी अपेक्षाएँ हैं। लोकप्रिय रचनाकार विष्णु प्रभाकर का कहना है कि सलिल की ग़ज़लें अपने में जितने व्यापक परिवेश को समेटे हैं उतनी ही अनुभूति की गहराई भी इनमें है। इन ग़ज़लों में व्यंग्य है और ताज़गी भी :

एक दीवाना था ले-दे के शहर में, वो भी
कामयाबों में ही अब नाम लिखा माँगे है।

कुलदीप सलिल की ग़ज़लें नितांत मौलिक और निजी ढंग की हैं, यथा :

ज़ुबां कहने से जो डरती रही है
क़लम बेख़ौफ़ सब लिखती रही है।

तथा

राज़ सारे हमारे .फ़ाश हुए
तेरे मेरे था दरमियां कोई।

तथापि यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उन पर मीर, ग़ालिब, इक़बाल, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, अहमद फ़राज़ आदि शायरों का प्रभाव लक्षित होता है। उर्दू ग़ज़ल की रवायत को हिंदी ने आत्मसात् किया है और सलिल भी उसके अपवाद नहीं हैं।

एक ज़माना था कि ग़ज़ल को अच्छा काव्यरूप नहीं माना जाता था। महान गद्यकार और आलोचक हाली को तो इससे 'दुर्गंध' आती थी। कलीमुद्दीन अहमद ने इसे 'अर्ध सभ्य काव्यरूप' की संज्ञा दी तो अज़मतुल्लाह की राय थी कि ग़ज़ल की गर्दन उड़ा देने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे माहौल से ग़ज़ल को बाहर निकालने में मीर, ग़ालिब, इक़बाल, फ़ैज़, कैफ़ी आज़मी, अली सरदार जाफ़री, साहिर लुधियानवी आदि तथा अन्य बहुत-से तरक़्क़ी पसंद शायरों ने ग़ज़ल को नया और तरो-ताज़ा रूप प्रदान किया। साथ ही यह कहना अपेक्षित होगा कि हिंदी और उर्दू के प्रगतिशील लेखक आंदोलन की भी इस रूपांतरण में एक विशिष्ट भूमिका रही है। हिंदी के प्रायः सभी ग़ज़लकारों पर इस प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। इस दृष्टि से दुष्यंत एक बेहतरीन नाम है। उनकी ग़ज़लें हिंदी की श्रेष्ठ ग़ज़लें हैं। इसी परंपरा में और कई नाम हैं तथा कुलदीप सलिल उसी क़तार में शामिल ग़ज़लकार हैं और इनकी ग़ज़लें इसी परंपरा का निर्वाह करती हैं। तथापि कुलदीप सलिल परंपरा का निर्वाह मात्र ही नहीं करते, ग़ज़ल लिखना उनके लिए एक सर्जनात्मक काव्य-कर्म भी है। इस प्रक्रिया में वे रात-दिन

डूबे रहते हैं; बल्कि यह कहना भी समीचीन होगा कि डूबते नहीं तैरते रहते हैं।

अंत में कुलदीप सलिल की ही एक ग़ज़ल के इस मक़्ते के साथ उक्त आलेख का समापन करना अप्रासंगिक न होगा : *आलम है अभी से जो ऐसा तो लुत्फ़ रहेगा देखता जा / अभी रंग पे आई पूरी तरह कुलदीप सलिल महफ़िल भी नहीं।*

चर्चित पुस्तक :
आवाज़ का रिश्ता : कुलदीप सलिल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

उपन्यासकार, कवि, आलोचक राजकुमार सैनी का जन्म 1942 में हुआ। कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : फ़्लैट नं. 122, दिन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लॉट नं. 7, द्वारका फ़ेज़-1, नई दिल्ली 110075

राजेश जोशी

अमावस और पूर्णिमा...

अमावस और पूर्णिमा दोनों उसी के पर्व हैं। एक दिन वह चाँद को धरती से पीठ लगाकर बच्चे को दूध पिलाती माँ की तरह गोदी में खिलाता है तो दूसरे दिन मेले में कंधों पर बच्चे को बिठाए पिता की तरह चाँद को लिए धरती के बीचों बीच खड़ा हो जाता है।

('अँधेरे के बारे में')

प्रेमचंद गाँधी अपनी कविता में परस्पर विपरीत और उसकी द्वंद्वात्मकता को रचने की कोशिश करते हैं। इसलिए प्रेम और घृणा के दोनों ही ध्रुव उनकी कविता में है। यह कविता बबूल के उन काँटों को ही नहीं देखती जिनसे पतंगें ख़ौफ़ खाती हैं और जो बच्चों की आँखों में खटकते हैं बल्कि उनके उस पक्ष को भी अलक्ष्य नहीं करतीं जो जानवरों का भोजन बनता है। यह बबूल पथिकों को छाँव भी देता है और बाशिंदों को औषध ईंधन भी। इस बबूल ने ही अकाल के दिनों में अपनी छाल खिलाकर बचाया मनुष्यों को। परस्पर विपरीत के ज़्यादा जटिल ताने-बाने तानाशाह और तितली में दिखाई देते हैं। हिटलर की जीवनी के एक प्रसंग को लेकर बुनी गई यह कविता कोमल भावनाओं और क्रूरता के बीच के जटिल ताने-बाने को रेशा-रेशा खोलते हुए, लगता है जैसे हमारे समय का आख्यान रच रही है। पानी में गिर पड़ी एक तितली को तानाशाह पानी में कूदकर बचाता है। फिर अपने सफ़ाचट चेहरे पर तितली जैसी मूँछें रखने लगता है। तितली के कई चित्र बनाता है। तितली की भिनभिनाहट की सिंफ़नियों से तुलना करता है। लेकिन जब उसकी ताजपोशी होती है तो तितलियाँ न केवल घबरा जाती हैं बल्कि अपना देश छोड़कर दूसरे राष्ट्र में चली जाती हैं। तानाशाह तितलियों की तलाश में अपनी सेना को दौड़ा देता है। और जब तितलियाँ उसके हाथ नहीं आती हैं तो वह उन सभी किताबों को जलवा देता है जिन पर तितलियों की छवियाँ थीं।

जिन सुंदर पुस्तकों में तितलियाँ / और उनके सपने हो सकते थे / वे सब उसने जलवा डालीं / जहाँ कहीं भी तितलियों जैसी / ख़ूबसूरत ख़्वाबज़दा दुनिया हो सकती थी / वे सब नष्ट करवा डालीं।

तानाशाही इसी तरह स्वतंत्रता और सुंदरता को नष्ट करती है। लेकिन विडंबना यह है कि जब तानाशाह चीख़ता है तो उसे बचाने कोई नहीं आता। वह जब मृत्यु का वरण करता है तो बाहर उसी तितली का पहरा होता है जिसे कभी उसने बचाया था। प्रेमचंद गाँधी की कविता क्रूरता और रक्तपात के ख़िलाफ़ नदी की गवाही है।

इस सिंफ़नी में प्रेमचंद गाँधी का पहला संग्रह है। इस संग्रह को उन्होंने चार खंडों में विभक्त किया है। 'इस धरती की बेटियाँ'! 'कैसा कठिन समय है'। 'बिखरा हुआ सच'। 'इस धरती की बेटियाँ' वाले खंड में स्त्री जीवन पर केंद्रित कविताएँ हैं। पिछले दिनों युवा कवि पवन करण का स्त्री जीवन से संबंधित कविताओं का एक पूरा संग्रह ही आया है। हिंदी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कवियों ने स्त्री जीवन को लेकर कई महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। लेकिन किसी भी कवि ने स्त्री को इस तरह एक अलग श्रेणी, एक अलग कैटेगरी बनाने की कोशिश नहीं की। कात्यायनी ने इस संग्रह की भूमिका में इस खंड के संदर्भ में लिखा है : ''इन कविताओं में स्त्री प्रश्न पर कोई मुखर सैद्धांतिक विमर्श नहीं है, बल्कि जीवन के वैयक्तिक अनुभवों और दृश्यों के ऐसे चित्रात्मक ब्योरे हैं जो स्त्रियों के बहिर्जगत और अंतरंग की त्रासद विडंबनाओं के रू-ब-रू ला खड़ा करते हैं।'' अच्छा ही है कि ये कविताएँ किसी सैद्धांतिक विमर्श के खटराग में नहीं पड़तीं। सैद्धांतिक विमर्श कविता का काम भी नहीं है। बहरहाल...। इस खंड में कुछ बहुत अच्छी कविताएँ हैं। 'एक स्त्री का मन' कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं : *गुड़ियों के खेल से निकल कर आई स्त्री के मन में / एक स्त्री होने की चाहत है / जो घर में पूरी नहीं होती / वह घर उसके होने से घर है लेकिन / उस घर में स्त्री नहीं है वह।*

प्रेमचंद गाँधी की कविता विडंबना को बहुत निश्प्रयास होकर छूती है। इसी खंड की एक और महत्त्वपूर्ण कविता है. 'बस में नींद लेती एक स्त्री'। इस स्त्री की नींद को घर और दफ़्तर ने मिलकर लूट लिया है। वह घर से दफ़्तर के स्टॉप तक के चालीस मिनट के सफ़र में पैंतीस मिनट की नींद सुबह-शाम लेती है। इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ कामकाजी महिलाओं की दिनचर्या पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करती हैं : *उसकी दो वक़्तों की नींद / इस महान लोकतंत्र के बारे में दो गंभीर टिप्पणियाँ हैं / इसे ग़ौर से सुना जाना चाहिए।*

'दादी की खोज में', 'स्मृति शेष', 'दृष्टि तुम्हारे स्वागत में' जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ इस खंड में हैं। दूसरा खंड है 'तुम मेरी रोशनी हो'। इसे पहले खंड के पूरक के रूप में भी देखा जा सकता है। इसमें प्रेम कविताएँ हैं। इसलिए इसमें भी स्त्री ही केंद्र में है। कभी रामचंद्र शुक्ल ने कविता कर्म के दिनोंदिन कठिन होते जाने के बारे में लिखा था। मुझे लगता है कि जैसा जीवन और समाज हम बना रहे हैं उसमें प्रेम कविता लिखना शायद सबसे दूभर काम हो गया है। 'तुमने कहा था' शृंखला की पहली कविता है : *आकाश में जो सबसे ऊँचे उड़ते हैं पंछी / वे ही सबसे लंबा सफ़र तय करते हैं / क्या तुम मेरे लिए इतना कर सकोगे ? / जाओ ! तौलकर देखो अपने डैने / क्षणिक उड़ान के पंछी नहीं हो तुम।*

कहना न होगा कि प्रेमचंद गाँधी ने कई आयामों में जाकर अपने डैने तौलकर देखने का काम किया है। वह छोटी उड़ान के पंछी नहीं हैं। जिस तरह पहला और दूसरा खंड एक-दूसरे का पूरक है उसी तरह तीसरा और चौथा खंड भी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ ही है। 'कैसा कठिन समय है' और 'बिखरा हुआ सच' की कविताओं को बाँटने का कोई पुख़्ता आधार समझ नहीं आता। 'कैसा कठिन समय है' खंड की एक उल्लेखनीय कविता है 'निष्क्रिय समय की इबारतें'। कैसे जीतने की इच्छा धीरे-धीरे निष्क्रिय समय की इबारतों में बदलती जाती है। कैसे हम अपने निष्क्रिय तरीक़ों को अपनी सक्रियता की तरह परिभाषित करते हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध और सक्रिय प्रतिरोध को एक बहस गाँधी और टॉल्स्टॉय के बीच हुई थी। यह कविता तो प्रतिरोध के उन उपायों पर भी प्रश्नचिह्न खड़े करती है

जिसे सक्रिय प्रतिरोध मान लिया है। जबकि वे सारे उपाय लगभग निष्क्रिय हो चुके हैं।

प्रेमचंद गाँधी गुवाड़ी, कलैड़ी जैसे स्थानीय शब्दों के साथ ही कई स्थानीय चित्रों और चरित्रों के बीच से अपनी स्थानीयता की खोज करते हैं। 'मरुधरा की रात' के आख़िरी हिस्से में अपनी धरती के राग रंग के साथ केदारनाथ अग्रवाल की अनुगूँज को भी सुना जा सकता है। कविता इसी तरह अपने और अपनी परंपरा के बीच पुल बनाने का काम करती है :

चाँदनी में नहाकर इठला रहा है
हरा, हाथ भर का चना
बसंत आने की ख़ुशी में
लहरा-लहराकर नाच रही है
पीली छबीली सरसों।

बाजे चंग जमें रंग, गाँव गाँव ढाणी ढाणी
फाग के गीतों से गूँजती रहती है
मरुधरा की मस्त फागुनी रातें।

अंतिम खंड में एक कविता है 'अपने जन्म-दिन पर'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं :

आख़िरी नहीं है यह जन्मदिन
और लड़ाई के लिए है पूरा मैदान...

आज के दिन मैं लौटाना चाहता हूँ
एक उदास बच्चे की हँसी
आज के दिन मैं
घूमना चाहता हूँ पूरी पृथ्वी पर
एक निश्शंक मनुष्य की तरह।

ये पंक्तियाँ प्रेमचंद गाँधी के जन्मदिन से ज़्यादा उनके पहले संग्रह के जन्मदिन पर लागू हों, ऐसी उम्मीद करनी चाहिए। हर कविता एक उदास बच्चे की हँसी को लौटाने और धरती को इस लायक़ बनाने का उपक्रम है जिससे उस पर घूमता मनुष्य निश्शंक होकर घूम सके। प्रेमचंद गाँधी की कविताएँ भी ऐसी ही कविताओं की सहयात्री हैं।

चर्चित कविता-संग्रह :
इस सिंफ़नी में : प्रेमचंद गाँधी; सदानीरा प्रकाशन, 5-बी/9, ख़ुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद; 2005; 150 रुपए

राजेश जोशी का जन्म 1946 में हुआ। इनकी कविता, कहानी एवं नाटक की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। पहल सम्मान, श्रीकांत वर्मा सम्मान एवं शमशेर सम्मान से सम्मानित। संपर्क : द्वारा श्री द्वारकेश नेमा, 10, निराला नगर, दुष्यंत कुमार त्यागी मार्ग, भोपाल-462003, फ़ोन 0731-4205917

मोहन सिंह

सीमाओं में मर्यादाओं का पालन

भाषाओं के इस अथाह समुद्र में यदि अनुवाद या रूपांतर के सेतु न होते तो हम कभी एक-दूसरे को समझने में सफल न हुए होते। सारा मानव ज्ञान निजता के दायरे में छटकता-छटपटाता रह जाता और हम अपने पूर्वजों द्वारा किए गए अनुभवों से वंचित रह जाते। वास्तव में हम अपनी बात दूसरे तक पहुँचाने के लिए अनुवाद कला का सहारा तो लेते ही हैं, चाहे वह सहारा विचारों को शब्दों में बदलने के लिए लिया गया सहारा हो या अपनी भाषा को संपर्क भाषा में परिवर्तित किए जाने के लिए लिया गया सहारा हो। अनुवाद का सहारा तो हम लेते ही हैं। इस प्रक्रिया में कई बार हम इतने सहज हो जाते हैं कि मौलिकता का-सा आभास होने लगता है। मौलिकता का आभास या अहसास करवाने में रूपांतर कला कुछ ज़्यादा ही मददगार साबित होती है। रूपांतर

प्रक्रिया में भाषा के साथ-साथ साहित्य की किसी एक विधा को साहित्य की किसी दूसरी विधा के रूप में परिवर्तित करना भी शामिल होता है। जहाँ अनुवाद भाषाओं की सीमा में सिमटा हुआ होता है वहाँ रूपांतर भाषायी बंधनों से पूरी तरह मुक्त होता है। आप चाहें तो किसी दूसरी भाषा की रचना को अपनी भाषा में रूपांतर कर सकते हैं, चाहें तो अपनी ही भाषा की किसी रचना को दूसरी विधा में परिवर्तित करके उसका रूपांतर कर सकते हैं। इसमें किसी क़िस्म का कोई बंधन नहीं, यह बात अलग है कि ज़्यादातर ऐसे प्रयास किसी कहानी या उपन्यास को नाटक का रूप देने में ही हुए हैं। दूसरी भाषा के नाटकों का भी रूपांतर किया गया है और एक ही भाषा की कहानियों या उपन्यासों के नाट्य रूपांतर भी किए गए हैं।

किसी दूसरी भाषा के नाटक का रूपांतर करते समय रूपांतरकार के समक्ष सबसे बड़ी समस्या परिवेश की होती है। उसे दूसरे परिवेश, किसी दूसरी संस्कृति की रचना को अपने परिवेश, अपनी संस्कृति तथा वातावरण के अनुकूल प्रस्तुत करना होता है ताकि रूपांतरित कृति मौलिकता का अहसास करा सके। परंतु जब रूपांतर के लिए चुनी गई कृति किसी दूसरी भाषा की न होकर अपनी ही भाषा की हो तो रूपांतरकार के सामने केवल विधा के साथ निर्वाह करने की ही समस्या होती है। कहानी या उपन्यास को नाटक या फिर रेडियाई नाटक का रूप देना अपने आप में इतना आसान काम नहीं है। और फिर मुंशी प्रेमचंद जैसे महान कथाकार की रचनाओं को लेकर ऐसा करना तो और भी जोखिम भरा काम है। क्योंकि मुंशी प्रेमचंद की कहानियों को लेकर केवल हिंदी में ही नहीं, बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं में ऐसे प्रयास हो चुके हैं। यह जोखिम भरा काम इसलिए भी है क्योंकि देश का कोई ही ऐसा साहित्य प्रेमी होगा जिसने मुंशी प्रेमचंद की कहानियों तथा उपन्यासों का रसास्वादन न किया हो। ऐसे में रूपांतरकार को बहुत ही सतर्कता से काम लेना पड़ता है।

चित्रा मुद्गल ने भी संभवतः इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मुंशी प्रेमचंद की इक्कीस कहानियों का चयन किया और फिर उन इक्कीस कहानियों को रेडियाई नाटकों में रूपांतरित कर पिछली सदी के एक महान कथाकार के प्रति अपना दायित्व निभाया। जो तीन जिल्दों *में बूढ़ी काकी, सद्गति* तथा *पंच-परमेश्वर* शीर्षक देकर प्रकाशित किया गया है। इनमें 'बालक', 'सुभागी', 'बूढ़ी काकी', 'नैराश्य', 'बेटों वाली विधवा', 'सुहाग की साड़ी', 'कजाकी', 'गुल्ली डंडा', 'जुलूस', 'विध्वंस', 'यह मेरी मातृभूमि है', 'सवा सेर गेहूँ', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'घासवाली', 'मंत्र', 'पंच-परमेश्वर', 'हिंसा परमोधर्मः', 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'राजा हरदौल' तथा 'समर-यात्रा' शामिल हैं। कहा तो यही जाता है कि प्रेमचंद की समस्त कहानियाँ मानसरोवर श्रृंखला की आठ जिल्दों में दर्ज हैं मगर चित्रा मुद्गल द्वारा किए गए नाट्य रूपांतर पढ़ने के बाद इस धारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता जान पड़ती है। इन इक्कीस रेडियाई नाट्य रूपांतरों के लिए इस्तेमाल की गई बीस कहानियाँ तो मानसरोवर सीरीज में उपलब्ध हैं मगर इक्कीसवीं कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' इस सीरीज में उपलब्ध नहीं है। फिर साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित *मुंशी प्रेमचंद चयनिका* में भी यह कहानी शामिल नहीं है। हाँ वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित *मुंशी प्रेमचंद समग्र* में यह कहानी अवश्य संकलित है। इससे यह बात तो स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि चित्रा मुद्गल ने कहानियों का चयन करते समय प्रेमचंद की यहाँ-वहाँ बिखरी समस्त कहानियों को पैनी दृष्टि से देखने का कार्य किया है।

नाट्य रूपांतर करने से पहले की प्रक्रिया, चयन प्रक्रिया का बहुत अधिक महत्त्व होता है। यदि मूल कहानी में नाटकीय तत्त्व मौजूद हैं तो रूपांतर में सहजता तथा मौलिकता की गति को बल मिलता है और सुनने या पढ़ने वाले को कहीं कुछ भी अटपटा महसूस नहीं होता। चयन प्रक्रिया कहीं-न-कहीं रूपांतरकार का रूझान, उसकी अंतर्दृष्टि तथा उसका उद्देश्य दर्शाने में भी सहायक सिद्ध होती है। चित्रा मुद्गल ने अपनी चयन प्रक्रिया में यह ख़ास ख़याल रखा है कि प्रेमचंद साहित्य की विशेषता की झलक उसमें महसूस की जा सके। ऐसा केवल चयन प्रक्रिया में ही नहीं नाट्य रूपांतरों में भी स्पष्ट नज़र आता है।

मुंशी प्रेमचंद की कहानियों को चित्रा मुद्गल द्वारा किए गए नाट्य रूपांतरों में बिना फेर-बदल के पढ़ा जा सकता है। मगर क्या ऐसा करने से ही किसी रूपांतरकार का दायित्व पूरा हो जाता है या रूपांतरकार को कुछ और भी बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है। मुझे लगता है कुछ और बातें भी हैं जिनके महत्त्व को कम करके नहीं देखा जा सकता। किसी रचना की रूह के साथ कोई छेड़खानी न की जाए यह बात तो समझ में आती है मगर मुझे लगता है इससे भी कहीं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस रूह पर जो लिबास पहनाया जाए वह रूह को कुछ इस क़दर अपना-सा, इतना स्वाभाविक तथा सहज लगे कि उसमें निखार आ जाए। मगर कई बार ऐसा नहीं हो पाता और रूह पहनाए गए लिबास के भीतर छटपटाकर, दबकर रह जाती है। 'बेटों वाली विधवा' के साथ कुछ-कुछ ऐसा ही हुआ-सा लगता है। यह रूपांतर मूल कहानी तो बयान करता है मगर कहानी की मार्मिकता सिरे से ग़ायब नज़र आती है। मूल कहानी का ताना-बाना मार्मिक है और कहानी की मुख्य किरदार फूलमती से सहानुभूति पैदा करता है। बेटों की कुटिलता तथा नीचता, फूलमती का स्वाभिमान तथा विवशता बड़ी बारीकी से उजागर की गई हैं। जबकि नाट्य रूपांतर में फूलमती ख़ास सहानुभूति नहीं बटोर पाती। सपाट बयानी में वेदना तथा कहानी का वास्तविक मर्म कहीं छूट-सा गया लगता है। मूल कहानी में उमा जब माँ से गहने ऐंठने की साज़िश में अपने दूसरे भाइयों को शामिल करना चाहता है तो कामतानाथ और सीतानाथ अलग बैठने की बात करते हैं जबकि दयानाथ उसका साथ देने की बात कहता है। मगर नाट्य रूपांतर में दया भी अलग बैठने की बात करता है। उदाहरणार्थ, यह संवाद देखिए :

कामतानाथ : (तटस्थ स्वर में) मैं अनीती में हाथ नहीं डालना चाहता।

उमानाथ : तो आप अलग बैठिए। दया, तुम और सीता का क्या विचार है?

दोनों : (समवेत) हम भी अलग रहेंगे।

इस बात को यदि अनदेखा भी कर दिया जाए, तब भी रूपांतर पढ़ते हुए फूलमती की मासूमियत, भोलापन तथा उसके बेटों की नीचता उस तरह से उजागर नहीं हो पाई है जैसी मूल कहानी में हो पाई है। इसी तरह एक और मार्मिक कहानी है 'विध्वंस'। सामंती युग की क्रूरता की झलक को इस कहानी में बड़ी ही सहजता से अंकित किया गया है। कहानीकार ने इसमें नीयति या यूँ कहें कि विधि विधान का सहारा भी लिया हुआ है। सद्गति में शामिल इस रूपांतर में चित्रा मुद्गल ने पूरी निष्ठा से कहानी का निर्वाह करने की कोशिश की है परंतु आरंभ में ही पृष्ठ 37 पर भुनगी कहती है, "ला दे अपना अनाज बेचनवा" और फिर "अनाज को भूनने वाली हंडिया में उलटने का स्वर" हमें पढ़ने को मिलता है। और पृष्ठ 39 पर फिर भुनगी कहती है।..."बेचनवा, तू दे अपनी टोकनी। कब से बैठा भुन्ना रहा।"

रेडियो आवाज़ का माध्यम है। हम आवाज़ के साथ-साथ दृश्य रचना करते हुए उसके साथ-साथ चलते हैं। अनाज को भूनने वाली हंडिया

में उलटने की आवाज़ से हम जान जाते हैं कि बेचनवा का अनाज भूना जा रहा है परंतु जब दो पृष्ठ बाद फिर हमें ऐसा ही संवाद सुनने या पढ़ने को मिलता है जिसका अर्थ यह निकलता है कि बेचनवा अभी भी अनाज लेकर बैठा अपनी बारी का इंतज़ार कर रहा है। ऐसी ही एक और कहानी है 'घासवाली'। यह कहानी हृदय परिवर्तन, मान-सम्मान तथा मानवीय रिश्तों की जीती जागती तसवीर है। बाज़ारी रिश्तों को भी इसमें सुंदरता से उकेरा गया है। मूलतः नारी शोषण के सवालों से जूझती यह कहानी अपने अंदर सामाजिक असमानता, ऊँच-नीच और आर्थिक असमानता जैसे कई सवालों को साथ लेकर चलती है। कहानी की बुनावट जितनी मार्मिक तथा विश्लेषणात्मक है, नाट्य रूपांतर उतना ही सपाट, फिर भी कहानी के मूल तथ्य का निर्वाह करता हुआ। स्वतंत्रता संग्राम में गांधी जी के योगदान और उनकी अहिंसात्मक धारणा को केंद्र में रखकर लिखी गई 'जुलूस' कहानी अपने अंत तक पहुँचते-पहुँचते इतनी मार्मिक हो जाती है कि पाठक एकदम भाव-विभोर हो उठता है। यह सब इतना सहज तथा स्वाभाविक है कि कुछ भी गढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। चित्रा जी ने भी प्रेमचंद की कहानी के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है। यह बात अलग है कि रेडियो के माध्यम की सीमाओं का निर्वाह करने की चेष्टा ने नाट्य रूपांतर के अंत को कहानी जितना प्रभावपूर्ण नहीं रहने दिया।

"सुहाग की साड़ी" का रूपांतर भी सहजता और सरलता से हो पाया है जिससे रूपांतरकारा की रेडियो माध्यम पर अच्छी पकड़ का भी परिचय हमें मिलता है। देश प्रेम के रंग में रँगी यह कहानी विदेशी और स्वदेशी को आधार बनाकर लिखी गई है। मुंशी प्रेमचंद की अधिकतर कहानियों की भाँति इस कहानी में भी पात्रों के बीच जीवंत संवाद योजना का निर्वाह किया गया है जिसके रहते नाट्य रूपांतरकार को संवाद रचना में अतिरिक्त मेहनत नहीं करनी पड़ती। वास्तव में जो संवाद रचना कहानी में उपस्थित है उसका कोई पर्याय हो ही नहीं सकता। इस कहानी का नाट्य रूपांतर भी सहज ही मन को छू लेता है।

'बूढ़ी काकी' के साथ उनका व्यवहार तथा सहानुभूति अच्छी तरह उजागर हो सके हैं। यदि थोड़े शब्दों में कहा जाए तो इस कहानी के नाट्य रूपांतर में भी कहानी जैसी सरलता तथा सहजता मौजूद है जो एक सुखद अहसास करवाता है। वृद्धावस्था में मनुष्य का स्वभाव एकदम बच्चों जैसा निर्मल-निष्कपट हो जाता है जो एक ही पल में डाँट खाने के उपरांत प्यार से पुचकारने पर हँसने-खेलने लगता है। 'बूढ़ी काकी' के चरित्र चित्रण में भी ऐसी ही बाल बुद्धि के दर्शन होते हैं जो कहानी तथा नाट्य रूपांतर दोनों में अपने वास्तविक अर्थों में विद्यमान है। एक प्रकार से देखा जाए तो चित्रा जी ने अपनी ओर से नाट्य रूपांतरों को बनाने-सँवारने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है जिसमें अधिकतर उनको सफलता ही मिली है। पिछली सदी के महान कथाकार, जिसने पूरे कथा जगत को प्रभावित किया हो, उसकी छाया से उभर पाना और ख़ासकर उसी की कथाओं पर काम करते हुए तो क़तई संभव नहीं है। चित्रा जी भी पूरी तरह से ऐसा नहीं कर पाई हैं। संभवत इसी कारण उनकी रचनाशीलता ने भी एक सीमा अख़्तियार कर ली लगती है। परंतु जिन स्थानों पर रूपांतरकारा ने स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाशीलता की छटा बिखेरने की कोशिश की है वहाँ-वहाँ मूल ढाँचे में और निखार आया है। इस पर ज़्यादा बात न करते हुए अंत में मैं दो ऐसी कहानियों का ज़िक्र करना चाहता हूँ जिन पर न सिर्फ़ चित्रा जी ने बल्कि पहले भी कई लोगों ने अपनी-अपनी तरह से काम किया है। इनमें 'पंच-परमेश्वर' प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी की मार्फ़त

पद की ज़िम्मेदारियों का जिस सहजता से अहसास करवाया गया है उसका कोई जवाब नहीं। जुम्मन और अलगू की बचपन की दोस्ती भी इस बात के आड़े नहीं आ सकती। यह कहानी अपने आप में भरपूर नाटकीय तत्त्व समेटे हुए है। संभवतः इसी कारण इसका नाट्य-रूपांतर देश की कई अन्य भाषाओं में भी हुआ और मंचित किया गया। डोगरी भाषा भी उनमें से एक है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व पूरण सिंह पूरण ने इसी शीर्षक से इसका डोगरी भाषा में नाट्य रूपांतर किया जो कई बार सफलता से मंचित किया गया। हालाँकि इस कहानी का फलक छोटी अवधि के रेडियो रूपांतरण में समा पाना आसान नहीं है मगर चित्रा मुद्गल ने इस प्रयास में सफलता पाई है। दूसरी कहानी है 'हिंसा परमो धर्मा:'। धार्मिक आधार पर सांप्रदायिकता भड़काने और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का जो चलन शहरी सभ्य समझे जाने वाले समाज में व्यापक रूप से विद्यमान है उसकी बारीकी से परतें खोलती है यह कहानी। जो आज के समय में और ज़्यादा सार्थक दिखाई देती है। आज भी कितने ही भोले-भाले इंसान-दोस्त, इन षड्यंत्रकारियों का शिकार हो रहे हैं और देश दोज़ख़ बनता जा रहा है। बहुत ही मार्मिक तथा रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानी है। चित्रा जी ने कहानी के साथ पूरा इंसाफ किया है। इसी कहानी को लेकर सफ़दर हाशमी ने भी एक नुक्कड़ नाटक लिखा है जो *चौक-चौक पर गली-गली में* भाग एक में संकलित है। माध्यम अलग होने से रूपांतर में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। मगर सफ़दर ने कहानी की केवल रूह को पकड़ा है और उस पर समसामयिक परिस्थितियों के अनुसार कुछ बदलाव भी किए हैं। चित्रा जी ने ऐसा नहीं किया है। माध्यम की सीमाओं के चलते उसमें नुक्कड़ नाटक शैली में बदलाव कर पाना संभव भी नहीं था। फिर भी चित्रा जी ने इसमें सफलता पाई है।

हर माध्यम की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं तो सीमाएँ भी होती हैं, कुछ मर्यादाएँ भी होती हैं, जिनका पालन करना कठिन पर अनिवार्य होता है। रेडियो जैसे माध्यम की भी कुछ सीमाएँ हैं, कुछ मर्यादाएँ हैं। सीमाओं तथा मर्यादाओं का पालन करना एक कठिन कार्य है और चित्रा जी ने इस कठिन कार्य को सफलता से पूरा करने का साहस किया है जिसके लिए वह बधाई की पात्र हैं।

चर्चित पुस्तकें :
सद्गति; बूढ़ी काकी; पंच-परमेश्वर : चित्रा मुद्गल; राजपाल एंड संस, दिल्ली; 2005; प्रत्येक 100 रुपए

साहित्य अकादेमी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित, कवि-नाटककार मोहन सिंह का जन्म 8 फ़रवरी 1955 में हुआ। कविताओं और नाटकों, नुक्कड़-नाटकों की ग्यारह किताबें छप चुकी हैं। पिछले छत्तीस सालों से रंगमंच के साथ बतौर अभिनेता, निर्देशक और नाटककार सक्रिय हैं। संपर्क : 124-डोगरा हाल, जम्मू-180001

गीता शर्मा

महाबली के सामने

हाल के वर्षों में जिन युवा लेखकों ने अपने लेखन से ध्यान खींचा है उनमें वीर भारत तलवार भी एक हैं। संयोगवश इनमें से अधिकांश लेखक व्यापक तौर पर मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित अथवा प्रतिबद्ध हैं। साथ ही इनमें से ज़्यादातर लेखक मार्क्सवाद में आस्था रखने वाले

विभिन्न राजनीतिक और साहित्यिक-सांस्कृतिक जन-संगठनों से भी जुड़े हुए हैं। इन संगठनों के मार्क्सवाद विषयक अलग-अलग रुझानों की विभिन्न छटाएँ भी इनके लेखन में दिखाई देती हैं। वीर भारत तलवार भी इसके अपवाद नहीं हैं। इन युवा लेखकों से तलवार जी इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि उनकी चिंताएँ और उनका लेखन केवल साहित्य के दायरे तक सीमित नहीं है। वे आलोचना के अलावा शोध एवं अनुसंधान के क्षेत्र में भी अत्यंत सक्रिय दिखते हैं। इसीलिए अपने समकालीन युवा लेखकों के बीच उनकी छवि एक परिश्रमी और अध्ययनशील लेखक की उभरती है।

वीर भारत तलवार के साहस की दाद देनी चाहिए कि उन्होंने अपने शोध और अध्ययन का मुख्य विषय डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन को बनाया है। यह अनायास ही नहीं है कि समीक्षित पुस्तक *सामना* का उपशीर्षक रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध है। इस पुस्तक के तीन सौ पंद्रह पृष्ठों में से लगभग एक तिहाई पृष्ठ डॉ. रामविलास शर्मा पर ही केंद्रित हैं। अन्य निबंधों में भी, फिर वह चाहे 'हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि' हो या 'प्रेमचंद की जीवनी का सवाल' अथवा 'प्रेमचंद-शरतचंद्र विवाद', गाहे-बगाहे राम विलास जी को याद किया गया है। पुस्तक में 'रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद' शीर्षक से चार लेखों की लेखमाला के अलावा 'हिंदी नवजागरण : अध्ययन की समस्याएँ' शीर्षक लेख डॉ. शर्मा पर केंद्रित हैं। उपर्युक्त चार लेखों की श्रृंखला में तलवार जी ने डॉ. शर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* की 99 पृष्ठों में विस्तृत समालोचना की है, जबकि दूसरे लेख में रामविलास जी की हिंदी नवजागरण संबंधी अवधारणा का विवेचन किया है।

पुस्तक का दूसरा बड़ा निबंध निर्मल वर्मा पर है, जिसमें 61 पृष्ठों में उनकी कहानियों के सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र पर विचार किया गया है। इसी क्रम में हरिशंकर परसाई और चेखव की कहानियों पर भी दो अच्छे निबंध हैं। इस पुस्तक में एक लेख 'सन् साठ के बाद की कहानियाँ' भी है जो संभवतः तलवार जी के एकदम आरंभिक आलोचनात्मक लेखों में से एक है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे हमें तलवार जी के विवेचनात्मक गद्य के अलावा उनके ललित गद्य का आस्वाद भी मिलता है। 'चुनार के क़िले से' शीर्षक यात्रा-वृत्तांत से तलवार जी की पर्यवेक्षण शक्ति, अभिव्यक्ति-क्षमता और सर्जनात्मक प्रतिभा का भली-भाँति परिचय मिलता है। इसी तरह उत्पल दत्त की मृत्यु पर उनका स्मरण तथा यशपाल और उत्पल दत्त से साक्षात्कार इस संग्रह की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। संग्रह को और विविधता प्रदान करने के लिए ही मानो उत्तराखंड में क़ुली बेगार प्रथा विषयक शोधकार्य की समीक्षा तथा अकादमिक संस्थानों में हिंदी बुद्धिजीवियों की भूमिका की पड़ताल और नारीवादी आंदोलन के बारे में दो संक्षिप्त निबंधों को शामिल किया गया है। इस तरह तलवार जी का यह संग्रह उनके लेखन की विविधताओं से साक्षात्कार कराने वाला उनका प्रतिनिधि संग्रह कहा जा सकता है। कहना न होगा कि इस पुस्तक से वीर भारत तलवार की क्षमताएँ और सीमाएँ तथा उनकी शक्ति और कमज़ोरियों के एक साथ दर्शन होते हैं।

प्रेमचंद के साहित्य पर सबसे महत्त्वपूर्ण किताब डॉ. रामविलास शर्मा की *प्रेमचंद और उनका युग* तथा अमृतराय की लिखी प्रेमचंद की जीवनी *क़लम का सिपाही* है। तलवार जी ने ठीक लिखा है कि ''यह हिंदी साहित्य में लिखी गई पहली महत्त्वपूर्ण जीवनी थी। इससे

पहले हिंदी साहित्य में इतने व्यवस्थित ढंग से कोई जीवनी नहीं लिखी गई।...अमृतराय ने प्रेमचंद की जीवनी लिखकर एक नए ढंग की परंपरा की नींव डाली। अच्छी और मज़बूत नींव।'' (पृ. 200) लेकिन गोयनका अमृतराय लिखित इस जीवनी की कटु आलोचना करते हैं : ''गोयनका ने अपने लेख में जीवनी लेखन के सवाल पर विचार करते हुए इसे एक सृजनात्मक विधा के रूप में नहीं देखा। वे इसमें एक तथ्य संग्रहकर्ता का सुख—नए तथ्यों को खोज निकालने का सुख देखते हैं, रचनाकार का नहीं। वे जीवनी को तथ्यों का संग्रह समझते हैं और तथ्य को ही 'सबसे बड़ा ऐतिहासिक सत्य' समझते हैं। *क़लम का सिपाही* की उनकी आलोचना इसी तथ्यवादी दृष्टि से है।'' (पृ. 201)

वीर भारत तलवार के अनुसार रामविलास शर्मा ने ''पूँजीवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति से भिन्न, इन दोनों के बीच की नई जनवादी क्रांति पर विचार किया है। उन्होंने लिखा कि नई जनवादी क्रांति वह क्रांति है जो मज़दूरों और किसानों के सहयोग से मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में होती है और पूँजीवादी क्रांति के सामंत विरोधी अधूरे कामों को पूरा करती है; पूँजीवाद का नाश नहीं करती, उसका नियंत्रण करती है और बिना ख़ून-ख़राबे के समाजवादी क्रांति में शांतिपूर्ण संक्रमण के लिए रास्ता तैयार करती है।'' (पृ. 98) रूस की 1917 की क्रांति ऐसी ही क्रांति थी।

डॉ. शर्मा की आलोचना करते हुए तलवार जी लिखते हैं कि उनमें ''इतिहास के किसी भी दौर में नई जनवादी क्रांति और नए जनतंत्र को दिखाने का तर्कहीन हठ छिपा हुआ है। इस हठ के अनुरूप ही उनकी विवेचन-पद्धति भी है।'' (पृ. 121) तलवार जी की आलोचना के लिए आलोचना करने वाली कुतर्कपूर्ण तर्क-शैली समझनी हो तो अगले ही पैरे की यह शुरुआत देखिए : ''थोड़ा ठहरा जाए। इस आलोचना को छोड़कर एक दूसरे ढंग से सोचा जाए। मुमकिन है कि रामविलास जी एक ज़्यादा गहरी बात करना चाह रहे हों जिसे हमने अभी तक समझने की कोशिश नहीं की। शायद वे यह मौलिक बात कहना चाहते हैं कि यूरोपीय इतिहास में पूँजीवादी क्रांतियों के बाद वस्तुगत परिस्थितियाँ ऐसी रहीं कि उनमें समाजवादी क्रांति का नहीं, नई जनवादी क्रांति का सिद्धांत पेश करना चाहिए था।'' (पृ. 121) अगले ही पैरे में वे यह और भी विचित्र सवाल करते हैं कि ''अगर रामविलास जी सचमुच यही बात कहना चाहते हैं तो एक मौलिक बात है। इतिहास के प्रति एक नया दृष्टिकोण है। लेकिन, तब इस बात को उन्होंने इतना घुमा-फिराकर क्यों कहा?'' (पृ. 122) दरअसल, सीधी और साफ़ बातों को घुमा-फिराकर उलझाने का काम तो अपनी इस लेख शृंखला में वीर भारत तलवार ने ही किया है, जो न तो 'विचारोत्तेजक' है और न ही 'उबाऊ', किंतु ख़ासा दिलचस्प और कहीं-कहीं तो मनोरंजक भी है।

निर्मल वर्मा की कहानियों के सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र पर अत्यंत परिश्रमपूर्वक लिखे गए 61 पृष्ठों के सुदीर्घ लेख में तलवार जी ने उनके विविध पहलुओं का सटीक परिचय दिया है। उनके मतानुसार ''निर्मल की कहानियों का अनूठापन मुख्यतः तीन बातों में है—काव्यात्मक भाषा, चमत्कारपूर्ण कल्पना और रहस्यात्मकता। यही तीन मुख्य विशेषताएँ हैं जो उन्हें नई कहानी के दूसरे सभी कहानीकारों से और शायद हिंदी की पूरी कथा-परंपरा से अलग करती हैं। कुछ दूसरी विशेषताएँ भी हैं, जैसे बारीक अनुभूति-शीलता और बिंबों में उसकी अभिव्यक्ति, अत्यधिक स्मृतिशीलता, छोटी-छोटी तफ़सीलों की जीवंतता, सूक्ष्म निरीक्षण-वृत्ति और ख़ास

क़िस्म का वातावरण इत्यादि।'' (पृ. 125) तलवार जी मानते हैं कि काव्यात्मक भाषा से कहानी में चमत्कार और रहस्यात्मकता बढ़ती है और कहानी की दुनिया छोटी हो जाती है। जिस तरह वे काव्यात्मक भाषा को कहानी के लिए उचित नहीं मानते उसी तरह वे निर्मल की कहानियों में चामत्कारिक कल्पना को भाव और अर्थ ग्रहण में बाधक मानते हैं। वे लिखते हैं कि ''निर्मल की कहानियों का एक तत्त्व स्मृतिशीलता भी है जो उनके कला-दर्शन का बुनियादी तत्त्व है।'' (पृ. 137)

निर्मल वर्मा यदि 'नई कहानी' धारा के एक छोर पर हैं तो परसाई जी उसके दूसरे छोर पर ही नहीं हैं बल्कि भाषा, भाव, विचार और भंगिमा से लेकर विषयवस्तु तक निर्मल की एक तरह से 'एंटी थीसिस' हैं। तलवार जी के अनुसार, ''हरिशंकर परसाई के साहित्य में दो धाराएँ घुल-मिल गई हैं—नई कहानी की धारा और पुराने प्रगतिशील साहित्य आंदोलन की धारा।'' (पृ. 185)

परसाई जी की संवेदनशीलता को 'मुक्तिबोध के बहुत नज़दीक' मानते हुए तलवार जी लिखते हैं कि ''परसाई की व्यंग्य रचनाओं में फ़ैंटेसी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह परसाई की कला है। अकाल उत्सव इस कला की श्रेष्ठ उपलब्धि है। इसमें फ़ैंटेसी की वही भूमिका है जो मुक्तिबोध की कविताओं में है।'' (पृ 193) तलवार जी के अनुसार ''व्यक्ति की ही नहीं, पूरे युग की मनोवृत्ति को भी परसाई ने पकड़ने की कोशिश की है।'' और उनकी श्रेष्ठ रचनाओं से ''वैसी ही मार्मिक करुणा कौंध जाती है जैसी चार्ली चैपलिन की फ़िल्मों में अनुभव होती है।'' परसाई जी पर प्रशंसात्मक होते हुए भी यह लेख उतना अच्छा नहीं बन पाया है, जैसे कि आलोचनात्मक होते हुए भी हजारी प्रसाद द्विवेदी और निर्मल वर्मा वाले लेख। इसकी एक वजह शायद यह भी है कि तलवार जी व्यंग्य के वास्तविक मर्म को भली-भाँति समझ नहीं पाते। संभवतः इसीलिए वे ऐसी दुविधा के भी शिकार हो जाते हैं कि ''परसाई हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—इसमें कोई शक नहीं। क्या वे एक महान लेखक भी हैं?'' यह दुविधा तब और बढ़ जाती है जब तलवार अपनी राजनीतिक लाइन से अलग पड़ने वाली परसाई जी की राजनीतिक दृष्टि से परहेज़ व्यक्त करते हुए कम्युनिस्ट पार्टियों पर छींटाकशी करने लगते हैं। ऐसा लगता है कि मार्क्सवादी लेखकों पर लिखते समय तलवार जी के अपने पूर्वाग्रह मुखर हो उठते हैं, जो उनके लेखन को क्षति पहुँचाते हैं और स्वयं उन्हीं की सीमाएँ उजागर करने लगते हैं। इसके विपरीत, उनकी प्रतिभा तब अधिक प्रस्फुटित होती है जब वे ग़ैर-मार्क्सवादी अथवा मार्क्सवाद विरोधी लेखकों के विरुद्ध अपनी क़लम उठाते हैं। लेकिन वीर भारत तलवार की क्षमताओं और प्रतिभा का सर्वाधिक प्रस्फुटन शायद वहीं दिखाई देता है जहाँ वे एक रचनाकार की तरह ललित गद्य लिखते हैं। उन्हें ऐसे सर्जनात्मक प्रयासों को जारी रखना चाहिए।

चर्चित पुस्तक :
सामना (रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध) : वीर भारत तलवार; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 350 रुपए

गीता शर्मा के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, फ़ोन : 22611495

ज्योतिष जोशी

कला और कविता का भावपक्ष

सुपरिचित हिंदी कवि विजेंद्र का नवीनतम काव्य संकलन है— *आधी रात के रंग,* जिसमें कविताओं के साथ-साथ चित्रकृतियाँ भी मुद्रित हैं। इस संग्रह की एक विशेषता यह भी है कि यह पुस्तक अंग्रेज़ी में भी अनूदित हैं; शीर्षक है *मिड नाइट कलर्स*। संग्रह में शामिल कविताएँ विजेंद्र की परिचित पहचान से अलग आस्वाद देती हैं। इनमें प्रकृति, परंपरा, मिथक, कल्पना और जीवन के गहरे पलों का साक्षात्कार तो है ही; स्मृति में रच-बसकर अपने को पाने की गहरी उत्कटता भी है। कवि विजेंद्र एक चित्रकार के रूप में भी प्रभावित करते हैं। जो लोग उन्हें एक कवि के रूप में ही जानते हैं, उन्हें उनकी यह नई पहचान अवश्य विस्मित करेगी और वे यह पाएँगे कि कवि विजेंद्र चित्रकार विजेंद्र के साथ कितना पूर्ण लग रहे हैं। विजेंद्र कहते भी हैं, ''चित्र मेरे लिए सदा कविता के पूरक रहे हैं। कवि-कर्म के लंबे दौर में चित्रकला कभी मुझसे दूर नहीं रही। सचमुच जैसा मुझे लगता है, कविता मेरा जीवन है और चित्र कर्म उस जीवन को जीने की रंगमयी प्रक्रिया। कविता की तरह ही मन के किसी अंतरंग कोने में चित्र भी कौंधते हैं। कविता से थककर रंगों की दुनिया में कुछ देर ठहरना मुझे सदा प्रेरित करता है। उस क्षण भी लगता है कि कविता रंगों और संरचना में मुखर है।''

कविता और चित्रकला के अंतःसंबंध को दर्शाता कवि विजेंद्र का यह वक्तव्य दोनों कला रूपों की परस्पर पूरकता को द्योतित करता है। पर क्या चित्रकला कविता का पूरक ही है, कविता चित्रकला की प्रेरणा नहीं? मुझे लगता है कि विजेंद्र ने अपने वक्तव्य से चित्रकला को कविता का पूरक बताकर अपने चित्रकार के साथ न्याय नहीं किया है। कम-से-कम इस संग्रह में प्रकाशित चित्रकृतियाँ इस तथ्य का खंडन करती हैं। कहना चाहिए कि इस संग्रह में शामिल कविताएँ चित्रकृतियों से प्रेरित हैं; इसीलिए विजेंद्र की जानी-पहचानी प्रतिबद्धता कविताओं में नहीं दिखाई देती। इसका आशय यह नहीं है कि ये कविताएँ प्रभावित नहीं करतीं वरन् यह है कि चित्रकृतियों की प्रेरणा से इन कविताओं में कल्पना, प्रकृति, अनुभूति और स्वप्न की ऐसी अविरल धारा प्रवाहित होती है कि पाठक चित्रों के अक्सों में ही खो-सा जाता है। यह विजेंद्र के चित्रकार की बड़ी सफलता है। संग्रह की चौबीस कविताएँ इतने ही चित्रों में डूब-सी गई हैं, उतरा गए हैं रंग; जो अपनी लयात्मक बिंबात्मकता से दर्शकों के अंतर्जगत को विचलित करते हैं और कविताएँ चित्रों की बहुस्तरीयता को खोलने का पाथेय बनती हैं। 'कवि' शीर्षक कविता में विजेंद्र कहते भी हैं : *जो कुछ कविता में छूटता है / मैंने चाहा कि उसे / रंग, बुनावट, रेखाओं और दृश्य बिंबों में / रच सकूँ / धरती उर्वर है / हवा उसकी गंध को धारण कर / मेरे लिए वरदान!*

'कवि' की आकृति मौन से संवाद करती है। धूसर जलरंग में सृजित कवि की दृष्टि बिखरे पृष्ठों पर टिकी है; क्या उसे कोई कविता बाँध सकती है? क्या उस मौन को कविता के शब्दों से जाना जा सकता है? गहन अनुभूति को शब्दों की अभिव्यक्ति अनुमान में ले जा सकती है; इसीलिए मैंने उसे पाथेय कहा। 'कवि' कविता पर कवि की चित्रकृति अधिक व्यंजक और अर्थसघन ठहरती है। 'रंगों की स्वायत्तता' कृति चित्रकार विजेंद्र की समझ और रंगों की विशेषज्ञता

को पुष्ट करती है। रंगों के प्रयोग से चित्रकार ने प्रकृति को उसकी समूची रंगमयता में उतार दिया है जिसमें एक लय है और समरसता का सुखद अहसास भी। इस कृति से संबद्ध कविता में विजेंद्र ठीक ही लिखते हैं : *रंग, रंग, रंग...ओह / रंगों की अनंतता / वे जैसे जीवित आकृतियाँ हैं / हमारे चतुर्दिक संसार की / उसके नाम, धाम और दिशाएँ / वे मुझे लुभाते हैं / जैसे संगीत के मुखर स्वर।*

संग्रह की शीर्षक कविता में विजेंद्र ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है : *ये आधी रात के रंग / एक साथ मिलकर / नीरवता तोड़ते हैं / वे रात के ढुलकते बालों को / काढ़ रहे हैं।*

'आधी रात के रंग' कविता को रंगों में विन्यस्त करते विजेंद्र ने अमूर्तता में भी भावमयता और रंगीय तुलिकाघातों में भी गहरी अर्थमयता संभव की है। काले रंगों की पट्टी के भीतर फूटते बैंगनी और इंद्रधनुषी कौंध से एक संगीत की लय-सी उभरती है, सन्नाटा टूटता है। अँधियारे के भीतर प्रकाश की कौंध रात को भेदती है, उसमें एक आसरे की जगह बनाती है। अपनी इसी कविता में विजेंद्र 'रात की नीरवता तोड़ना' कहते हैं और 'रात के ढुलकते बालों का काढ़ना' देखते हैं। इस कृति में ग़ज़ब की सफ़ाई है जिसमें रंगों की भाषा दर्शक से संवाद करती है; कहना न होगा कि यहाँ भी कविता ही कृति से प्रेरित लगती है।

इस संग्रह की कविताएँ अलग मिज़ाज के कवि के रूप में विजेंद्र को स्थापित करती हैं; इसलिए कि कविताओं की सर्जना कृतियों की व्याख्या के लिए हुई लगती है। कहने का भाव यह नहीं है कि इन कविताओं की अर्थवत्ता नहीं है, पर लगता यह है कि कृतियों की व्याख्या के कारण अधिकांश कविताओं का मिज़ाज बदल-सा गया है। चित्र और कविता का अंतर्संबंध तो है, होना भी चाहिए पर एक-दूसरे का पूरक बनाना या मानना उनके साथ ज़्यादती करना है। कविताओं को चित्रकृतियों से अलग देखा जाए तो वे प्रभावित करती हैं। पर जैसे ही उन्हें कृतियों के शीर्षकों से समझने की कोशिश होती है, वे कृतियों के गहरे विस्तार में खो-सी जाती हैं। कई स्थलों पर तो वे कृतियों के बड़े विस्तार को संकुचित करती भी प्रतीत होती हैं। वैसे यह बड़ा सुखद है कि विजेंद्र की कविताओं का एक नया संसार इस माध्यम से प्रकट हुआ है जिसमें प्रेम, प्रतीक्षा, आशा, जिज्ञासा, प्रकृति और चिंतन जैसे गहरे मानवीय भाव दृश्य पर आते हैं और वे पाठकों को नए आस्वाद से चकित भी करते हैं।

'शिल्पी' में विजेंद्र अपने कवि को जगाते हैं और शिल्पकार को संबोधित करते हुए कहते हैं : *तुम्हारे हर तरफ़ अँधेरा है / लेकिन तुम ऊबड़-खाबड़ पत्थरों में / मानवीय सौंदर्य तराशने / और उकेरने में लगे हो। / मुझे उम्मीद है—/ तुम उनकी भी मूर्तियाँ गढ़ोगे / जो देश को बहुत कुछ देकर / बेपहचान—/ हमें छोड़कर चले गए।*

विजेंद्र का यह संग्रह कला और कविता के अंतरंग को पहचानने के लिहाज़ से प्रभावित करता है जिसमें कला का पक्ष कविता के मुक़ाबले अधिक भावमय है और विस्तृत भी।

इसी शृंखला में विकि आर्य की कविताओं का संग्रह भी द्रष्टव्य है जो स्वयं एक चित्रकार भी हैं। संकलन का शीर्षक है कैनवस। एक चित्रकार की दृष्टि से दुनिया और जीवन को देखने की कोशिश में लिखी गई ये कविताएँ एक ही शृंखला की कविताएँ हैं। इनमें एक कल्पना है, विचारों में बहती आकांक्षा है और एक भावुक उम्मीद भी; जो जीवन को अपनी तरह से समझने की कोशिश है :

जिन्हें है चाँद की परछाइयाँ प्यारी / बेशक वे सब लोग / झीलों में बदल जाएँ। / मुझे अपनी

बेचैनी, / अपनी तड़प बहुत प्यारी है / यही, हाँ यही तो / मेरे सागर होने की निशानी है।

कवयित्री विकि के पास जीवन के अनुभवों की जो पूँजी है, उसमें किसी बड़े विमर्श की गुंजाइश नहीं है। जीवन को देखने की इस दृष्टि में भावुकता अधिक है जिसे व्यक्त करने की शिल्प-कुशलता भी अभी कवयित्री को अर्जित करना है। कविता में भावना की तरलता, संबंधों की आत्मीयता और प्रेम की आकांक्षा की मधुर स्मृतियों के कारण यह कविता श्रृंखला छूती तो है, पर टिकती नहीं :

वही बेबसी / आठों पहर / यही मजबूरी / दोनों तरफ़ / मैं तट हूँ / तू है सागर लहर / छूकर लौट जाती है। / तू ठहर नहीं सकती / और मैं बाँध नहीं सकता।

श्रृंखला की कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद और रोमन में रूपांतरण भी हुआ है जिससे अहिंदी भाषी पाठक भी कविताओं को समझ सकते हैं।

चर्चित पुस्तकें :

आधी रात के रंग : विजेंद्र; कृति ओर प्रकाशन, सी-133, वैशाली नगर, जयपुर 302021; 495 रुपए

कैनवस : विकि आर्य; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; 2006; 250 रुपए

उपन्यास, आलोचना पुस्तक के रचयिता ज्योतिष जोशी का जन्म 1965 में हुआ। संपर्क : डी-4/37, एम.आई.जी., सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली 110085

यशवंत व्यास

यथासमय ही

शरद जोशी के ज्ञानपीठ वाले *यथासंभव* के बाद *यथासमय* को पढ़ने का सुख ठीक वैसा ही है जैसे किसी 'आए दिन बहार के' को अचानक स्क्रीन पर देखकर पुरानी स्मृतियों के पुरसुकून झोंके को महसूस करना। शरद जोशी नामक देह अब इस दुनिया में नहीं है। लेकिन उन्होंने जो लिखा था, वह *यथासमय* अभी भी यथार्थ ही है। शुरुआती पन्नों में ही लिखा है : "आज से कुछ साल पहले अपराधी सिकुड़कर बैठता था। अब वह चौड़ा होकर बैठता है। उसका किसी से कोई ताल्लुक़ या सरोकार नहीं रहा। जैसे अपराध एक निजी जीवन-दर्शन हो। जब हम देखते हैं कि दस अपराध करने के बाद भी नेता टी.वी. के सामने न केवल मुस्कुराता है बल्कि देश के मामलों में सीना चौड़ा कर बयान देता है, तो हम समझ नहीं पाते कि बेशर्मी का दायरा कितना है। इतने वर्षों तक हर क्षेत्र में ऐसी सीमाएँ फैलाने के अलावा हमने किया क्या है?"

व्यंग्य की भाषा जिन बिंबों से बनती है, उन्हें कुछ महारथी सायास बनाते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें एक बिंब पकड़ में आ जाए तो ऐसा रगड़कर रख दें कि बिंब का डिंब की सर्वदा के लिए नष्ट हो जाए। शरद जोशी की भाषा सादी है, सहज है, सरल है, इसीलिए आज भी बिंब की बाँबी बनाने में व्यस्त लोगों के लिए चुनौती है।

मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों तथा महानगर की त्रासदियों के बीच मानवमूल्यों की बात करना तमाम साहित्यकारों में एक फ़ैशन है। शरद जोशी ने इस फ़ैशन शो के आयोजकों की तबीअत हरी करने का काम किया है। इसलिए, 'बगदाद का नसीहत-फ़रोश' और 'क्रिकेट विशेषांकों का भविष्य'—दोनों उनसे छूट नहीं सके। शरद जोशी की अधिकांश रचनाओं में एक विशिष्ट कथातत्त्व होता था। उसमें सहज

निबंध का प्रवाह भी होता था, चरित्रों की रंगत भी। इस संग्रह में 'अपनी-अपनी क़ैद' नाटक भी है और 'अंधायुग क्रिकेट का' भी! संग्रह की रचनाएँ एक बार फिर याद दिलाती हैं कि छाती कूटने और संवेदना जगाने में अंतर है। जो लोग शब्दों की बाज़ीगरी को छाती कूट की तरह करते हुए व्यंग्य लेखन के प्रतिमान स्थापित करने के इच्छुक हों उन्हें सावधानी बतौर शरद जोशी को पढ़ लेना चाहिए। प्रसंगवश हरिशंकर परसाई, मनोहर श्याम जोशी और श्रीलाल शुक्ल का ज़िक्र आए बिना शरद जोशी के लेखन की चर्चा पूरी नहीं होती, वजह यह है कि आज़ादी के बाद जो व्यंग्यधर्मी लेखन था उसके लिए विधा और शैली का बड़ा आलोचना-युद्ध चला। उसमें परसाई के लिए 'लक्ष्य-प्रधान' और जोशी के लिए 'शब्द-प्रधान' मुहावरों से आक्रमण-प्रत्याक्रमण किए जाते थे। लेकिन कितना दिलचस्प है कि आलोचनाओं को शून्य करती हुई पाठकीयता ने परसाई की लोकप्रियता तथा शरद जोशी की सर्वप्रियता में कोई भेद नहीं किया। दोनों का स्वाद अपनी जगह था। हमारे अग्रज व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी इसीलिए पूछते हैं, "हमने हलुआ बनाया है तो उसके बारे में बताइए, पुलाव ऐसा होना चाहिए जैसा कहने का क्या मतलब है?"

शरद जोशी अपने रचे वाक्यों को सूक्तियों में बदलने की बजाय उनसे संवाद की संगीन रचना करते हैं। " 'अ' अणु का" में एक पंक्ति है : "अणु विस्फोट से राष्ट्रीय स्वाभिमान में कई मेगाटन वृद्धि हुई है।...शक्ति एक्सपोर्ट आइटम है। शक्ति एक्सपोर्ट कर हम बदले में उनसे चावल, घासलेट आदि ले सकते हैं, जिसकी इस देश को सदैव आवश्यकता है और रहेगी...।"

यह वही भाव है जो अपने समय की प्राथमिकताओं तथा सामाजिक दायित्वों से उपजी बेचैनी को व्यक्त करता है। इसके लिए अलग से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शरद जोशी की विचारधारा क्या है?

'मैं प्रतीक्षा में हूँ' के तहत शरद कहते हैं, "तीस साल से मैं देख रहा हूँ। हिंदी के लेखक ने कर्म और धर्म को परिभाषित करने के लिए कितने आंदोलन आरंभ किए। नई, सहज, अ, या सचेतन कहानी। गाँव, क़सबे, शहर की कहानी। युवा कहानी, ऐसी ही धाराएँ, कविताएँ। लगता है एक चिड़िया उड़ गई जो हाथ नहीं आ रही है। आदमी साबुन की बट्टी की तरह बार-बार हमारे हाथ से फिसल रहा है। साहित्य जो सदा से आम आदमी पर, आम आदमी का और आदमी के लिए होता था वह आम आदमी से एकाएक अपरिचित हो गया है और बहस कर रहा है कि आम आदमी क्या है? जैसे लेखक एक विशेष; विशिष्ट जंतु है और उसे आम आदमी को समझना है। जैसे हम एक सुसभ्य गाँव हैं और आम आदमी जंगल का जानवर है।"

ये पंक्तियाँ साहित्य और समाज के सरोकारों की पड़ताल के लिए काफ़ी हैं। बाक़ी जो विषय हैं जैसे 'सड़क और गड्ढे', 'वह चश्मा कहाँ है', 'धर्म से डॉलर तक' या 'रहा किनारे बैठ'— सभी शरद जोशी को चिर-परिचित गुदगुदाती और मार करती शैली को बार-बार याद दिलाते हैं। कई सुपठित और उनके मुँह से ही सुनी हुई रचनाएँ भी इस संग्रह में हैं। हर लिहाज़ से इन्हें एक जगह इकट्ठा करके प्रकाशक ने भला काम किया है। शरद-पाठकों के संग्रह में इसे होना चाहिए।

चर्चित पुस्तक :
यथासमय : शरद जोशी; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2005; 190 रुपए

यशवंत व्यास के आलोचनात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 204-ए, पैरेडाइज़ गार्डन, ए-25, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-4, मो. 9829060664

पंकज चौधरी

पूरा हँसता चेहरा

समकालीन हिंदी कविता की जो युवा कविता है वह कई दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। यह कविता सबसे पहले हिंदी कविता की सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष और सरोकार की जो महान परंपरा है उसको अपनी पूर्ववर्ती-पीढ़ियों के मुक़ाबले कहीं बहुत जल्दी आत्मसात् करती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह हो सकता है कि इस कविता को रचनेवाले जो कवि हैं वे निम्न मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आते हैं और जो निश्चित रूप से उनके संघर्ष को दोगुना-तिगुना बढ़ा देता है। और इस प्रकार यदि हम यह कहें कि यही वह संघर्ष है जो समकालीन हिंदी कविता में प्रामाणिकता और विश्वसनीयता जैसे तत्त्वों को ला रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस कविता की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रकृति सौंदर्य के प्रति भी उतनी ही आकर्षक और सजग है जितना सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष और सरोकार के प्रति। निराला, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के बाद की हिंदी कविता को देखें तो उसमें जीवन-संघर्ष के सामने प्रकृति सौंदर्य लगभग गौण है। और ऐसा अनायास हुआ है—इस तरह का दावा भी हम नहीं कर सकते। कम-से-कम हिंदी कविता के परफ़ेक्शन के लिहाज से तो यह ठीक नहीं ही कहा जा सकता।

रमेश प्रजापति की कविता पुस्तक *पूरा हँसता चेहरा* की शीर्षक कविता तो है ही साथ ही संग्रह की यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कविता भी है। इस कविता के माध्यम से कवि अपने समय, समाज और व्यक्ति की 'खंडित', 'आधे-अधूरे' मनःस्थितियों के विडंबनात्मक बिंब उपस्थित करते हैं : *मुँह अँधेरे तोड़ते हैं / पार्कों के मौन को / हमारे बुज़ुर्गों के ज़बर्दस्ती लगाए / हँसी के ठहाके। या पत्नी की हँसी में / चमकता है महीने भर का / घर का बजट। या बच्चों की हँसी चाट गई किताबें।* इसके बावजूद बग़ैर किसी चीज़ की परवाह किए कवि जब हँसने की नाकाम कोशिश करता है तो उसका हश्र इस तरह होता है : *मैंने / एक बार की / हँसने की नाकाम कोशिश / कि तभी / गिरा आकर / मेरी अधूरी कविता पर / चिड़िया का नीला पंख।*

रमेश अपने समय और समाज की एक से एक भयावह तसवीर को पेश करते हैं। उनकी यह तसवीर तब और भयावह हो जाती है जब वह अपने पीछे की सच्चाई के साथ प्रकट होती है। रमेश की कविताओं में राजनीतिक प्रयोग भी यहीं देखने को मिलते हैं : *नहीं चाहिए मुझे / बाजरे के दाने / जिसके उगाने में पसीना नहीं / बल्कि मिला हो कमज़ोर हड्डियों का फास्फोरस / या नहीं चाहिए मुझे / नफ़रत की आँच पर गर्म किया दूध / लाशों से लबालब नदियाँ / घृणा से भरा पड़ोसी / बच्चों के बिना सूनी गलियाँ / लहू से सने मंज़र या नहीं चाहिए मुझे ऐसी दीवार / जो उठती है / आँगन के साथ-साथ हमारे दिलों में भी / वे सूखी-भूखी अंतड़ियाँ / जो खेलती हैं रोज़ मौत के साथ आँखमिचौली / या नहीं चाहिए मुझे उधार की वो हँसी / जिसे माँग सकते हो तुम / कभी भी सूद सहित।*

रमेश प्रजापति की कविताओं से ज़ाहिर होता है कि वह एक अत्यंत जागरूक और संवेदनशील कवि हैं। कवि की नज़र बाबरी मस्जिद का विध्वंस हो या सुदूर मालवा, उखीमठ गाँव में प्रकृति का भद्दा मज़ाक़, सभी पर रहती है। वे देखते हैं कि हरेक परिस्थिति में यहाँ मानवता

की ही बली चढ़ाई जाती है। बचपन, किताबों और भविष्य को जलाया जाता है। और माँ के स्तनों को रौंदा जाता है। इसके साथ-साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इन कविताओं से यह भी ज़ाहिर होता है कि इन स्थितियों-परिस्थितियों के लिए जो व्यवस्था ज़िम्मेदार है उसके साथ-साथ एक और भी व्यवस्था ज़िम्मेदार है और वह व्यवस्था कोई और नहीं बल्कि सात समुंदर पार की व्यवंस्था है। *जिनके गुलदस्ते में / खिले हैं सैकड़ों फूल / उनकी होती है हमारे / दो चार फूलों के ख़िलाफ़ साज़िश / सात समुंदर पार से।*

जहाँ तक रमेश की प्रकृति सौंदर्य से संबंधित कविताओं का सवाल है तो ऐसा लगता है कि वे प्रकृति की हरेक गतिविधि पर नज़र रखे हुए हैं। और जहाँ कहीं उनका सहज मन उल्लसित होता है, वह उसको कविताओं की माला में पिरोकर सामने रख देते हैं : *ये परिंदे पंखों में भरकर बादलों को / छोड़ जाते हैं सूखे खेतों पर / महक उठती है धरती पर / सपनों की हरी-भरी फ़सल।* यहीं प्रकृति के महत्त्व का भी पता चलता है। यह प्रकृति हमें कैसे-कैसे गुलज़ार करती रहती है; रमेश की कविताएँ बड़ी ख़ूबसूरती से उसको अभिव्यक्त करती है। रमेश के कवि की काव्यात्मक कल्पना और कौशल का भी यहाँ पता चलता है : *ये परिंदे / दबोचकर सूरज को अपनी चोंच में / खींच लाते हैं समुद्र की कोख से / और / टाँक देते हैं / आसमान के मस्तक पर तिलक-सा।* रमेश की कविताओं में फूल, परिंदे, सूरज, चाँद, पेड़, नदी, आकाश, झील बार-बार आते हैं। और जब वे प्रकृति के इन प्रतीकों का विभिन्न जीवन संदर्भों में प्रयोग करते हैं तब तो उसकी काव्यात्मक कुशलता और चमत्कृत करती है। इस तरह का प्रयोग विरले कवियों के यहाँ ही देखा जाता है। जीवन में जब ख़ुशी या सुंदरता का आगमन होता है तब प्रकृति-सौंदर्य के ये प्रतीक इस तरह चमक उठते हैं या चरितार्थ होते हैं : *खिल उठता है जब / कांस के फूलों का जंगल / लौट आती हैं ढेरों / रंग-बिरंगी चिड़ियाँ / या बड़े ख़ुशनुमा होते हैं वे फूल / खिलते हैं जो कभी-कभी / बूढ़ी आँखों के वीरान पड़े जंगल में। या खुलती है जब आँगन में / बाज़ार से आई बापू की पोटली / खिल उठते हैं फूल से चेहरे।*

यह प्रकृति जब हमारे लिए इतने महत्त्व की है। हमें तरह-तरह से धन-धान्य और समृद्ध करती है। हमारे चारों ओर सुख-सौंदर्य की चादर बिछाती रहती है तब कवि भी उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना नहीं भूलता : *फिर जाऊँगा मैं / सबसे मिलने / पहाड़ों के उन रास्तों से / जिनसे आते हैं मौसम / बादलों को लगाऊँगा गले / सहलाऊँगा उन जगहों को / जहाँ गुज़ारे थे हमने / हँसते हुए कुछ पल।* यह अकारण नहीं है कि इन कविताओं के संदर्भ में सुप्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी संग्रह के फ़्लैप पर लिखते हुए कहते हैं, "रमेश प्रकृति सौंदर्य और जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। जीवन की सहज उत्सवधर्मिता की समझ उनमें है। वास्तविक मानवीय सुख-सौंदर्य जीवन में अनायास मिलता है, उसे ख़रीदा नहीं जा सकता। वह सामान्य दृश्यों और जीवन-स्थितियों में बिखरा रहता है। कविता का काम उनको पहचानना और उनकी अभिव्यक्ति है। रमेश प्रजापति अपनी क्षमता के अनुसार ऐसा ही कर रहे हैं। वे प्रकृति और जीवन के चित्रों को समन्वित करके एक रागात्मक लय में बाँध सकते हैं, और यह असल बात है।"

इसके अलावा भी रमेश विभिन्न जीवन-संदर्भों से संबंधित तमाम विषयों पर कविताएँ लिखते हैं जो हमको कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिला देती हैं या प्रभावित करती रहती हैं। उदाहरण के लिए 'पिता के बाद', 'दुख',

'गिरना', 'पेड़', 'दौड़ते हैं हम', 'बरखा', 'माँ', 'बहन', 'कौआ और साँप', 'गाँव की शाम' जैसी कविताएँ लिखते हैं। मतलब कवि रमेश के लिए कोई भी विषय वर्जित नहीं है। और यही वह चीज़ है जो कवि के रेंज (विविधता) का पता देती है साथ ही उसके परफ़ेक्शन का भी। भाषा और शिल्प के दृष्टिकोण से रमेश की कविताएँ स्वभाव से प्रयोगशील हैं। कुछ बिंबों और प्रतीकों के प्रयोग से कविताओं की चित्रात्मकता देखते ही बनती है। लेकिन प्रूफ़ की बेशुमार ग़लतियाँ भी मन में खटकती हैं।

चर्चित कविता संग्रह :

पूरा हँसता चेहरा : रमेश प्रजापति; शिल्पायन, 10295, लेन नं.-1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली; 125 रुपए

पंकज चौधरी के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : द्वारा हनुमान प्रसाद वर्मा, डब्ल्यू बी-134 बी, शकरपुर, दिल्ली-110092

क्षितिज शर्मा

आतंक के विरुद्ध मानवीय प्रयास

पर्वतीय जन-जीवन में बाघ आतंक का प्रतीक है। जंगल वहाँ जीवन का पोषक है तो उसका विनाश संकटों का वाहक भी है। जंगली जानवरों में बाघ सबसे चालाक है। मानव बस्तियों के आस-पास छोटी झाड़ियों और छोटे जंगलों के कारण उसका सहज प्रवेश पालतू पशुओं के लिए तो हमेशा ख़तरा बना ही रहता है, उसके आदमख़ोर होने का डर भी कम नहीं होता। विद्यासागर नौटियाल का ताज़ा उपन्यास *झुंड से बिछुड़ा* पर्वतीय जीवन में बाघ के आतंक के बहाने वहाँ की जटिलताओं, जिजीविषाओं और उनको जीतने के अदम्य साहस को पा लेने की कथा है। विद्यासागर नौटियाल इस आतंक को प्रतीक रूप में इस्तेमाल करते हैं। बाघ भय का संकेत है, तो उसके समानांतर सरकारी व्यवस्था के पटवारी, बड़े अधिकारी, मंत्री और समाज में धन-बल के सहारे दबदबा बनाने वाले भी सामान्य जन के लिए डर के कम कारण पैदा नहीं करते।

उपन्यास के केंद्र में एक गाँव है। जैसा कि पहाड़ी गाँवों की संरचना होती है, वहाँ विकट पहाड़ हैं, उनके बीच अँधेरा है। जंगल है। सीढ़ीनुमा खेत हैं। स्थानीय परंपराओं, भौगोलिक जटिलताओं के कारण एक कठोर जीवन शैली और उसी से तय होते विश्वासों तथा आत्म-विश्वासों से जीवन संचालित हो रहा है। बीच-बीच में उपन्यास स्थानीय इतिहास की पृष्ठभूमि में भी जाता है। इस जन-जीवन में किंवदंतियों, मिथकों और उनसे निर्मित एक अप्रमाणिक मौखिक इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। उनके निर्णयों और जीवन पद्धति में इनका भी अहम स्थान है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र दुश्मन है। उसे दुश्मन नाम उसकी माँ ने दिया है। क्योंकि उसके जन्म के समय ही उसके पिता का देहांत हो गया था। दुश्मन के पिता अच्छे निशानेबाज़ थे। अचूक निशाने वाले व्यक्ति का यहाँ के जीवन में बड़ा महत्त्व है। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण है। वह बाघ जैसे ख़ूँख़ार जानवरों को मार गिराता है। एक तरह से अपने समाज को भयमुक्त कराता है। पर उसका अपना जीवन हमेशा ख़तरे में रहता है। परिवार के लोग इसी ख़तरे के कारण उसके शिकारी कर्म को ज़्यादा पसंद नहीं करते। दुश्मन की माँ भी नहीं चाहती कि बड़ा होकर उसका बेटा अपने पिता की तरह शिकारी बने।

पर दुश्मन को संस्कार रूप में और अतीत के

क़िस्सों तथा पिता से जुड़े संदर्भों की बातों से शिकारी होने की ही शिक्षा मिली। अपने शिकारी कर्म की व्यावहारिक दृष्टि से उसने समझ लिया है कि बाघ का वध तो आतंक को मिटाने के तौर पर किया जाता है और हिरण आदि जानवरों का शिकार भोजन के लिए होता है। हिरण जैसे जानवरों का शिकार करने के लिए भी ध्यान रखा जाता है कि वह अपने झुंड में न हो। झुंड पर आक्रमण नहीं किया जाता। झुंड से बिछुड़े जानवर पर ही आक्रमण किया जाता है। वह सहज भी है और परंपरागत नियमों के अनुकूल भी। विद्यासागर नौटियाल इस अलिखित नियम के समानांतर व्यवस्था की उन प्रवृत्तियों को खड़ा कर देते हैं, जहाँ विरोध करने वालों की भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दे दिया जाता है। इसके लिए वे कलकत्ता के साम्यवादी आंदोलन को सामने रखते हैं। वहाँ से लौटा एक सिपाही हिम्मत सिंह अपने इस तरह के शौर्य की कहानियाँ दुश्मन को सुनाता है, तो वह अचंभित रह जाता है। शिकार के ऐसे नियम और ऐसे आदेश उसकी समझ से परे हैं। उसके लिए मनुष्य की हत्या— जिसे अपराध नहीं शौर्य और बहादुरी माना जा रहा हो, मनुष्य होने की पहचान के विपरीत है। वह पढ़ा-लिखा नहीं है, व्यवस्थागत नियमों और उन्हें बनाए रखने की सख़्तियों तथा उन्हें बदलने के विरोध से परिचित नहीं है। वह मनुष्य होने के मनुष्यता धर्म से बँधा है। उसके अवचेतन में कर्म विश्वास पुख़्ता स्थान बनाए हुए हैं। उन्हीं के तहत शिकार, वह भी जानवरों का, दो कारण से ही मान्य हो सकता है। एक अपनी और अपने समाज की रक्षा के लिए, दूसरा भोजन के लिए। ये दोनों कारण उसे उसकी भौगोलिक और आर्थिक स्थितियों ने बताए हैं। क्योंकि ये प्रकृति के नज़दीक हैं, तो मानव और मानवता विरोधी नहीं हो सकते।

गाँव का अपना भी एक व्यवस्थागत ढाँचा है। वर्ग-भेद और सरकारी तंत्र जैसी शक्तियों को इतर साधनों से वश में कर कमज़ोरों को शरणागत होने के लिए मजबूर करने के षड्यंत्र यहाँ भी हैं। पर उपन्यास का यह पक्ष अपने संरचनात्मक गठन में उतनी विश्वसनीयता नहीं ला पाता जितना मनुष्य और प्रकृति के अंतर्संबंध को व्यक्त करने में लाता है। यहाँ धनाढ्य वर्ग का व्यवहार और वार्तालाप एक कृत्रिमता लिए हुए है। आरोपित लगता है। कथा को प्रवाह देने के लिए उनकी आवश्यकता आ पड़ी, तो वार्ता और घटनाएँ मन माफ़िक़ रूप ले गए। व्यवहार और कार्यकलाप में एक कठोर, हृदयहीनता, स्वार्थपरता और मनुष्य होने के किसी भी गुण तथा भावनात्मक प्रभाव का अभाव सहज प्रवृत्ति का रूप नहीं हो सकता। उसके पीछे के ठोस और स्वीकार्य कारणों का खुलासा होना भी ज़रूरी होता है।

श्रीधर प्रसाद नाम का धनाढ्य चाहता है कि दुश्मन उसके लिए शिकार कर लाए ताकि वह अपने ही संबंधी की मृत्यु का जश्न मना सके। दुश्मन इस मनुष्यता विरोधी काम में सहयोग देने से मना कर देता है। श्रीधर प्रसाद के लिए अब ज़रूरी हो गया है कि वह दुश्मन को सबक सिखाए। वह अपने सारे संपर्कों का इस्तेमाल कर दुश्मन की बंदूक़ ज़ब्त करा देता है।

इधर गाँव पर एक नया संकट आ गया है। श्रीधर प्रसाद के घर के ठीक सामने के खेत में बाघ ने शांति नाम की वृद्धा की अकेली गाय मार दी है। बाघ का स्वभाव है कि वह शिकार को मारने के बाद छिप जाता है और रात के अँधेरे में शिकार को खाने के लिए आता है। बाघ का गाँव की सरहद में आना ही सबके लिए ख़तरा है। उसके आदमख़ोर होने का डर है। उससे मुक्ति का एक ही तरीक़ा है, उसको मार गिराना। सब जानते हैं यह काम सिर्फ़ दुश्मन कर सकता है। पर बंदूक़ के बिना दुश्मन भी

असहाय है।

अब श्रीधर प्रसाद के लिए ज़रूरी हो गया है कि वह दुश्मन की बंदूक़ वापस दिलवाने का प्रयत्न करे। दुश्मन के लिए अब भी मानवीय सरोकार अहम् है। वह सबसे पहले तो शांति की गाय के लिए पैसे दिलवाता है। फिर शुरू होता है बाघ को मारने का अभियान।

बाघ मारने का अभियान उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। सबका सुझाव है कि पुलिस की नौकरी से आए हिम्मत सिंह गोली चलाने के विशेषज्ञ हैं तो दुश्मन को उन्हें भी साथ ले लेना चाहिए। यहाँ से प्रशिक्षित और प्रकृति की चुनौतियों के अनुकूल स्वानुभव से मिली शिक्षा का अंतर सामने आता है। हिम्मत सिंह जिसने पुलिस में रहते हुए कई लोगों पर गोलियाँ चलाई हैं, शिकार के लिए बढ़िया बंदूक़, मयान, चार्ट आदि सभी कुछ चाहता है। इतने साधनों के बाद जब बाघ सामने आता है तो उसके होश उड़ जाते हैं। इसके विपरीत दुश्मन अपने अनुभवों से जानता है कि बाघ किधर से और किस समय आ सकता है। उस पर कब वार करना ठीक रहेगा। इसी अनुभव से वह बाघ को मार गिराता है। संदेश स्पष्ट है कि सबसे बड़ा साधन विवेक है जो परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने की क्षमता और साधन सुझा देता है।

चर्चित पुस्तक :
झुंड से बिछुड़ा : विद्यासागर नौटियाल; भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली; 2005; 80 रुपए

क्षितिज शर्मा के आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 100/2 ए, गांधी एक्सटेंशन, दिल्ली 110053, मो. 9873239129

बली सिंह

दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध

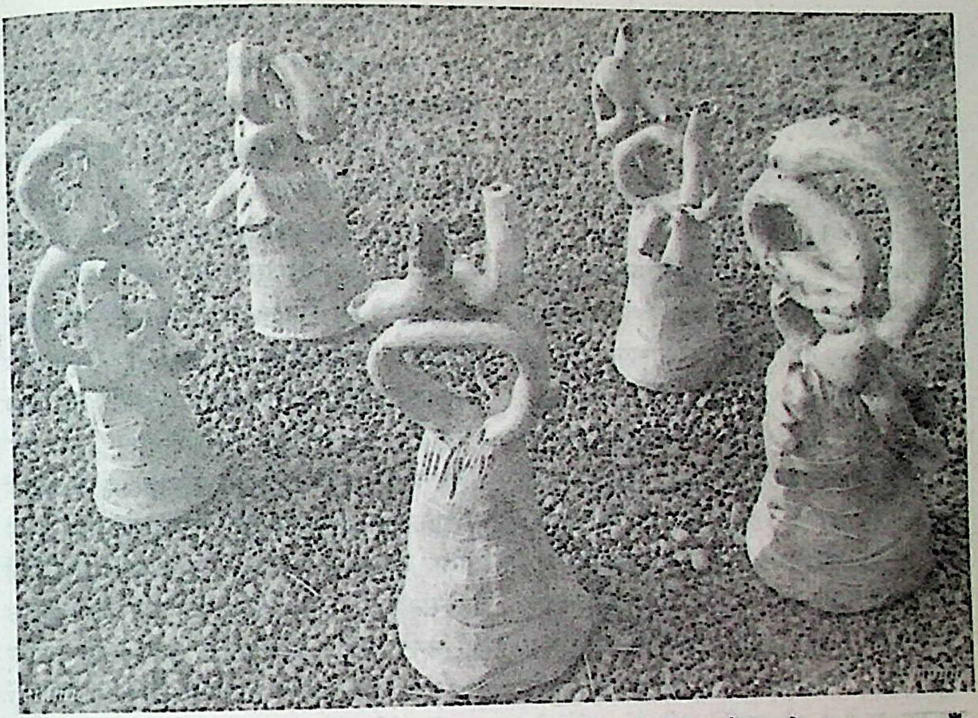
भय के विभिन्न रूप कोई काल्पनिक और अस्तित्ववादी नहीं हैं। ये उन स्थितियों से निर्मित हुए हैं जो भयप्रद हैं। यानी ये वास्तविक और ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक विसंगति से युक्त। कवि हरीशचंद्र पांडे के तीसरे कविता-संग्रह *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में दहशत एक केंद्रीय वस्तु के रूप में मौजूद है। कविताओं में भय या दहशत की अभिव्यक्ति हरीशचंद्र पांडे से पहले भी अनेक कवियों ने की है पर यह अभिव्यक्ति मुक्तिबोध, राजेश जोशी और देवी प्रसाद में असुरक्षा-बोध के रूप में हुई है वहीं मंगलेश डबराल की कविताओं में बढ़ती हिंसा की चिंता के रूप में और रघुवीर सहाय व अरुण कमल की कविताओं में बढ़ती अपराध-वृत्ति के रूप में। यह अलग बात है कि रघुवीर सहाय के यहाँ सत्ता द्वारा अपराधी या हत्यारे के संरक्षण पर बल दिया गया है (जैसे 'रामदास' कविता में) तो अरुण कमल के यहाँ अपराधी या हत्यारे ही सत्ता के अंग बने नज़र आते हैं ('हत्यारों को मिलता देखो राजपाट-सम्मान')। समकालीन कविता की भाव-परिधि का यह विकास है। इस भूमि पर यानी कविता की इस ज़मीन पर भाव-परिधि का और अधिक विकसित रूप हमें हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में देखने को मिलता है।

हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में इस बात की चिंता व्याप्त है कि क्रूरता, हिंसा और अपराध-वृत्ति को सुंदर और आकर्षक रूपों में ढाला जा रहा है। उसे सुंदर रूप प्रदान कर हमारे सौंदर्य-बोध का हिस्सा बनाए जाने की एक मुहिम-सी

जारी है। उनकी एक कविता है 'दुश्मन से छीने गए हथियारों की प्रदर्शनी'। 'साफ़-शफ़्फ़ाक़' कपड़ों पर एक से एक 'क़हर' बरपाने वाले हथियार सजाकर रखे हुए हैं। कवि महसूस कर रहा है कि *क्रूरता का भी अपना एक गुलदस्ता होता है / वर्गाकार / वृत्ताकार इतने भी मनभावक हो सकते हैं हथियार।* हथियारों को सुंदर रूप देकर हमारे सौंदर्यबोध को बदला जा रहा है। इसे आप अमानवीय कह सकते हैं लेकिन यह है तो एक तरह का सौंदर्यबोध ही। बाज़ार ऐसे सौंदर्यबोध को बढ़ावा देता है नित्य नए बदलाव लाकर। "बाज़ार में इधर बड़े बदलाव हो रहे थे जल्दी-जल्दी।" बाज़ार किसी भी चीज़ को बेचने के लिए बड़ा आकर्षक रूप दे देता है फिर चाहे वह क्रूरता हो, हिंसा हो, अपराध हो या युद्ध ही क्यों न हो। इराक़ पर अमरीका द्वारा किए गए आक्रमण को लोगों ने रात-रात भर जागकर बड़े चाव से देखा था जिसका 'सजीव' प्रसारण सी.एन.एन. ने किया था और जिसके बाद सी.एन.एन. चैनल की रेटिंग ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में उसका क़द बहुत बड़ा हो गया था। डब्ल्यू.डब्ल्यू. एफ़. यूँ ही लोकप्रिय नहीं है। बाज़ार ने हमारा सौंदर्यबोध बदला है।

कवि ने देखा है कि दहशतज़दा में एक अद्‌भुत चमक है और आकर्षक मुस्कान भी। उनकी इस कविता का शीर्षक ही है 'दहशत'। *पारे सी चमक रही है वह / मुस्कुराते होंठों के उस हल्के दबे कोर को तो देखो / जहाँ से रिस रही है दहशत।* क्रूरता की इस सत्ता या ताक़त को सुंदर दृश्य एक ही स्थिति में लगता है जब *रगों में दौड़ने के बजाय / ख़ून गलियों में दौड़ने लगता है।* कवि के अनुसार यह 'टोटे' में रहने वाली एकांगी 'आँख' है जिसे एक ही तरह के दृश्य देखना पसंद है। हरीशचंद्र पांडे की *तद्‌भव,* (अंक-14, अप्रैल 2006) में छपी कविता इस सौंदर्यबोध के एकांगीपन को उजागर करती है : *कितने टोटे में है वह आँख / जो केवल एक से ही दृश्य देखना चाहती है / दृश्यों से लबालब इस दुनिया में।* यह बात सिर्फ़ दहशत पैदा करनेवाली ताक़तों पर ही लागू नहीं होती है वरन् उन सब दृष्टियों पर भी लागू होती है जो समाज को, राष्ट्र को, देश को, विश्व को एक-जैसा रूप देना चाहती हैं। वे सब भी उतने ही एकांगीपन की शिकार हैं जितना कि क्रूर ताक़तें। ये भी एक तरह से क्रूरता से ही निर्मित सौंदर्यबोध है जिसका अपना-अपना शास्त्र है। सांप्रदायिक शक्तियों का सौंदर्यबोध भी ऐसा ही है जिसे कवि ने अपने कविता-संग्रह में जगह नहीं दी है—बावजूद इसके कि यह आज का एक बड़ा प्रश्न है।

अमानवीय सौंदर्यबोध हिंसा के लिए भी सुंदरता को ही चुनता है। इसका संकेत कवि हरीशचंद्र पांडे के तीसरे कविता-संग्रह यानी *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में तो है ही, उनके दूसरे कविता-संग्रह *एक बुरूंश कहीं खिलता है* में भी है, जिसके फ़्लैप पर श्री राजेंद्र कुमार ने लिखा है कि सुंदरता का अर्थ अपनी कोमलता में ही नहीं खुलता, भीषण क्रूरता में भी खुलता है। जब हम देखते हैं कि 'क़साई छाँटता है एक सुंदर बकरी'। क़साई एक सुंदर बकरी उसको नष्ट करने के लिए छाँटता है। यानी एक प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट करने वाली दृष्टि है यह। *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* संग्रह की कविताओं में कवि इससे आगे बढ़कर इस बात को भी रेखांकित करता है कि यह दृष्टि प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट कर एक कृत्रिम सौंदर्य का सृजन करती है। 'राजपथ के पेड़' और 'बैठक का कमरा' इसी बोध की कविताएँ हैं। राजपथ के पेड़ कहीं भी उग आनेवाले पेड़ों से एकदम अलग हैं। 'ये उत्सवों में रोपे जाते हैं'। इनके पत्ते गिरे हुए दिखाई नहीं पड़ते और 'थोड़ी-सी बढ़ गई शाख काटकर अलग कर दी जाती है तुरंत'। इन पर



लोगों का अधिकार नहीं होता—स्वाभाविक लगाव नहीं होता 'जंगल के सूफ़ी पेड़ों की तरह'। डर के मारे लोग इनके पास नहीं जाते क्योंकि ये 'भीड़ के पेड़ नहीं।' इसलिए *पैर नहीं चलते इनकी छाँह तले / पहिए चलते हैं।* यानी यह निर्मित कृत्रिम सौंदर्य न सिर्फ़ पेड़ों के स्वाभाविक विकास को नष्ट करता है वरन् लोगों के उनसे स्वाभाविक संबंध को भी ख़त्म करता है। यही नहीं, यह लोगों के प्राकृतिक अधिकारों को छीनकर उन्हें भयग्रस्त भी करता है।

'बैठक का कमरा' भी ऐसा ही निर्मित किया गया एक कृत्रिम सौंदर्य है जो 'निष्प्राण मुस्कुराहट लिए' रहता है। वह 'कमल-सा खिला हुआ' है लेकिन यह सारा सौंदर्य 'भीतर के कमरों की क़ीमत पर ही' हासिल किया गया है। लोग यहाँ अपने स्वाभाविक रूप में आने से डरते हैं। इस 'साफ़-सुथरे संभ्रांत' कमरे में उन्हें अपने सुख-दुख को अभिव्यक्त करने का भी हक़ नहीं है। उनका यह प्रकृत अधिकार भी इस बैठक के कमरे ने छीन लिया है : *जो आए, बाहर आँसू पोंछ के आए / हँसी दबा के / अदब से।* दहशत केंद्रित इस कृत्रिम अमानवीय सौंदर्यबोध में छीनने-हथियाने पर बड़ा बल है। कहीं वह सीधे ज़मीन हथिया लेता है तो कहीं साधारण लोगों का सुकून। इसके द्वारा 'हथियाई गई ज़मीन' बिना किसी प्रयास के फूलों और फलों से लद जाती है। कवि के अनुसार : *वसंत आ जाता है वसंत के पहले / ऋतुएँ सारी परवान चढ़ सकती हैं एक बाड़ के भीतर।* जब सारी ख़ुशहाली एक ही जगह केंद्रित हो तो अन्य लोगों का—ख़ासतौर से साधारण लोगों का जीवन तो अभावग्रस्त और अनिश्चितता से भरा होगा ही। काम न मिलने की अनिश्चितता और डर से 'लेबर चौराहे पर खड़े मज़दूर' रोज़ गुज़रते हैं। इसी तरह लड़कियाँ अपने कई बार 'रिजेक्ट' किए जाने से भयाक्रांत हैं। चाहे मज़ाक़ में ही सही, जैसा कि कविता में बताया गया है, लड़कियों की परस्पर बातचीत का यह एक मुख्य हिस्सा बन गया है और

मानसिकता का भी। निर्मित हुए कृत्रिम किंतु अमानवीय सौंदर्यबोध ने तरह-तरह के प्रतिमान लागू कर लड़कियों के जीवन का चैन छीन लिया है।

दहशत केंद्रित सौंदर्य को गंभीरता से न लेने वालों पर, उसको अनदेखा करने वालों पर कवि ने तीखा व्यंग्य-प्रहार किया है, क्योंकि इसने लोगों का सुख-चैन छीनकर उन्हें भयग्रस्त बना दिया है और तमाम समृद्धि को एक छोटे-से दायरे में सीमित या क़ैद कर दिया है। इसके बावजूद कुछ लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं जैसे कि कुछ घटित ही नहीं हो रहा है : *इतने निरपेक्ष विपर्यस्त और विद्रूप कभी नहीं थे हमारे बिंब / कि पृथ्वी पर हो सबसे संहारक पल का रिहर्सल / और कहा जाए। बुद्ध मुस्कुराए हैं*। यह विसंगति है। भय और दहशत भी एक विसंगति है, लेकिन ऐतिहासिक। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कथन एकदम सही है जो उन्होंने हरीशचंद्र पांडे के दूसरे कविता-संग्रह के संबंध में कहा था, "हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में आज की ऐतिहासिक विसंगति की समझ और उसकी वेदना व्यक्त हुई है।" (*जनसत्ता*, 20 जनवरी 2002) एक अन्य विसंगति की ओर कवि हरीशचंद्र पांडे ने अपने ताज़ा कविता-संग्रह यानी *भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं* में हमारा ध्यान खींचा है कि रचना यानी कविता, कहानी और यहाँ तक कि सर्वशक्तिमान शब्द भी दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध के तात्कालिक परिणामों को दूर नहीं कर सकते। वे ऐसा करने में अक्षम हैं।

कविता के संबंध में कवि आशंका व्यक्त करता है कि *जितने में छपी है कविता / क्या उतना गंदा पानी / छँटा होगा?* कहानी के संबंध में तो वे एकदम स्पष्ट हैं कि *मनोहर को कहानी भर नहीं दे पाया मैं कोई / आप किसी को अपने रचना-संसार में लाएँ / और कोई काम न दे पाएँ / कितनी लज्जा की बात है*। यही हाल शब्दों का है। तमाम कोशिशों के बावजूद 'यहाँ' शब्द आटे की चक्की के पास तक लोगों को नहीं पहुँचा पाता— *'यहाँ' में कहाँ वह कुव्वत / कि ग्राहक को ठीक-ठीक पहुँचा सके चक्की तक / माना कि बड़ी सामर्थ्य है शब्द में*। माना कि रचना में अब ताक़त नहीं बची है कि तात्कालिक परिणामों को दूर कर सके, लेकिन उसमें ऐसी शक्ति अभी भी है कि वह एक ऐसा मानवीय सौंदर्यबोध निर्मित करने की कोशिश करे जिससे कि दहशत केंद्रित अमानवीय और कृत्रिम सौंदर्यबोध का प्रतिकार हो सके।

हरीशचंद्र पांडे ने अपनी कविताओं में दृश्यों की एकांगिता का प्रतिकार करते हुए जीवन के विविध दृश्यों की सृष्टि की है। इन दृश्यों में जन-साधारण के विभिन्न रूपों, उनके दुख-दर्दों, उनके जीवन-उल्लास के साथ-साथ उनके जीवन से जुड़ी विभिन्न चीज़ों जैसे साईकिल, बस, खिलौने, झोला और पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों व नदी, झरने, बूँद आदि पानी के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं जिससे एक भरे-पूरे मानवीय सौंदर्यबोध की निर्मित्ति होती है। इस निर्मिति में जन-साधारण को और स्वस्थ मानवीय संबंधों को ख़ास महत्त्व दिया जाता है। यह महत्त्व कवि हरीशचंद्र पांडे ने अपनी कविताओं में दिया है। उन्होंने अन्य समकालीन कवियों की तरह ही जन-साधारण को अपनी कविताओं में पर्याप्त जगह दी है।

प्रगतिशील कवियों का मनुष्य जहाँ संगठित और सचेत था वहीं इधर के कवियों का मनुष्य असंगठित और अचेत है। वह असंगठित क्षेत्र से जुड़ा हुआ एक व्यापक तबका है। हरीशचंद्र पांडे के यहाँ भी यह तबका पर्याप्त मात्रा में मूर्त हुआ है जिसमें स्त्री, बच्चे, बूढ़े, दिहाड़ी मज़दूर और छोटे-मोटे कामगार हैं। उन्होंने कई कविताएँ स्त्री-जीवन पर लिखी हैं जैसे 'औरत', 'कैलेंडर पर औरत', 'साड़ी', 'पगली' इत्यादि। इन

कविताओं में स्त्री की पराधीनता का रेखांकन है। इसको दूर करने के लिए वे स्वस्थ संबंधों की माँग करते हैं : *जहाँ छोड़ दूँ मैं / तुम सिरा थाम लो / जहाँ तुम छोड़ो / मैं थाम लूँ / देखो कट जाएगा जीवन।* लेकिन अमानवीय सौंदर्यबोध भरसक ऐसा होने नहीं देना चाहता। वह तो खाई को बनाए रखना चाहता है, इसलिए वह उस 'वाक्य' को जिसका 'एक-एक शब्द गुँथा हुआ है', 'अक्षर-अक्षर' तोड़ने का 'षड्यंत्र' करता है : *क्योंकि उस वाक्य अर्थ / उस गहरी खाई को / पाटने में लगा था।* ('वाक्य का अर्थ') यानी स्वस्थ मानवीय संबंध अमानवीय, कृत्रिम और दहशत केंद्रित सौंदर्यबोध का प्रतिकार है जिसकी प्रस्तावना कवि अपनी कविताओं में करता है। यही नहीं, इसका प्रतिकार कवि अपनी कविताओं में निहित कलात्मक सौंदर्य के माध्यम से भी करता है।

हरीशचंद्र पांडे के यहाँ ऐसे विविध दृश्यों की निर्मिति है जिनमें अनेक रंग, रूप, स्वाद, आकार हैं। नदी की कल-कल ध्वनि है, चिड़ियों की चीं-चीं है और टूटती हरी घास की चर्र-चर्र है। उनके यहाँ कोई एक ही रूप, एक ही रंग, एक ही स्वाद और एक ही ध्वनि के एक-जैसे दृश्य नहीं हैं। ये दृश्यों की एकरसता, एकांगिता को तोड़ते हुए एक स्वस्थ विविधतामय सौंदर्यबोध को जगाने का प्रयास करते हैं। इसलिए हरीशचंद्र पांडे की कविताओं में सृजित दृश्यों में विभिन्न कलाओं का संश्लेष पाया जाता है—ख़ासतौर पर चित्रकला और संगीत का— *साँझ जलतरंग-सी बज रही है* ('नैनीताल')। और *अभी-अभी हुई है हवा में हल्की-सी हरकत / पत्तियाँ पत्तियों से शाखाएँ शाखाओं से / अपनी ठुड्डियाँ अपने कंधे अलगाने लगे हैं / हवा संगीत होने लगी है धीमे-धीमे / झरने तानपूरा होने लगे हैं।* ('जंगल में') विभिन्न कलाओं के इस संश्लेष से भी कवि एकांगी और कृत्रिम सौंदर्यबोध को तोड़ने का प्रयास अपनी कविताओं के ज़रिए करता है जिससे कि एक मानवीय सौंदर्यबोध विकसित किया जा सके।

चर्चित कविता-संग्रह :

भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं : हरीशचंद्र पांडे; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 90 रुपए

बली सिंह के समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 109, मनचाहत अपार्टमेंट्स, 10/42, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो. 9818877429

पल्लव

पूछो कि मुद्दआ क्या है?

हिंदी की प्रगतिशील आलोचना और मार्क्सवादी आलोचकों के बीच मैनेजर पांडेय की उपस्थिति ऐसे आलोचक के रूप में है जिन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण और परंपरा के पुनर्मूल्यांकन में अपूर्व योगदान किया है। पांडेय आलोचना-कर्म को आत्मसंघर्ष से गुज़रने की संज्ञा देते हैं और उन्हें आलोचना को रायजनी या रायजनी के विस्तार से बचाने का जो मार्ग दिखाई देता है वह सैद्धांतिक सवालों से टकराकर ही संभव लगता है। उनके संवादों में कैसी भी उलझन या ऊहापोह नहीं है, वह बेचैनी ज़रूर देखी जा सकती है जो उन्हें समकालीन रचनाशीलता के साथ हिंदी समाज की जड़ता से टकराने के लिए प्रेरित करती है। उनसे पिछले पाँच-छह सालों में लिए गए दस साक्षात्कारों का संकलन है— *मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ*

आलोचना के क्षेत्र में इधर उत्तर आधुनिकता और दूसरे क़िस्म के ऐसे विचारों का आरोपण किया जा रहा है जो यथार्थवाद को अनावश्यक मानते हैं। पांडेय ऐसे में यथार्थवाद की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए कहते हैं, "असल में यथार्थवाद रचनादृष्टि से भी एक क़दम आगे बढ़कर एक व्यापक अर्थ में दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धांत भी है। मैं राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उसकी थोड़ी चर्चा करना चाहता हूँ कि यथार्थवाद यह मानता है कि मनुष्य समाज की वास्तविकता को जान सकता है और उसमें यह भी निहित है कि वह यह जान सकता है, समझ सकता है इसीलिए उसको बदल भी सकता है। और अगर उसको बदल सकता है तो फिर इसीलिए उसका संबंध राजनीति से भी बनता है।...यथार्थवाद केवल साहित्यिक अवधारणा नहीं है वह एक राजनीतिक अवधारणा भी है। समाज को बदलने की चिंता से जो मुक्त है या समाज को बदलने की चिंता को जो ख़तरनाक मानते हैं वे ज़ाहिर है कि यथार्थवाद को भी ख़तरनाक मानेंगे और इसीलिए उत्तर-आधुनिकतावादी जो पूँजीवाद के वर्तमान को ही मानव समाज का स्थायी भविष्य मान चुके हैं, वे यथार्थवाद को हर तरह से अस्वीकार करते दिखाई देते हैं।" (पृ. 27)

ऐसे में आलोचना के दायित्व को भी पुनर्परिभाषित करते हुए पांडेय जो प्रस्थान बिंदु देते हैं वह नया नहीं है लेकिन धुँधला रहे वातावरण को साफ़ करने के लिए इसका दुहराव ज़रूरी है : "आज के समय में निर्भीक होकर सच कहना आलोचना का पहला दायित्व है। रचना और समाज दोनों के लिए सच कहने का साहस रखने वाली आलोचना ही ज़रूरी और सार्थक होगी। आज के दौर में आलोचना और आलोचनात्मक चेतना का अस्तित्व संकट में है, इसीलिए आज आलोचना के लिए यह ज़रूरी है कि वह कट्टरतावाद और भूमंडलीकरण के नाम पर फैलाए जानेवाले झूठ और भ्रमों से स्वयं लड़े और दूसरों को भी लड़ने की प्रेरणा दे। संघर्ष ही आलोचना का स्वाभाविक धर्म है।" (पृ. 66)

वैचारिक धरातल पर मार्क्सवाद के प्रति उनके भीतर कोई संशय नहीं है। श्याम आनंद को दिए गए साक्षात्कार में वे कहते हैं, "मैं एक बात और ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि समाज में जब तक किसी भी तरह का शोषण, दमन और उत्पीड़न है तब तक मार्क्सवाद के आलोचनात्मक और मुक्तिधर्मी प्रेरणाओं का महत्त्व समाप्त नहीं होगा।" (पृ. 115) लेकिन विचारधारा के प्रति पांडेय जी कोई श्रद्धाभाव नहीं रखते इसलिए वे व्यवहार में आए विचलनों को साफ़ देख पाते हैं। वे कहते हैं, "एक क्रांतिकारी विचारधारा का व्यवहार में विकृत होना ऐसी स्थिति है जो केवल मार्क्सवाद के साथ लागू नहीं हुई। इसके पहले भी अनेक मुक्तिधर्मी विचारधाराएँ व्यावहारिक रूप लेते समय अनेक कारणों से विकृत होती रही हैं और बाद के दिनों में बार-बार उन विकृतियों से मुक्त करके उनका संस्कार और सुधार करते हुए उन्हें नए रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। मैं मार्क्सवाद को भी ऐसे संस्कार और सुधार की प्रक्रिया से परे नहीं मानता।" (पृ. 113)

पांडेय जी ने अपने समकालीनों पर भी इस पुस्तक में पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। अरुण देव को दिए गए साक्षात्कार में समकालीनों ही नहीं बल्कि बीसवीं सदी की हिंदी आलोचना पर बात करते हुए उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, विजयदेव नारायण साही, मुक्तिबोध, अज्ञेय, महादेवी वर्मा, नामवर सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी के आलोचना कर्म पर विशद चर्चा की है। वहीं रामविलास शर्मा पर रौशन से की गई बातचीत में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है जो वस्तुतः पांडेय

जी की आलोचना चिंता का केंद्र भी है। यही बात इस पुस्तक के लगभग प्रत्येक साक्षात्कार से बार-बार निकलती रही है कि "आलोचना को वैचारिक होना चाहिए बल्कि सामाजिक होना चाहिए।" (पृ. 132) अर्थात् समाज की चिंता विचार की चिंता से ऊपर होनी चाहिए और इसी कसौटी पर उन्हें रामविलास जी से असहमति है। वे कहते हैं, "रामविलास जी सामाजिक विकास और इतिहास की जीवंत प्रक्रिया पर ठीक से ध्यान दिए बग़ैर अपनी कुछ मान्यताओं और धारणाओं को विकसित करते रहे हैं, किताबों के आधार पर। इससे इतिहास की गति के साथ उनके चिंतन की गति का मेल कई बार नहीं बैठता। उससे बहुत सारी परेशानियाँ पैदा होती हैं।" (पृ. 131)

आलोचना को व्यापक सभ्यता समीक्षा मानने-समझने का ही परिणाम है कि पुस्तक में वे हिंदी समाज की जड़ता, कला और धर्म जैसे विषयों पर भी विस्तार से बात करते मिलते हैं। इधर संस्कृति और धर्म के लगातार घालमेल पर उनकी स्पष्ट मान्यता किसी भी पाठक को विवेकवान बनाने के लिए उपयोगी है। वे यहाँ दोनों का भेद स्पष्ट करते हैं : "संस्कृति और धर्म में मेरे लिए बुनियादी फ़र्क़ यह है कि संस्कृति मनुष्य की रचना है और धर्म का काम ईश्वर के बिना नहीं चलता है। जबकि मेरे विचार से संस्कृति के प्रसंग में ईश्वर की कभी कोई भूमिका नहीं रही है। मनुष्य ने अगर दुनिया में कोई महत्त्वपूर्ण चीज़ रची है तो वह है संस्कृति। इसलिए संस्कृति और धर्म को हाल के दिनों में जो पर्यायवाची मानने की प्रवृत्ति है वह अत्यंत ख़तरनाक भी है और ग़लत भी।" (पृ. 146)

धर्म और नैतिकता को पर्याय कहकर सेक्यूलर मूल्यों की बहुत आलोचना की जाती है कि धर्मनिरपेक्ष होना अंततः धर्म के महान मानवीय मूल्यों के विरुद्ध जाता है। रामाज्ञा राय शशिधर को दिए इसी साक्षात्कार में पांडेय जी ऐसे कुतर्कों का बेहद स्पष्ट प्रत्याख्यान करते हैं : "जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, नैतिकता का संबंध समाज से है, सामाजिक स्थितियों से है और समाज के, मनुष्य के व्यवहार से है तथा मानवीय गुणों से है। मेरे लिए एक आदमी जो समाज में न्याय, स्वतंत्रता, सहृदयता, मनुष्यता का पक्ष लेता है वही नैतिक है। वह नहीं, जो किसी धर्म से जुड़ा हुआ है और धर्म की घोषणा करते हुए भी समाज में ईमानदारी, सच्चाई, न्यांय, स्वतंत्रता आदि के लिए न कुछ करता है बल्कि इन सब गुणों के विरुद्ध जाता है।" (पृ. 148)

अंगद तिवारी से हिंदी समाज की स्थिति पर बात करते हुए पांडेय जी ने हिंदी समाज की जड़ता के कारणों की तलाश की है। पहले तो वे वर्तमान स्थिति का खुलासा कर कहते हैं, "हिंदी समाज जिसे हम लोग कहते हैं, वह इतना जटिल समाज है कि उसमें आदिम अवस्थाएँ भी मौजूद हैं, मध्यकालीन अवस्थाएँ भी मौजूद हैं और जहाँ-तहाँ आधुनिकता के टापू भी मौजूद हैं। इसलिए यदि संपूर्ण हिंदी समाज और उसकी मानसिकता पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि यहाँ आधुनिकता आते-आते रह गई है।" (पृ. 184) इस हस्तक्षेप पर कि मध्यकालीन सामाजिक संरचना हिंदीतर समाजों में भी मौजूद है। वे उत्तर देते हैं कि "यह सही है लेकिन वहाँ विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण वह कमज़ोर पड़ गई है। वहाँ वह सबऑर्डिनेट हो गई है। वहाँ सभी चीज़ें जाति से नहीं तय होती हैं। हिंदी क्षेत्र में तो राजनीति से लेकर साहित्य तक जाति से तय होने लगा है।" (पृ. 185) इसी के साथ भारत की दूसरी खोज की ज़रूरत का खुलासा भी पांडेय करते हैं : "हिंदी कविता में भारतीय कविता की खोज, भारतीय उपन्यास की खोज, भारतीय कहानी की खोज अर्थात् भारत की दूसरी खोज की प्रवृत्ति

शुरू हो गई है। भारत की पहली खोज उपनिवेशवाद और विदेशी संघर्ष के दौरान हुई थी और उसका उद्देश्य देश की स्वाधीनता, लोकतंत्र और देश की प्रगति करना था। लेकिन अब वह उद्देश्य बदल गया है। अब भारत की अनन्यता सिद्ध करने के लिए भारतीयता की खोज होती दिखाई देती है और इस तरह की प्रवृत्ति राजनीति की ओर से विचार-विमर्श की ओर आ रही है।'' (पृ. 184)

दलित लेखन के हिंदी में जो प्रमुख आलोचक समर्थक-प्रशंसक हैं उनमें पांडेय जी सर्वोपरि हैं, वे इसका कारण दिनेश राम को दिए साक्षात्कार में स्पष्ट करते हैं : ''मैंने जब दलित साहित्य का समर्थन किया और आज भी करता हूँ तो इससे मेरी सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि उसके माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी, यातना और आज़ादी की आकांक्षा सशक्त और प्रभावशाली रूप से व्यक्त हो तथा भारतीय समाज के सामने आए।'' (पृ. 167) इससे पहले *मेरे साक्षात्कार* शृंखला की अपनी पुस्तक में पांडेय जी ने दलित साहित्य को भारतीय समाज के विकास के लिए भी आवश्यक बताया था। यहाँ दलित लेखन पर कुल तीन साक्षात्कारों में पांडेय जी ने कई मिथकों को साफ़ किया है तथा दलित लेखन के प्रति पूर्वाग्रहों को ठीक किया है।

इस पुस्तक का महत्त्व पांडेय जी के चिंतक को और व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने के साथ विभिन्न जटिल विषयों पर आत्मीय, बेबाक और स्पष्ट विचारों की स्थापना के लिए रहेगा। सच्चाई साक्षात्कार का प्राण होती है और कहना न होगा इस कसौटी पर ये साक्षात्कार पूरे खरे हैं। साक्षात्कार विधा की दृष्टि से पहला साक्षात्कार 'समय के साथ सार्थक संवाद' विशेष स्मरणीय है जहाँ अरुण प्रकाश की तैयारी और बातचीत को गहराई में ले जाने की नई प्रतिभा दिखाई देती है, अन्यथा वे पाठकों के लिए कहानीकार ही तो थे। बातचीत का रस और बारीक विश्लेषण की दृष्टि से उक्त साक्षात्कार बेहद पठनीय है। प्रस्तावना में पांडेय जी ने इन्हें साक्षात्कार की बजाय संवाद कहने का आग्रह किया है। वे कहते हैं कि जहाँ साक्षात्कार में छोटे-बड़े का भाव उसे अलोकतांत्रिक बनाता है वहीं संवाद में समानता की संभावना और संप्रेषण की कामना होती है। संक्षेप में यह पुस्तक आलोचना और व्यापक विचार से सरोकार रखनेवाले प्रत्येक पाठक के लिए अनिवार्य संदर्भ ग्रंथ है और पांडेय जी की आलोचनात्मक कृतियों की तरह इसका महत्त्व भी लंबे समय तक बना रहेगा।

चर्चित किताब :

मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ : मैनेजर पांडेय; यश पब्लिकेशंस, X/909, चाँद मोहल्ला, गांधी नगर, दिल्ली; 2006; 285 रुपए

पल्लव के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 17, ग्लास फ़ैक्ट्री, सुंदरवास, उदयपुर-313001, मो. 09414 732258

पाठांतर

आपकी पत्रिका के अंक नियमित रूप से मिल रहे हैं। इनमें निखार है। इस अंक में तेलुगु उपन्यास *भू देवता* बहुत अच्छा है।

अमरकांत, इलाहाबाद

नवंबर–दिसंबर 2006 का अंक मिला, संपादकीय बहुत अच्छा लगा। प्रेमशंकर रघुवंशी की कविता अच्छी लगी। नरेश मेहन की 'घर, पागलपन', रंजना जायसवाल की 'सच कहना, जबकि तुम', रेखा की 'बेटी आएगी, धीरे-धीरे' एवं तेजराम शर्मा की 'लाल कोट', बहुत अच्छी लगी। विभिन्न भाषाओं की अनूदित कहानी, कविताओं को पढ़कर अच्छा लगता है कि अन्य भाषाओं में भी हिंदी के अलावा अच्छा लिखा जा रहा है।

ईश्वर सक्सेना

समकालीन भारतीय साहित्य साहित्य संबंधित एक ऐसी पत्रिका है जिसमें भारतीयता तथा अनेकता में एकता का साहित्य आयाम प्रस्फुटित होता है तथा हिंदी के विकास में सभी साहित्यिक पत्रिकाओं में अव्वल दर्जा प्राप्त कर चुकी है। साहित्य प्रेमियों की जिह्वा की शक्कर है यह पत्रिका।

टी.वी. सुब्रह्मण्यम्, नंदीग्राम, आंध्र प्रदेश

आपकी पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* के अंक 130 में एक रचना पढ़ी 'ललक एक झलक की'। इसे आपने हास्य-व्यंग्य के नाम पर छापा है—लेकिन इसमें क़तई भी न हास्य है, न व्यंग्य। उर्दू के खाते में लिखे और छापे जाने वाले व्यंग्य ज़्यादातर इसी तरह निष्प्रभावी रहते हैं। इनमें हिंदी व्यंग्य की तरह न तो अपने समय की पकड़ होती है और न समकालीन व्यवस्था की समीक्षा होती है। केवल मस्ती में लिखा गया एक वृत्तांत होता है जो भाषायी तौर पर उतना लज़्ज़तदार भी नहीं होता। आपकी पत्रिका अच्छी है, कलेवर और भी अच्छा है, कमी है तो बेहतर व्यंग्य रचना छापे जाने की। आप उसे पूरा करेंगे।

आर.के. राव, भिलाई नगर

समकालीन भारतीय साहित्य का जनवरी-फ़रवरी 2007 अंक मिला। उत्कृष्ट साहित्य से दीप्त। दो सौ पृष्ठो में क्या-क्या दे दिया गया। *भू देवता* (केशव रेड्डी) उपन्यास एक महान कृति है। भारतीय कृषक जीवन की पराजय गाथा में भी जयघोष सुनाई देता है। पंच महाभूत कथानायक के पारिवारिक सदस्य हो गए हैं। चराचर, जड़चेतन इस भू देवता के कुटुंबी हैं। नायक बक्कि रेड्डी कृषक जीवन ही नहीं, राष्ट्रजीवन की अस्मिता का भी प्रतिनिधि बन गया है। इस रचना को पढ़ने के बाद किसानों के प्रति सरकारी तंत्र अपनी दृष्टि अवश्य बदलेगा। क्रूरताएँ दूर होंगी। संपादक ने यह रचना देकर हिंदी कथाकारों के समक्ष एक चुनौती भी प्रस्तुत कर दी है। हिंदी में इन दिनों इतना ऊँचा देखने को नहीं मिल रहा है।

श्रीकांत उपाध्याय, पुणे

इस बार की रचनाओं में तेलुगु के केशव रेड्डी का *भू देवता* ऐसा उपन्यास है जिसे कोई भी पढ़ेगा, अच्छा लगेगा और पूरा पढ़ेगा। वंदना देवेंद्र की कहानी 'छाया भय' भी अच्छी लगी। रामबक्ष

का 'भारतेंदु हरिश्चंद्र : इतिहास चिंता' ने अधिक प्रभावित किया। पृ. 31 पर उन्होंने कुरान शरीफ़ का हिंदी में अनुवाद किया और 'कवि वचन सुधा' में उसका विज्ञापन भी किया। पढ़ा तो याद आया कि उन्होंने कुरान शरीफ़ का तर्जुमा हिंदी में करने की कोशिश की मगर पूरा न हो सका। अंग्रेज़ों से लड़ने की बात उन्होंने कही है जिसे आगे चलकर गांधी और अन्य राष्ट्रप्रेमियों ने लड़कर भारत को आज़ाद कराया। यदि रामपुर का नवाब देश के साथ ग़द्दारी नहीं करता तो हमारा देश नब्बे साल पहले 1857 में आज़ाद हो गया होता। उनकी जन्म और मृत्यु तिथि पढ़कर नमन करता हूँ।

सपना लंबी उम्र का पल पल मरना होगा।
कम जीकर ज़्यादा जिए दुनिया में कुछ लोग।

भगवानदास ऐजाज़, बलजीत नगर, नई दिल्ली

बीच के कुछ अंतराल के बाद अंक 127 से पुनः *समकालीन भारतीय साहित्य* से जुड़ गया हूँ। तीर्थंकर विश्वास के चित्रों में नयापन है। जावेद अख़्तर का व्याख्यान अच्छा लगा। इसे पढ़ना पुनश्चर्या जैसा रहा। प्रगतिशील आंदोलन की साहित्य में युगांतरकारी भूमिका रही है। यह हाशिए पर पड़े आम आदमी के दुख-दर्द, आशा-आकांक्षा तथा उसके सपनों के साथ एकाकार होने एवं सांप्रदायिकता, नस्लवाद तथा प्रतिगामिता को पहचानने की शक्ति देता है। रेणु पर ज्योतिष जोशी का आलेख उनके रचनाकर्म को समकालीन विमर्शों के साथ देखने तथा समझने के सूत्र देता है। राजी सेठ की 'कटा हुआ कमरा', सुरेंद्र तिवारी की 'रंग अधूरे' तथा खड़कराज गिरी की 'आख़िरी ठौर' कहानियों ने प्रभावित किया। मुहम्मद अलवी के अलावा हिंदी कविता खंड में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, फूलचंद मानव तथा हेमंत कुकरेती की कविताएँ अच्छी लगीं। पारिभाषिक शब्दावली पर आपका संपादकीय रोचक है।

दिनेश कर्नाटक, रानीबाग, नैनीताल

समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 129 पाकर प्रसन्नता हुई। अंक सुदर्शन है। गेटअप और कंटेंट दोनों दृष्टियों से। संपादक मंडल को बधाई और संपादन कौशल के लिए मुक्तकंठी प्रशंसा। आमुख रचना-कर्म के प्रशिक्षण की वकालत करता है, जो बहुत जायज़ है। इस दिशा में प्रभावी कार्य योजना बनाकर कार्य करना वक़्त की ज़रूरत को पूरा करना है। यह एक सटीक पहल होगी। सरकार और स्वैच्छिक संगठन मिलकर इसे अंजाम दे सकते हैं। पत्रिका अपनी विधाओं—आलेख-कविता (राजस्थानी, पंजाबी, मराठी, उर्दू और हिंदी) कहानी (हिंदी, गुजराती एवं कन्नड) उपन्यास (तेलुगु) तथा मूल्यांकन : की स्तरीयता के लिए भी सराहनीय है। सुविख्यात कवि, समीक्षक और कथाकार प्रो. मैनेजर पांडेय का आलेख 'प्रेमचंद और बिहार' ज्ञानवर्धक है। श्री एन. श्रीधरन ने तमिल की नई कविता के विषय में अभिव्यक्ति की जटिलता पर जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है, वह भारत की अन्य भाषाओं की नई समकालीन कविता पर भी लागू होता है। श्री रामवृक्ष जी ने भारतेंदु युग में इतिहास के निर्णायक महत्त्व का उल्लेख किया है। इनकी स्थापना है कि भारतेंदु की इतिहास चिंता और चेतना उन्हें अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध ज़बर्दस्त वैचारिक आधार प्रदान करती है।'

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' वरिष्ठ और सुपरिचित रचनाकार हैं। 'मैं लुगाई...' नारी उत्पीड़न की व्यथा है। देश की दशा को मादा बिच्छू मानना आत्मघाती प्रवृत्ति का द्योतक है। अपना निजी सत्व खोकर भीड़ का हिस्सा बनना विडंबना पूर्ण है : स्यात् नियति भी हो। श्री केशव रेड्डी का

भू देवता मार्मिक है। मूल्यांकन में आठ कृतियों का परिचय और समीक्षा है। यह भाग पाठक को समसामयिक कृतियों और कृतिकारों से सुपरिचित कराता है। पत्रिका में 'लोक साहित्य' को स्थान देने से आयाम-विस्तार होगा। ऐसी मेरी मान्यता है।

डॉ. भगवान सहाय शर्मा, अंबाह, मुरैना, मध्य प्रदेश

आपका जनवरी-फ़रवरी 2007, अंक 129 मिला। आकर्षक सजावट के साथ अच्छा साहित्य। कई अंक पढ़ता हूँ—साहित्यिक पत्रिकाओं का स्तर एक चिंतनीय विषय है। जिन पत्रिकाओं का नाम बड़ा है—उनका स्तर गिरा है। इस स्थिति में आपकी पत्रिका ने अपना संतुलन सँभाल कर रखा है। धन्यवाद। एन. श्रीधरन का लेख 'अभिव्यक्ति की जटिलता और तमिल की नई कविता' अच्छा लगा। जो बात तमिल कविता की है वही अन्य सभी भाषाओं की कविता की। मानवीय अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है कविता। इस अंक की अरुण शीतांश, प्रवीण भारद्वाज, तरसेम गुजराल की कविताएँ अच्छी लगीं।

सुरेश नारायण कुसूंबीवाल, जलगाँव, महाराष्ट्र

निवेदन

1. रचना की मूल प्रति अपने पास अवश्य रखें। रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँगी। रचना के साथ टिकट लगा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें। बार-बार मना करने पर भी रचनाकार लिफ़ाफ़ा भेज देते हैं।
2. अब आप चैक द्वारा भी *समकालीन भारतीय साहित्य* के ग्राहक बन सकते हैं। दिल्ली के ग्राहक को कोई अतिरिक्त शुक्ल नहीं देना होगा। दिल्ली से बाहर के ग्राहक 25 रुपए अतिरिक्त शुल्क भेजें।
3. जिन ग्राहकों को कोई अंक प्राप्त न हो तो पत्र संपादक को न लिखकर सीधा उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001 को पत्र लिखें; आपको अंक की प्रति भेज दी जाएगी।

समाचार पंजीयन (केंद्रीय) नियम 1956 के 8वें नियम से संबंधित प्रेस और पुस्तक अधिनियम की धारा 19-डी की धारा 'बी' के अंतर्गत **समकालीन भारतीय साहित्य** नामक पत्र के स्वामित्व व अन्य बातों का ब्योरा :

प्रपत्र चतुर्थ (देखें नियम 8)

1.	प्रकाशन का स्थल	:	साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
2.	प्रकाशन की आवर्तिता	:	द्विमासिक
3.	प्रकाशन व मुद्रक का नाम	:	ए. कृष्णमूर्ति
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	सचिव, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
4.	संपादक का नाम	:	अरुण प्रकाश
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	सचिव, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001
5.	मुद्रण का स्थान	:	विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032
6.	स्वामित्व	:	साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली 110001

मैं, ए. कृष्णमूर्ति, घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

हस्ताक्षर
ए. कृष्णमूर्ति

हमारे नए प्रकाशन



बीसवीं शताब्दी में उर्दू साहित्य, संपादक : गोपी चंद नारंग,
अनुवादक : मु. याकूब आमिर

मूल्य 200 रुपए

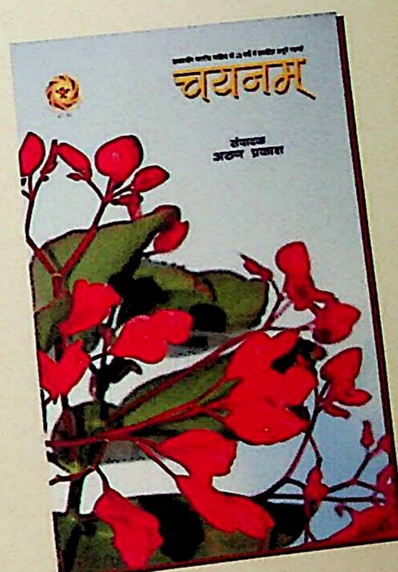
प्रस्तुत कृति उर्दू में संकलित समालोचनात्मक निबंधों के संग्रह बीसवीं सदी में उर्दू अदब का हिंदी अनुवाद है जिसका संपादन उर्दू साहित्य के प्रख्यात अध्येता, आलोचक और विचारक प्रो. गोपी चंद नारंग ने किया है। इस पुस्तक में जहाँ एक ओर बीसवीं शताब्दी में उर्दू भाषा और साहित्य की वैचारिक अवधारणाओं के उद्‌भव, विकास, प्रभाव और वर्तमान स्थिति का अध्ययन-विवेचन प्रस्तुत करनेवाले आलेख शामिल हैं, वहीं दूसरी ओर इक्कीसवीं सदी की दहलीज़ पर क़दम रखते हुए उर्दू साहित्य में उत्तर आधुनिकता की अवधारणा के कुछ उज्ज्वल आयामों को तलाश करनेवाला आलेख भी संगृहीत है।

चयनम्, संपादक : अरुण प्रकाश

मूल्य 350 रुपए

प्रस्तुत कृति अकादेमी की द्विमासिक हिंदी पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* के पिछले 25 वर्षों में प्रकाशित रचनाओं से एक चयन है। इसमें बीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में प्रभावी विभिन्न रुझानों तथा इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में उभरते प्रमुख रुझानों को देखा जा सकता है। इसमें कविता, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, साक्षात्कार तथा आलोचनात्मक लेखों के साथ-साथ एक उपन्यासिका का भी समावेश किया गया है।

आकार 6.25''×9.5''　　प्रथम संस्करण 2006
सजिल्द पृष्ठ 542



सचिव
साहित्य अकादेमी
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001
दूरभाष : 23745297, 23364207 फ़ैक्स : 091-11-23364207
ई-मेल : secy@ndb.vsnl.in वैबसाइट : http://www.sahitya-akademi.gov.in
sahityaakademisales@vsnl.net

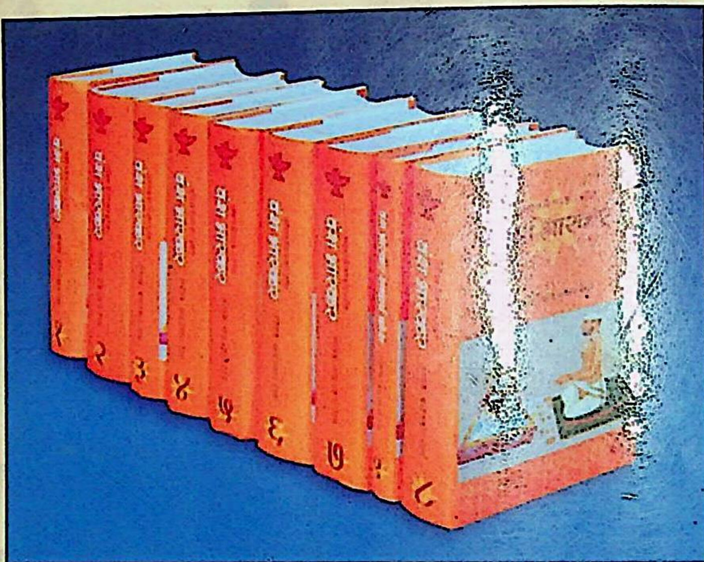
साहित्य अकादेमी द्वारा नौ खंडों में प्रकाशित

सूर्यमल्ल मीसण द्वारा प्रणीत

ऐतिहासिक महाकाव्य

वंश भास्कर

विशेष छूट डाक दर साहित मात्र 4000 रुपए प्रति सेट



वंश भास्कर जिसके पारायण से राजाओं ने राजत्व समझा, पंडित-शास्त्रियों ने नीति और शास्त्र गुना, कलावंतों ने कलाएँ जानीं, कवि-आचार्य साहित्य की परख करने में समर्थ बने और राजस्थान के इतिहास प्रणेताओं ने इसे आधार बनाकर चलने में ही अपनी सिद्धि देखी। युवा मरुवीरों ने इसमें अपने रक्त का रंग देखा, बालवृंद ने केसरिया रंग का जादू समझा तो वृद्धजनों ने इसे पढ़कर मूँछों पर अपने हाथ धरे। इस प्रकार *वंश भास्कर* काव्य और इतिहास के रूप में ही नहीं, अपितु भारतीय ज्ञान परंपरा के समृद्ध कोष और राजस्थानी सभ्यता-संस्कृति के स्मारक के रूप में प्रख्यात हुआ।

—*प्रो. आलमशाह ख़ान*

अर्थ प्रबोधनी टीका एवं संपादन

चंद्रप्रकाश देवल

ISBN : 81-260-2490-9

मूल्य प्रति सेट : 5000 रुपए

ए. कृष्णमूर्ति, सचिव द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032 से मुद्रित।

संपादक : अरुण प्रकाश

SAMAKALIN BHARATIYA SAHITYA ISSN 0970-8367/Regd. No. DELHIN/1980/1009